इकाई–1
अध्याय – 1
शस्य विज्ञान, मृदा एवं बीज
(Agronomy, Soil and Seed)

1. शस्य विज्ञान (Agronomy)

परिभाषा (Definition)

विज्ञान की वह शाखा जिसमें फसल उत्पादन व मृदा प्रबन्धन के सिद्धान्तों तथा क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है – शस्य विज्ञान कहलाती है। शस्य विज्ञान (Agronomy) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द एग्रोनोमस (AGRONOMOS) से हुई है। शब्द दो शब्दों के युग्म से बना है : एग्रोस (AGROS) + नोमोस (NOMOS)। एग्रोस का अर्थ है भूमि (Field)तथा नोमोस का अर्थ है प्रबन्धन। विज्ञान की इस शाखा में भूमि प्रबन्धन के साथ–साथ फसल उत्पादन भी आधुनिक व श्रेष्ठ विधियों का संयोजन है। अतः व्यापकता में यह कहना उचित होगा कि शस्य विज्ञान भूमि प्रबन्धन व फसलोत्पादन के सिद्धान्तों का अध्ययन करने वाली विज्ञान की महत्त्वपूर्ण शाखा है।

महत्त्व व कार्य क्षेत्र (Importance and Scope)

शस्य विज्ञान को कला, विज्ञान व व्यवसाय के रूप में जाना जाता है। कृषि सम्पूर्ण जनसंख्या के जीवन का आधार है। भारतवर्ष में जनसंख्या का एक बड़ा भाग सीधे–सीधे कृषि व्यवसाय से जुड़ा है जिसमें फसलोत्पादन प्रमुख है। कृषि विज्ञान में शस्य विज्ञान का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि खेत में उगायी जाने वाली सभी प्रकार की फसलों के उत्पादन का विज्ञान शस्य विज्ञान है।

शस्य विज्ञान में जल, वायु, भूमि एवं पौधे के वातावरण को प्रभावित करने वाले सभी कारकों का क्रमबद्ध अध्ययन एवं अनुसंधान होता है। शस्य विज्ञान द्वारा भूमि प्रबन्ध, बीज, खाद–उर्वरक, सिंचाई, खरपतवार नियंत्रण, पौध संरक्षण, आदि की फसल उत्पादन प्रयोग हेतु जानकारी मिलती हैं। शस्य विज्ञान विषय में समाहित ज्ञान व विज्ञान के माध्यम से

फसलोत्पादन को सरलता व सुगमता से सम्पादित कर अधिक से अधिक उपज ली जा सकतीहै। मानव व पशुओं की मूल आवश्यकता – खाद्यान्न, पशुचारा व वस्त्रों की आपूर्ति एक जटिल विषय है। शस्य विज्ञान सिद्धान्तों के माध्यम से फसलों की उत्पादकता में अभिवृद्धि करके इन आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है। शस्य विज्ञान एक गतिक विषय है। ज्ञान के अभ्युदय के साथ–साथ पौध, पारिस्थितिकी व कृषि क्रियाओं के विकास से फसल उपज व गुणवत्ता में वृद्धि तथा प्राकृतिक संसाधनों के प्रबन्धन ने शस्य विज्ञान को परम्परागत दायरे से बाहर निकाल कर एक नया स्वरूप प्रदान किया है। साठ के दशक में हरित क्रान्ति के सूत्रपात के बाद नई किस्मों तथा नवीन सिंचाई, उर्वरक व पौध संरक्षण प्रबन्धन का युग प्रारम्भ हुआ जिसमें शस्य विज्ञान की महती भूमिका रही। कालान्तर में जलवायु परिवर्तन व बिगड़े मृदा स्वास्थ्य के प्रसंग में फसल व मृदा प्रबन्धन में बदलाव की आवश्यकता महसूस की गई। इसी संदर्भ में शस्य विज्ञान विषय का अहम योगदान रेखांकित हुआ। शस्य विज्ञान द्वारा कर्षण, उन्नत बीज, खाद व उर्वरकों, सिंचाई व खरपतवार प्रबन्धन, फसल संरक्षण, कटाई, गहाई, भण्डारण व प्रक्रमण जैसे जटिल विषयों का समाधान कर ना केवल खाद्य सुरक्षा प्राप्त की जा सकती है अपितु अधिक उत्पादन कर आय का टिकाऊ स्रोत बनाया जा सकता है। साथ ही कृषि के माध्यम से उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति सुनिश्चितता के साथ–साथ रोजगार के अवसरों को बढ़ाया जा सकता है। अतः शस्य विज्ञान के निम्न क्षेत्र निर्धारित किये जा सकते हैं।

शस्य विज्ञान की आवश्यकता निम्न क्षेत्रों में है :–

1.कृषि उत्पादन में
2.नियोजन में
3.व्यवसाय में
4.उद्योग में।

1. कृषि उत्पादन में : फसलोत्पादन कृषि का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। किसी भी राष्ट्र की प्रगति का प्रथम सूचक है वहाँ का खाद्यान्न उत्पादन, उत्पादकता एवं खाद्य सुरक्षा। विभिन्न फसलों की खेती में शस्य क्रियाओं का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। खेत की तैयारी, उन्नत किस्मों का चुनाव, बुआई, पोषक तत्व प्रबन्धन, खरपतवार प्रबन्धन, सिंचाई प्रबन्धन, पौध संरक्षण, कटाई, गहाई व भण्डारण जैसे महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन उचित तरीके से करना शस्य विज्ञान की सीमा में आते हैं। दूसरे शब्दों में उचित शस्य प्रबन्धन ही फसलोत्पादन का आधार है। अनेकों प्रयोगों के सारांश को संजोते हुए प्रत्येक फसल की क्षेत्रवार अथवा जलवायु के अनुसार उन्नत कृषि विधियाँ (Improved package of practices) तैयार कर फसलोत्पादन को वैज्ञानिक आयाम दिया गया है। राष्ट्र की बढ़ती जनसंख्या के अनुरूप खाद्यान्न उत्पादित करके ही खाद्य सुरक्षा का लक्ष्य साधा जा सकता है। अविकसित देशों में किसान फसल जीवन निर्वाह के लिए उगाते हैं– वे अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु या भोजन के लिए अन्न प्राप्त करने के लिए खेती करते हैं। जबकि विकासशील देशों में कुछ किसान अधिकतम मुनाफे के उद्देश्य से तथा कुछ किसान जीवन निर्वाह के लिए फसल उत्पादन करते हैं।

2. नियोजन में : हमारे राष्ट्र में वर्तमान में अनेक कृषि विश्वविद्यालय कृषि शिक्षा, शोध व प्रसार में रत है। यहाँ से जिस मानव संसाधन को विकसित किया जा रहा है उन्हें अनेक प्रकार के रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं, जैसे कि –

(i) कृषि में शिक्षण, अनुसंधान या प्रसार कार्य हेतु
(ii) बैंक में कृषि सलाहकार / कृषि अधिकारी हेतु
(iii) उर्वरक कम्पनियों में जैसे इफको, कृभको आदि में शस्य विज्ञान हेतु
(iv) नींदानाशी रसायन बनाने वाली कम्पनियों में
(v) पौध वृद्धि हेतु हारमोन्स, ऑक्सीजन, या कृषि में काम आने वाले पदार्थ / रसायन बनाने वाली कम्पनियों में।

3. व्यवसाय में : एक कृषि स्नातक जिसे शस्य विज्ञान की सिद्धि प्राप्त है, कृषि जनित व्यवसाय में एक सफल व्यक्तित्व साबित हो सकता है। कृषि से जुड़े कुछ व्यवसाय जहाँ शस्य विज्ञान अहम योगदान देता है, निम्नानुसार है –

(i) एग्रो इण्डस्ट्रीज
(ii) खाद, बीज एवं कृषि दवाओं, यंत्रों आदि का व्यापार
(iii) कृषि पैदावार का लेनदेन का व्यापार

4. उद्योग में : भारत की अर्थव्यवस्था के तीन स्तम्भ हैं– कृषि, व्यापार व उद्योग। ऐसे कई उद्योग हैं जिनमें कच्चे माल की आपूर्ति कृषि उत्पादन से ही सम्भव है। अन्य शब्दों में शस्य विज्ञान ज्ञान पर आधारित फसलोत्पादन उद्योग जगत का पूरक है। ऐसे कुछ उद्योग निम्नानुसार हैं–

(अ) विभिन्न उद्योगों के लिए कच्चे माल की पूर्ति हेतु फसलें उगाकर जैसे –

(i) डेयरी उद्योग के लिए – चारे की फसलें
(ii) गुड़, शक्कर, उद्योग के लिए – गन्ना, चुकन्दर की फसलें
(iii) वस्त्र उद्योग के लिए – कपास की फसल
(iv) बीड़ी, सिगरेट उद्योग के लिए – तम्बाकू की फसल
(v) दवा उद्योग के लिए – औषधीय पौधे उगाकर
(vi) मसाला उद्योग के लिए – जीरा, धनिया, हल्दी, मिर्च, अजवायन आदि फसलें।

(ब) फसल उत्पादन में प्रयोग किये जाने वाले साधनों के लिए नये उद्योग

(i) खाद–उर्वरक उद्योग
(ii) बीज उत्पादन उद्योग
(iii) पौध संरक्षण रसायन उद्योग
(iv) पौध वृद्धि कारक रसायन उद्योग
(v) नींदानाशी रसायन उद्योग
(vi) सिंचाई के साधनों / यंत्र निर्माण उद्योग
(vii) कृषि में प्रयोग होने वाले यंत्र, औजार आदि के उद्योग

2. मृदा उर्वरता एवं उत्पादकता (Soil Fertility and Productivity)

मृदा उर्वरता (Soil Fertility)

पादप वृद्धि के लिए अनुकूल दशाओं में मृदा द्वारा आवश्यक पोषक तत्वों को प्राप्य रूप, उचित मात्रा तथा उपयुक्त सन्तुलन में प्रदान करने की क्षमता को मृदा उर्वरता कहते हैं।

उपजाऊ भूमि के लिए आवश्यक तत्वों के साथ–साथ भूमि की भौतिक दशा, जल एवं वायु का अनुपात, जीवाणुओं की क्रियाशीलता तथा उपयुक्त तापक्रम का होना भी आवश्यक है। सामान्यतया उपजाऊ मृदायें उत्पादक होनी चाहिए किन्तु यह तथ्य सभी दशाओं में सत्य नहीं है। मौसम की प्रतिकूल दशाओं जैसे कि– ओले, पाला, तूफान तथा बीमारियों आदि द्वारा फसल नष्ट हो जाए तो भूमि उपजाऊ होते हुए भी उत्पादक नहीं कहलाएगी।

मृदा उर्वरता को प्रभावित करने वाले कारक

(अ) प्राकृतिक कारक (Natural factors)

ये वे कारक हैं जो मृदा निर्माण को प्रभावित करते हैं। ये कारक निम्नलिखित हैं –

1. **पैतृक पदार्थ (Parent material) :** मृदा की उर्वरता पैतृक पदार्थ पर निर्भर करती है। यदि पैतृक पदार्थ में पौधों के पोषक तत्व अधिक हैं तो उनसे निर्मित मृदायें प्रायः उपजाऊ होती हैं। अम्लीय आग्नेय चट्टानों और बालू पत्थर के अपक्षय द्वारा बलुई मृदाओं का निर्माण होता है। इनमें क्षार की मात्रा कम पायी जाती है। इन मृदाओं की उर्वरता अपेक्षाकृत कम होती है। क्षारीय और अवसादी चट्टानों के अपक्षय से भारी मृदाओं का निर्माण होता है, जिनमें क्षार की मात्रा अधिक पायी जाती है और इन मृदाओं की उर्वरता भी अधिक होती है।
2. **स्थलाकृति (Topography) :** ढालू पहाड़ी क्षेत्रों की मृदाएँ अपक्षालन एवं मृदा क्षरण के कारण कम उपजाऊ होती हैं। निचले भागों की मृदाओं में ऊँचे स्थानों की मृदाओं के पोषक तत्व एवं कार्बनिक पदार्थ पानी के साथ बहकर एकत्रित हो जाते हैं, इसलिए ये मृदायें अधिक उपजाऊ होती हैं। इस प्रकार पहाड़ी प्रदेशों एवं अन्य ऊँचे–नीचे स्थानों की मृदा उर्वरता मैदानी एवं समतल भूमि की अपेक्षा कम होती है।
3. **मृदा आयु (Soil age) :** मृदा आयु के साथ मृदा उर्वरता में कमी आ जाती है। पुरानी मृदाओं में अधिक अपक्षय, लगातार फसलों के उगाने, मृदा क्षरण एवं अपक्षालन के कारण उनकी उर्वरता नवनिर्मित मृदाओं की अपेक्षा कम होती है।
4. **जलवायु (Climate) :** अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में अपक्षालन क्रिया द्वारा अधिकांश घुलनशील पोषक तत्व

निचले संस्तरों में चले जाते हैं, जिससे मृदा की ऊपरी सतह की उर्वरता कम हो जाती है। इसी प्रकार कम वर्षा वाले क्षेत्रों में भूमि के क्षारीय होने का भय रहता है। अधिक तापक्रम मृदा के कार्बनिक पदार्थ का विघटन शीघ्रता एवं सरलता से कर देता है, जिससे इन क्षेत्रों की मृदा उर्वरता कम हो जाती है। अधिक तेज व शुष्क वायु के कारण भी मृदा क्षरण होता है, जिससे मृदा की उपजाऊ क्षमता घट जाती है।

5. **मृदा प्रोफाइल की गहराई (Depth of soil profile) :** गहरी मृदा उथली मृदा की अपेक्षा अधिक उपजाऊ होती है। गहरी मृदाओं में पौधों की जड़ें अधिक गहराई तक जाकर अच्छी प्रकार फैल जाती हैं और अधिक मात्रा में जल व पोषक तत्व अवशोषण कर सकती हैं। उथली मृदाओं में सूखे की स्थिति में पौधे पानी की कमी महसूस करने लग जाते हैं जिससे पौधों की वृद्धि उचित रूप में नहीं हो पाती है।

6. **मृदा की भौतिक दशा (Physical condition of soil) :** मृदा की भौतिक दशा इस प्रकार होनी चाहिए कि उसमें पौधों की बढ़वार हो सके तथा वायु एवं जल संचार पर्याप्त हो। मृदा की भौतिक दशा अच्छी होने पर उसकी जल धारण क्षमता, जीवाणुओं की क्रियाशीलता तथा जीवांश पदार्थों की सड़न बढ़ जाती है एवं जड़ों का विकास अच्छा होता है। बलुई मृदाओं में रंध्राकाश (Pores) बड़े होते हैं जिससे जल के साथ पोषक तत्व बड़ी शीघ्रता से नीचे की ओर चले जाते हैं। इस कारण इन मृदाओं की उर्वरता कम हो जाती है। इसके विपरीत बारीक कणों वाली मृदाओं जैसे सिल्ट और क्ले की उर्वरता अधिक होती है।

7. **मृदा अपरदन (Soil erosion) :** मृदा कटाव से मिट्टी के साथ–साथ पौधों के आवश्यक तत्व भी बह जाते हैं, जिससे मृदा की उर्वरता कम हो जाती है।

8. **मृदा में उपस्थित पोषक तत्वों की मात्रा (Quantity of available nutrients in soil) :** यह देखा गया है कि विभिन्न प्रकार की मृदाओं में अन्तर्निहित पोषक तत्वों की मात्रा अलग–अलग होती है। कुछ मृदाओं में नाइट्रोजन की कमी पायी जाती है तो कुछ में फॉस्फोरस की। कुछ मृदाओं में किसी एक विशेष तत्व की अधिकता भी पायी जाती है। जिन मृदाओं में अन्तर्निहित तत्वों की मात्रा अधिक होती है उनकी उर्वरता भी अधिक होती है।

(ब) कृत्रिम कारक (Artificial factors)

1. **जलाक्रान्ति (Water logging) :** जब मृदा में फसल की आवश्यकता से अधिक जल का भराव होता है और इसके निकास का उचित प्रबन्ध नहीं होता है तो मृदा में वायु की कमी हो जाती है। इस स्थिति में विनाइट्रीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। परिणामस्वरूप मृदा उर्वरता में कमी हो जाती है। अधिक पानी भरने से मृदा की भौतिक दशा भी खराब हो जाती है तथा आवश्यक पोषक तत्व अपक्षालन द्वारा जड़ क्षेत्र से नीचे चले जाते हैं।

2. **फसल प्रणाली (Cropping system) :** यदि एक निश्चित भूभाग पर प्रति वर्ष एक ही फसल उगाई जाती है तो यह फसल प्रति वर्ष निश्चित तत्वों का शोषण करती रहती हैं जिसके फलस्वरूप इन तत्वों की मृदा में कमी हो जाती है व उर्वरता कम हो जाती है। सघन खेती करने से मृदा उर्वरता में शीघ्र गिरावट आ जाती है। जबकि वैज्ञानिक ढंग से फसल चक्र के अनुसार फसलें उगाने पर मृदा की उर्वरता बनी रहती है। फसल चक्र में दाल वाली फसलें उगाने से मृदा उर्वरता बढ़ती है।

3. **मृदा पी.एच. (Soil pH) :** मृदा उर्वरता एवं पौधों को पोषक तत्वों की प्राप्यता मृदा पी.एच. द्वारा प्रभावित होती है। अधिक अम्लीय मृदा में कैल्शियम और मैग्नीशियम की मात्रायें कम रहती हैं तथा लोहा, एल्यूमिनियम, मैंगनीज व तांबा की इतनी अधिकता हो जाती है कि इनका पौधों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत क्षारीय मृदाओं में कैल्शियम व मैग्नीशियम की मात्रा अधिक तथा लोहा, मैंगनीज व तांबे की प्राप्यता कम हो जाती है। इस प्रकार इन मृदाओं की उर्वरता भी कम होती है।

4. **मृदा सूक्ष्म जीव (Soil micro-organisms) :** मृदा में उपस्थित मुख्य सूक्ष्म जीव शैवाल, कवक, एक्टीनोमाइसिटीज तथा जीवाणु हैं। शैवाल में मृदा में वायु संचार को बढ़ाती है जिससे नाइट्रोजन का स्थिरीकरण होता है। कवक तथा एक्टीनोमाइसिटीज जटिल कार्बनिक पदार्थों का विच्छेदन कर ह्यूमस बनाने में सहायता करते हैं। ये मृदा में कार्बनिक पदार्थों को संचित करके मृदा उर्वरता को बनाये रखते हैं। राइजोबियम जीवाणु वायुमण्डल की नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करके पौधों को प्राप्य अवस्था में प्रदान करते हैं। इस प्रकार भूमि में सूक्ष्म जीव जितने अधिक क्रियाशील होंगे उतनी ही अधिक भूमि उपजाऊ होगी।

5. **मृदा में कार्बनिक पदार्थ की मात्रा (Organic matter content in soil) :** कार्बनिक पदार्थ सड़ने पर पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्व प्रदान करते हैं। अतः जिन मृदाओं में कार्बनिक पदार्थ की मात्रा अधिक होती है उनकी उर्वरा शक्ति भी अधिक होती है। चिकनी मृदा बलुई मृदा की अपेक्षा अधिक उपजाऊ होती है।

6. **मृदा जुताई की विधि व समय (Method and time of ploughing) :** ढालू खेतों की जुताई ढाल के लम्बवत् करने से मृदा कटाव कम होता है और पोषक तत्व पानी

के साथ बहकर खेत से बाहर नहीं जाते हैं। आवश्यकता से अधिक जुताई करना हानिकारक होता है क्योंकि अधिक ताप से कार्बनिक पदार्थ जल जाता है तथा भौतिक दशा पर कुप्रभाव पड़ता है। भूमि को उचित गहराई तक समय पर जोतने से उसकी उर्वरा शक्ति में वृद्धि होती है।

मृदा उत्पादकता (Soil Productivity)

मृदा उत्पादकता का अभिप्राय उसकी प्रति हैक्टर पैदावार देने की क्षमता से है। इसको साधारणतया रुपयों में या प्रति हैक्टर उपज के रूप में व्यक्त हैं। उत्पादन कई वृद्धि कारकों के पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर करता है। अधिकतम उत्पादन के लिए सभी कारकों का पौधों की वृद्धि के लिए उपयुक्त दशा में होना अति आवश्यक है। सभी कारकों में फसल उत्पादन के लिए मुख्य कारक मृदा है।

कोई भी उपजाऊ भूमि उत्पादक हो यह आवश्यक नहीं है लेकिन उत्पादक भूमि के लिए इसका उपजाऊ होना आवश्यक है। यदि भूमि उपजाऊ नहीं है तो वह पौधों को आवश्यक तत्व प्रदान करने में असमर्थ है। परिणामस्वरूप उपज घट जाती है और भूमि की उत्पादन क्षमता कम हो जाती है। इसके विपरीत भूमि उत्पादक न होते हुए उपजाऊ हो सकती है जैसे – भूमि पर फसल खड़ी है यह भूमि की उर्वरा शक्ति को दर्शाती है, लेकिन अगर फसल प्रतिकूल दशाओं के कारण नष्ट हो जाये तो भूमि उपजाऊ होते हुए भी उत्पादक नहीं मानी जायेगी। इसलिए भूमि की उत्पादकता का अधिक या कम होना केवल उसकी उर्वरा शक्ति पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि सभी दशाओं की अनुकूलता व प्रतिकूलता पर भी निर्भर करता है।

मृदा उत्पादकता को प्रभावित करने वाले कारक

1. **मृदा उर्वरता (Soil fertility) :** मृदा में यदि पौधों की वृद्धि के लिए सभी आवश्यक पोषक तत्व उचित मात्रा, अनुपात एवं प्राप्य अवस्था में उपस्थित होते हैं तो मृदा उपजाऊ होती है और उसकी उत्पादकता भी अधिक होती है।
2. **मृदा की भौतिक दशा (Physical status of soil) :** मृदा की उपयुक्त भौतिक दशा में पौधों की वृद्धि अच्छी होती है जिससे पैदावार अधिक होती है। मृदा की संरचना, कणाकार, जल धारण क्षमता, वायु संचार आदि मुख्य भौतिक गुण हैं।
3. **मृदा की स्थिति (Soil location) :** अन्य कारकों के समान होने पर शहर के पास वाली मृदा अधिक उत्पादक होती है क्योंकि शहर के पास होने के कारण उत्पादकों को फसल को शहर में बेचने की सुविधा मिल जाती है और अधिक मूल्य प्राप्त होता है।
4. **उत्पाद की माँग (Product demand) :** किसी वस्तु का उत्पादन समान हो और माँग बढ़ती है तो उस वस्तु का प्रति इकाई मूल्य बढ़ जाता है जिससे लाभ अधिक होगा, फलस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि होगी।
5. **यातायात के साधन (Transport facility) :** यातायात की अच्छी सुविधा होने पर उत्पादन व्यय कम होगा तथा लाभ अधिक होगा, फलस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि होगी।
6. **अन्य कारक (Other factors) :** अन्य कारक जैसे मौसम की प्रतिकूल दशा, कीट तथा बीमारियों का आक्रमण, जानवरों द्वारा फसलों को नुकसान पहुँचाना, समय पर कृषि–क्रियाएँ नहीं करना आदि मृदा की उत्पादकता को कम करते हैं।

मृदा उर्वरता एवं उत्पादकता में अन्तर

मृदा उर्वरता	मृदा उत्पादकता
1. मृदा उर्वरता का सम्बन्ध पौधों के आवश्यक पोषक तत्वों की उचित मात्रा, सही अनुपात एवं उपलब्ध कराने की क्षमता से है।	1. मृदा उत्पादकता का सम्बन्ध प्रति हैक्टर भूमि से फसल उत्पादन क्षमता से है।
2. उर्वर मृदा उत्पादक हो भी सकती है और नहीं भी।	2. उत्पादक मृदा हमेशा उर्वर होगी।
3. मृदा की भौतिक दशा, रासायनिक स्थिति, पौधों के पोषक तत्वों की मात्रा व उनका सन्तुलन मृदा उर्वरता को निर्धारित करते हैं।	3. मृदा की उर्वरता, परिवहन व्यय, उपज की माँग तथा फसल पैदा करने में व्यय मृदा उत्पादकता को निर्धारित करते हैं।
4. मृदा उर्वरता की प्रयोगशाला में जाँच की जा सकती है।	4. मृदा उत्पादकता की जाँच खेत में प्राप्त उत्पादन से कर सकते हैं प्रयोगशाला में नहीं।
5. मृदा उर्वरता मृदा उत्पादकता का एक मुख्य अंग है। उर्वरता के अन्तर्गत आर्थिक नियम, माँग, पूर्ति, उत्पादन व्यय व उपज के मूल्य का विचार नगण्य है।	5. मृदा उत्पादकता एक व्यापक शब्द है, जिसके अन्तर्गत भौतिक क्रियायें व आर्थिक नियम सम्मिलित हैं।

3. मृदा क्षरण एवं संरक्षण (Soil Erosion and Conservation)

प्रति वर्ष कुछ प्राकृतिक शक्तियों, मुख्य रूप से जल एवं वायु द्वारा मृदा की ऊपरी परत बहकर या उड़कर दूसरे स्थानों पर स्थानान्तरित होती रहती है। इसके साथ ही पेड़–पौधे जितना पोषक पदार्थ मृदा से अपने भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं उसका कई गुना अधिक पोषक पदार्थ मृदा से बहकर या उड़कर नष्ट हो जाता है। इसलिए मृदा क्षरण को रोकने के लिए मृदा का

संरक्षण किया जाना चाहिए ताकि पौधों को मृदा से आवश्यक पोषक तत्वों की आपूर्ति होती रहे तथा मृदा उर्वरा शक्ति भी बनी रहे।

"भौतिक रूप से मिट्टी के कणों का अपने स्थान से हटने की क्रिया को मृदा क्षरण कहते हैं।" मृदा का पृथक्करण तथा परिवहन मृदा क्षरण कहलाता है। अधिकांश दशाओं में जल परिवहन कारक होता है लेकिन हवा भी यह कार्य करती है। "मृदा को विभिन्न क्षरण शक्तियों द्वारा बहने तथा कटने से बचाने की क्रिया को मृदा संरक्षण कहते हैं।"

मृदा क्षरण के प्रकार : प्रकृति में दो प्रकार से मृदा क्षरण होता है –

1. **प्राकृतिक क्षरण (Natural erosion) :** वनस्पति से ढकी हुई मृदा के प्राकृतिक रूप से हवा तथा जल द्वारा लगातार और धीरे–धीरे क्षरण को प्राकृतिक क्षरण कहते हैं। यह क्षरण मृदा निर्माण तथा मृदा विनाश की क्रियाओं में सदैव साम्य रखता है। इससे कोई विशेष हानि नहीं होती क्योंकि परिवर्तन में बहुत समय लगता है। इस क्षरण को मनुष्य द्वारा नहीं रोका जा सकता है।
2. **त्वरित क्षरण (Accelerated erosion) :** जब भूमि की वनस्पति को पशुओं द्वारा चराकर, खोदकर या जोतकर समाप्त कर दिया जाता है तो भूमि वनस्पति–विहीन हो जाती है। ऐसी मिट्टी में पानी व हवा के विघ्न द्वारा अलग होने की गति मृदा निर्माण से कहीं ज्यादा होती है। इस प्रकार के मृदा क्षरण को त्वरित क्षरण कहते हैं।

मृदा क्षरण दो शक्तियों के द्वारा होता है – 1. जल 2. वायु

1. **जल द्वारा क्षरण (Water Erosion)**

आवरण रहित नग्न भूमि पर जब वर्षा की बूँदें गिरती हैं तो उनकी चोट से मृदा कण तितर–बितर हो बिखर जाते हैं और गंदले पानी के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार खेत की उपजाऊ मिट्टी का जल के साथ क्षरण हो जाता है। जल द्वारा मृदा के कटने व बहने की क्रिया को जलीय क्षरण कहते हैं। जल द्वारा मृदा क्षरण निम्न प्रकार का होता है –

(अ) **बौछार क्षरण (Spalash erosion) :** यह मृदा क्षरण की प्रारम्भिक अवस्था है। जब वर्षा की बूँदें जमीन पर गिरती हैं तो ये मृदा कणों को मूल स्थान से छिन्न–भिन्न कर देती हैं। इससे भूमि की जल प्रवेश क्षमता भी कम हो जाती है। यह क्षरण वर्षा की बूँदों के आकार एवं गहनता से प्रभावित होता है।

(ब) **परत क्षरण (Sheet erosion) :** बूँदों द्वारा कणों के बिखरने के पश्चात् वर्षा का जल पूर्ण सतह पर मिट्टी की पतली तह को अपने साथ बहा ले जाता है। इस प्रकार खेत की उपजाऊ मृदा की ऊपरी तह समान रूप से खेत से बह जाती है। इसको परत–क्षरण कहते हैं। यह क्षरण आँखों से तो दिखाई नहीं देता है लेकिन होता बहुत हानिकारक है।

(स) **रिल क्षरण (Rill erosion) :** परत क्षरण समतल भूमि में होता है लेकिन पूरा खेत बिल्कुल समतल तो होता नहीं, उसमें कहीं न कहीं ढाल जरूर होता है। जब पानी ढाल की ओर बहने लगता है तो खेत में छोटी–छोटी नालियाँ बन जाती हैं। ये नालियाँ धीरे–धीरे चौड़ी होने लगती हैं, हालांकि ये नालियाँ जुताई के समय समाप्त हो जाती हैं। नर्म व तुरन्त जोते गये खेत में यह क्षरण ज्यादा होता है। ढलान वाली व खाली भूमि में भी यह क्षरण ज्यादा होता है।

(द) **अवनालिका क्षरण (Gully erosion) :** यह रिल–क्षरण की बढ़ती अवस्था है। जब ढाल अधिक होता है तो रिल क्षरण द्वारा बनायी गई नालियाँ इतनी चौड़ी और गहरी हो जाती हैं कि उपजाऊ मिट्टी के कटने के बाद अधो मृदा भी कटने लगती है। इस प्रकार के कटाव को अवनालिका या नालीदार क्षरण कहते हैं। ये नालियाँ साधारण जुताई आदि के द्वारा समाप्त नहीं होती हैं। इन मृदाओं में कृषि कार्य करना कठिन होता है।

जलीय क्षरण को प्रभावित करने वाले कारक

1. **जलवायु (Climate) :** वर्षा की गहनता, अवधि तथा आवृत्ति का मृदा क्षरण पर सीधा प्रभाव पड़ता है। यदि वर्षा की गहनता कम हो तो ज्यादा समय तक वर्षा होने पर भी क्षरण कम होता है। इसी प्रकार गहनता के साथ थोड़े समय में होने वाली वर्षा से भी क्षरण अधिक नहीं होता है। यदि वर्षा की मात्रा और गहनता दोनों ही अधिक हो तो मृदा क्षरण अधिक होगा। अधिक तापक्रम मूल पदार्थों के रासायनिक एवं भौतिक अपक्षय में सहायक होता है जिससे भूमि तथा चट्टानों में टूट–फूट होती हैं। इस कारण क्षरण शुरू हो जाता है।
2. **स्थलाकृति (Topography) :** ढालू भूमि पर क्षरण ज्यादा होता है, क्योंकि पानी के बहने की गति तेज होती है। उसकी मिट्टी काटने व बहाने की शक्ति बढ़ जाती है। अधिक ढाल पर जल को भूमि में सोखने का कम समय मिलता है। ढाल की लम्बाई जितनी ज्यादा होगी उतना ही कटाव ज्यादा होगा।
3. **मृदा गुण (Soil characteristics) :** बलुई मृदा के कणों का बिखराव ज्यादा होता है, जबकि मटियार भूमि के कण आपस में अधिक दृढ़ता के साथ चिपके रहते हैं। ऊसर भूमि पानी में शीघ्र घुल जाती है और पानी के साथ बह जाती है। बलुई मृदा पानी को कम सोख पाती है। लेकिन मटियार भूमि में कार्बनिक पदार्थ की मात्रा अधिक होने से जल शोषण क्षमता और कणों को बाँधने की क्षमता बढ़

जाती है, जिससे पानी के बहाव द्वारा कम कटती है।

4. **वनस्पति का प्रभाव (Plant effect) :** जितने अधिक पेड़–पौधे उतना ही अधिक जल मिट्टी द्वारा सोखा जायेगा। पेड़ व घास की जड़ें मृदा कणों को आपस में बाँधे रखती हैं और पत्तियाँ वर्षा की बूँदों को मृदा कणों से टकराने से पहले ही रोक देती हैं। इस प्रकार वनस्पति भूमि क्षरण को कम करने में सहायक होती है।

5. **मानवीय कारक (Human factor) :** मनुष्य द्वारा खेती का सही ढंग न अपनाने से भी मृदा क्षरण अधिक होता है। ढालू भूमियों पर ढाल की दिशा में कृषि कार्य करना, नदी किनारे तक खेती करना, खाद का प्रयोग किये बिना लम्बे समय तक एक ही फसल उगाना आदि ऐसे मानवीय कारक हैं, जो जलीय क्षरण को बढ़ावा देते हैं।

जलीय क्षरण को रोकने की विधियाँ : वे विधियाँ जो भू–क्षरण रोकने तथा जल संरक्षण के लिए अपनायी जाती हैं, मृदा संरक्षण विधियाँ कहलाती हैं। वे मुख्यतया निम्न हैं –

1. **मृदा संरक्षण की जैविक विधियाँ (Biological methods)**

(अ) **सस्य सम्बन्धी विधियाँ (Agronomic methods)**

1. **समोच्च खेती (Contour farming) :** समान ऊँचाई की भूमि पर बनी हुई रेखा को कन्टूर कहते हैं। समस्त कृषि कार्य और फसलों की बुआई ढाल के विपरीत करते हैं। यदि ढाल अधिक है तो कन्टूर की दूरी कम होगी और यदि ढाल कम हो तो कन्टूर के आपस की दूरी अधिक हो सकती है। ढालू जमीन पर कन्टूर बनाने से वर्षा का पानी रूक–रूक कर आगे बढ़ता है जिसे मृदा द्वारा सोख लिया जाता है और बाहर कम बह पाता है। अतः मृदा क्षरण नहीं होता है।

2. **भू–परिष्करण (Tillage) :** भू–परिष्करण की सही विधियाँ और औजारों के अपनाने से मृदा की संरचना ठीक हो जाती है। बारानी क्षेत्रों में गहरी जुताई करनी चाहिए ताकि खरपतवार नष्ट हो जाये तथा मृदा में पानी का अवशोषण अधिक हो। इससे भू–क्षरण कम हो पाता है।

3. **पलवार (Mulching) :** खेत को घास तथा पौधों के डंठलों द्वारा ढक कर मृदा क्षरण को काफी कम किया जा सकता है। पलवार वर्षा की बूँदों का मृदा पर सीधे प्रहार को कम करता है तथा जड़ें, तने, पत्तियाँ आदि मृदा की सतह पर पानी बहने के वेग को कम करते हैं। साथ ही मृदा संरचना को भी सुधारते हैं।

4. **फसल चक्र (Crop rotation) :** मृदा संरक्षण के लिए अपनाये गये फसल चक्रों में यह सिद्धान्त रखा जाता है कि अधिकाधिक समय तक घास एवं दलहनी फसलों के मिश्रण से भूमि को आच्छादित रखा जाये। उपयुक्त फसल चक्र अपनाने से क्षरण कम होता है। जल का अच्छा संरक्षण हो जाता है और मिट्टी का उपजाऊपन भी सुधरता है।

5. **पट्टियों में फसल बोना (Sowing of crops in strips):** इस प्रणाली में फसलें ढाल के विपरीत समानान्तर पट्टियों में भू–क्षरण अवरोधी (घनी उगने वाली फसलें) तथा निराई–गुड़ाई चाहने वाली फसलें एकान्तर पट्टियों में उगायी जाती हैं। जिससे ऊपर से बहकर आयी मिट्टी और पानी रूकते रहते हैं और क्षरण नहीं हो पाता है।

(ब) **घास सम्बन्धी उपाय (Grass related measures) :** उगायी गई क्षेत्रीय फसलों के मध्य घास की पट्टियाँ बो देने से मृदा संरक्षण में मदद मिलती है। फसल चक्र में अन्य फसलों के साथ घास को भी उगाने की विधि को ले फार्मिंग (Lay farming) कहते हैं। यह विधि मृदा एवं जल संरक्षण में सहायक होती है। अगर बड़े क्षेत्र में क्षरण की समस्या हो तो उर्वरकों की उपयुक्त मात्रा डालते हुए कुछ समय तक घासें ही उगानी चाहिए। मुख्य घासें ब्लू पैनिक, नेपियर, दूब, अंजन आदि हैं।

(स) **वृक्षारोपण (Tree plantation) :** वृक्ष मृदा क्षरण के रोकने के अच्छे साधन हैं। वृक्ष वर्षा की बूँदों को सीधे जमीन पर नहीं गिरने देते तथा पानी की चोट को स्वयं सहन करते हैं। जमीन पर पानी के बहाव को रोकते हैं। वृक्षों की पत्तियाँ मल्च का काम करती हैं और भूमि को जीवांश भी प्रदान करती हैं जिससे मृदा की भौतिक दशा में सुधार होता है।

2. **मृदा संरक्षण की यांत्रिक विधियाँ (Mechanical methods)**

(अ) **क्यारी या थाला बनाना :** बेसिन लिस्टर (Basin lister) की सहायता से कन्टूर के समानान्तर थालों का निर्माण करते हैं यह थाला जल को रोककर उसके बहाव की गति कम कर देता है और जल संरक्षण में सहायक होता है।

(ब) **अधो–भूमि की गहरी जुताई :** सब सोइलर (Sub-soiler) की सहायता से कठोर परत को तोड़कर मृदा की जल शोषित एवं जल धारण क्षमता को बढ़ाते हैं जिससे वर्षा के जल का संरक्षण किया जा सकता है।

(स) **कन्टूर टैरेस बनाना :** जब ढालू भूमि पर खेती की जाती है तो खेत टैरेस या चबूतरे की भांति बनाये जाते हैं जिससे जुताई, बुआई आदि बराबर टुकड़ों पर हो सके। ये टैरेस बहाव को सीधा ढाल की ओर रोकते हैं, जल शोषण को बढ़ाते हैं, अतिरिक्त जल को नाली द्वारा बाहर निकाल देते हैं, अधिक ढालू भूमि को खेती योग्य बनाते हैं तथा मृदा क्षरण को नियंत्रित करते हैं।

(द) **कन्टूर खाई बनाना :** 60 से.मी. चौड़ी, 30 से.मी. गहरी तथा उपयुक्त लम्बाई की खाइयाँ उचित अन्तराल पर खोदी जाती हैं इन खाइयों में पेड़ों की रोपाई की जाती है।

2. **वायु द्वारा क्षरण (Wind Erosion)**

तेज हवा या आँधी से मृदा कण एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने की क्रिया को वायवीय क्षरण कहते हैं। यह क्षरण शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों से ज्यादा होता है जहाँ वनस्पति नहीं के बराबर पाई जाती है। राजस्थान का उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र मरूस्थल के रूप में होने से वर्षा बहुत कम होती है और प्राकृतिक वनस्पति का अभाव है। मार्च से जून तक तेज हवाएँ चलती हैं जिनके कारण यह क्षेत्र वायु क्षरण से प्रभावित है। जो वनस्पति है भी, उस पर अनियंत्रित व अत्यधिक पशुओं की चराई व कृषि के गलत तरीके अपनाने से यह समस्या बढ़ती ही जा रही है। इस क्षरण द्वारा लाखों टन उपजाऊ मिट्टी उड़कर बाहर चली जाती है और मृदा उर्वरता का ह्रास हो जाता है। वायु द्वारा मृदा का परिवहन तीन प्रकार से होता है –

(अ) **उच्छलन (Saltation) :** जब हवा का सीधा दबाव मृदा कणों पर पड़ता है तो मुख्यतः 0.1 से 0.5 मि.मी. व्यास वाले कण अपने स्थान से ऊपर उछलने लगते हैं और थोड़े चलकर नीचे गिर जाते हैं। मृदा कणों के इस तरह छोटे–छोटे उछालों की क्रिया को उच्छलन कहते हैं। मृदा क्षरण में भार की दृष्टि से 50–75 प्रतिशत भाग इस क्रिया द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है।

(ब) **निलम्बन (Suspension) :** इस क्रिया में मृदा के और भी छोटे कण जिनका व्यास 0.1 मि.मी. यो इससे कम होता है, हवा के साथ उड़कर वातावरण में लटके रहते हैं और हवा की गति के साथ हजारों कि.मी. दूर तक स्थानान्तरित हो जाते हैं।

(स) **सतह–सर्पण (Surface creep) :** मृदा कण जिनका व्यास 0.5 मि.मी. से अधिक होता है जो वायु की गति के साथ ऊपर नहीं उठ सकते हैं, भूमि सतह पर रेंगकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित हो जाते हैं। इस क्रिया को सतह–सर्पण कहते हैं।

वायु द्वारा मृदा क्षरण को प्रभावित करने वाले कारक

1. **जलवायु (Climate) :** शुष्क जलवायु वाले क्षेत्रों में जहाँ कम वर्षा, अधिक ताप व वायु की गति तेज हो तो वायु क्षरण अधिक होगा। इसके विपरीत आर्द्र एवं शीतोष्ण जलवायु में वायु क्षरण कम होता है।

2. **मृदा (Soil) :** मृदा के भौतिक गुण जैसे कणाकार, घनत्व तथा कार्बनिक पदार्थ की मात्रा, नमी की मात्रा आदि वायु द्वारा क्षरण को प्रभावित करते हैं। क्ले मृदाओं में जीवांश की मात्रा अधिक होने व चिकनी सतह के कारण क्षरण कम होता है। लेकिन बलुई मृदाओं की सतह खुरदरी व कण एक–दूसरे से अलग रहते हैं। अतः वायु द्वारा क्षरण अधिक होता है।

3. **वनस्पति (Vegetation) :** वनस्पति से आच्छादित मृदाओं में वायु क्षरण नहीं के बराबर होता है लेकिन वनस्पतिविहीन मृदाओं में क्षरण अधिक होता है।

4. **स्थलाकृति (Topography) :** ढालू भूमियों में समतल भूमियों की अपेक्षा मृदा क्षरण अधिक होता है।

वायवीय क्षरण नियंत्रण के सिद्धान्त

वायु द्वारा मृदा क्षरण रोकने के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

1. वायु के वेग को कम करना,
2. मृदा कण समूह का आकार बढ़ाना, तथा
3. मृदा सतह को नम रखना।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर वायवीय क्षरण को निम्नलिखित विधियों द्वारा रोका जा सकता है –

1. **कृषि क्रियाएँ :**
   - **i)** मृदा में जीवांश खादों का प्रयोग करना चाहिए।
   - **ii)** मृदा में हरी खाद वाली फसलों का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि ये फसलें उर्वरता बढ़ाने, कणों को बाँधकर रखने तथा नमी की मात्रा संचित रखने में सहायक होती हैं।
   - **iii)** मृदा सतह पर पलवार (Mulch) का प्रयोग करना चाहिए।
   - **iv)** भू–परिष्करण (Tillage) द्वारा मृदा वाष्पीकरण कम करके नमी बनाये रखनी चाहिए।
   - **v)** फसल चक्र (Crop rotation) में दाल वाली फसलें तथा घासों को सम्मिलित करना चाहिए, क्योंकि ये मृदा संरक्षी फसलें हैं जो मृदा क्षरण को कम करती हैं।
   - **vi)** भूमि को पड़ती नहीं छोड़ना चाहिए।
   - **vii)** पशुओं की चराई बन्द कर देनी चाहिए, ताकि भूमि पर घास हमेशा बनी रह सकें।

2. **वायुरोधी वृक्ष पट्टियाँ :** वायु की गति मन्द करने के लिए जिस दशा से हवायें आती हैं उनके समकोण विपरीत दिशा में वृक्षों, झाड़ियों तथा घासों की सुनियोजित पट्टियाँ लगाते हैं। ये पट्टियाँ मृदा क्षरण को काफी कम कर देती हैं और सतह से वाष्पीकरण को रोकती हैं। इनकी कई आकृतियाँ हो सकती हैं लेकिन सबसे अच्छी पट्टी पिरेमिड आकार की होती है। जिसमें अन्दर की लाइन में शीघ्र बढ़ने वाले, दूसरी लाइन में कम बढ़ने वाले व तीसरी लाइन में सबसे कम बढ़ने वाले पेड़ या घासें होती हैं। इस प्रकार हवा आने की दिशा में छोटे वृक्ष, बीच में थोड़े बड़े व हवा जाने वाली दिशा में सबसे बड़े वृक्ष लगाये जाते हैं। पट्टियों की आपस में दूरी 3–4 मीटर एवं पेड़ से पेड़ की दूरी 1–2 मी. रखी जाती है। सघनता को ध्यान में रखते

हुए पट्टियों में वृक्षों की ऐसी जातियाँ जिनमें कम से कम वायु निकल सके, प्रयोग में लाई जाती हैं। इसके लिए बबूल, नीम, शीशम, जामुन, इमली, बेर, अमलताश आदि प्रमुख वृक्ष हैं।

3. **मिट्टी के टीलों को आच्छादित रखना :** मिट्टी के टीलों पर क्षेत्रीय झाड़ियाँ लगा देनी चाहिए जो कि पलवार (Mulch) का काम करती हैं तथा मिट्टी के उड़ने में बाधा डालती हैं जिससे टीले एक ही जगह स्थिर रहते हैं। उदाहरण के लिए खीप, झड़बेरी, फोग, बुई आदि झाड़ियाँ उपयोगी पाई गयी हैं।

4. अन्य : रेगिस्तानी क्षेत्र में उगने वाले पेड़, झाड़ियाँ तथा घासें वायु क्षरण रोकने में सहायक हैं–

वृक्ष (Trees)

खेजड़ी (*Prosopis cineraria*)
शीशम (*Dalbergia sissoo*)
रोहिड़ा (*Tecomella undulata*)
विलायती बबूल (*Prosopis juliflora*)
इज़राइली बबूल (*Acacia tortalis*)

झाड़ियाँ (Shrubs)

खींप (*Leptodenia pyrotechnica*)
फोग (*Calligonum polygonoides*)
अरण्डी (*Ricinus communis*)
झरबेरी (*Zizyphus rotundifolia*)

घासें (Grasses)

सेवन (*Lasiurus sindicus*)
अंजन घास (*Cenchrus ciliaris*)

4. बीज (Seed)

फसलोत्पादन में बीज का सर्वोपरि स्थान है। फसल उत्पादन की सफलता मुख्य रूप से गुणवत्ता युक्त बीजों के प्रयोग पर निर्भर करती है। कृषि उत्पादन में अन्य आदानों जैसे सिंचाई, खाद, शाकनाशी, कवकनाशी, कीटनाशी इत्यादि की सफलता भी बीज की गुणवत्ता एवं ओज क्षमता पर आधारित होती है। यदि बीज की स्थिति संदिग्ध है तो अन्य आदानों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता क्योंकि बीज सही एवं विश्वसनीय नहीं होगा तो फसल उत्पादन के अन्य सभी प्रयास विफल हो जाते हैं। अतः अधिक उपज लेने के लिए उत्तम किस्म के बीजों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। अभी देश के किसानों को 12 प्रतिशत उन्नत बीज ही उपलब्ध हो रहा है इसलिए गुणवत्ता युक्त बीजों के उत्पादन एवं वितरण को बढ़ाने की आवश्यकता है।

बीज की परिभाषा (Definition of seed)

दाना, फल, पत्ती, जड़ अथवा तने का वह भाग जो अपने समान रूप के स्वस्थ पौधे को जन्म देता है बीज कहलाता है। तकनीकी दृष्टि से पुष्प के परिपक्व बीजाण्ड को ही बीज कहते हैं जिसमें सूक्ष्म भ्रूण व भ्रूणपोष सुरक्षात्मक आवरण से ढका रहता है। साधारण शब्दों में हम कह सकते हैं कि जीवित भ्रूण वाला दाना ही बीज है जो बुवाई के काम आता है।

उत्तम बीज के गुण (Characteristics of good quality seed) : वह किस्म जो स्थानीय किस्म के मुकाबले 10–15 प्रतिशत अधिक उपज देती हो एवं विभिन्न प्रकार की जलवायु व मिट्टी के प्रति अनुकूल हो तथा निश्चित समय पर परिपक्व अवस्था में पहुँचती हो, उन्नत किस्म कहलाती है। उन्नत किस्म के बीज में निम्न गुण होने चाहिए –

1. **आनुवंशिक शुद्धता (Genetic purity) :** उत्तम बीज का मुख्य लक्षण उसकी आनुवंशिक शुद्धता है। अतः शुद्ध व प्रमाणित बीज में अपनी किस्म के अनुरूप आकार–प्रकार, रंग–रूप एवं वजन के सभी लक्षण पाये जाने चाहिए। बीज आकार व रंग में एक समान व चमकीले होने चाहिए।
2. **भौतिक शुद्धता (Physical purity) :** उत्तम बीज भौतिक रूप से शुद्ध होना चाहिए। उसमें अन्य फसलों, किस्मों तथा खरपतवार के बीजों की मिलावट नहीं होनी चाहिए। बीज में कंकर–पत्थर, मिट्टी, कूड़ा–कचरा, फसल के अवशेष, भूसा आदि भी नहीं होने चाहिए। मिलावट होने से खेत में वांछित फसल व किस्म के पौधों की संख्या घट जाती है, खरपतवार के पौधे फसल से प्रतियोगिता करते हैं जिससे उपज कम प्राप्त होती है व उत्पादन की गुणवत्ता घट जाती है।
3. **बीज ओज (Seed vigour) :** बीज ओज से तात्पर्य बीज की उम्र, आकृतिक तथा क्रियात्मक स्वस्थ्यता से है जिसमें तीव्रता से समान अंकुरण व पौधों का विकास होता है। उत्तम बीज में पर्याप्त ओज होता है, जिससे पौधे की बढ़वार तेज गति से होती है। बीज ओज अच्छा नहीं होने पर पौधों की बढ़वार धीमी गति से होती है जिससे फसल की उपज व गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। पुराने बीजों की अंकुरण शक्ति कम होती है अर्थात् उम्र के साथ ओज घटता जाता है।
4. **उच्च अंकुरण क्षमता (High germinability) :** उत्तम बीज में उच्च अंकुरण क्षमता होनी चाहिए। अंकुरण क्षमता का खेत में उगे पौधों की संख्या एवं फसल की उपज से सीधा सम्बन्ध है। बीज की सही मात्रा, उसकी अंकुरण प्रतिशत के आधार पर तय होती है। इसलिए अंकुरण क्षमता की जानकारी करके ही बीजों की बुआई करनी चाहिए जिससे खेत में वांछित संख्या में पौधे मिल सके। यह सर्वमान्य है कि कम आयु वाले (नये) चमकदार, स्वस्थ तथा सुडौल बीजों का अंकुरण पुराने, बदरंग, कटे–फटे रोगग्रस्त बीजों की अपेक्षा अधिक होता है। कुछ प्रमुख फसलों के बीजों की न्यूनतम अंकुरण क्षमता इस प्रकार है –
5. **नमी की मात्रा (Moisture content) :** उत्तम बीजों में

	फसलों का नाम	न्यूनतम अंकुरण क्षमता
1.	गेहूँ, जौ एवं चना	85 प्रतिशत
2.	धान, ज्वार, तिल, बरसीम, रिजका	80 प्रतिशत
3.	बाजरा, मूंग, मोठ, उड़द, अरहर, चंवला	75 प्रतिशत
4.	मूँगफली, सोयाबीन, सूरजमुखी, ग्वार	70 प्रतिशत
5.	कपास	65 प्रतिशत

$$\text{बीज की अंकुरण प्रतिशतता} = \frac{\text{अंकुरित बीजों की संख्या}}{\text{बोये गये बीजों की संख्या}} \times 100$$

निर्धारित मात्रा से अधिक नमी नहीं होनी चाहिए। अधिक आर्द्रता के कारण बीज में कवक/कीट आदि का प्रकोप हो जाता है जिससे अंकुरण क्षमता कम हो जाती है तथा बीज ओज पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अनाज के बीजों में भण्डारण के समय नमी 12 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए।

6. **रोगमुक्तता (Free from diseases) :** बीज निरोग, रोगाणु एवं कीट व्याधि प्रकोप रहित होने चाहिए। रोग एवं कीटग्रस्त बीज की अंकुरण क्षमता कम होती है। कई रोगों के विषाणु–जीवाणु बीजों के साथ लगे होते हैं जिससे अंकुरित होते ही पौधे रोग/कीट ग्रस्त हो जाते हैं। इसलिए उत्तम बीज सभी प्रकार के रोगों से मुक्त होना चाहिए।

7. **परिपक्वता (Maturity) :** उत्तम बीज पूर्णरूप से परिपक्व, साफ तथा सुडौल आकार का होना चाहिए। पूर्णरूप से परिपक्व बीज चमकीला, साफ एवं भरा हुआ होता है जबकि अपरिपक्व बीज सिकुड़े हुए, छोटे तथा बदरंग होते हैं। अपरिपक्व बीजों में अंकुरण कम होता है तथा पौधे प्रारम्भ से ही छोटे तथा कमजोर रह जाते हैं। उनमें जलवायु तथा मृदा की प्रतिकूल दशाओं, खरपतवार, कीट तथा रोगों से संघर्ष करने की क्षमता भी कम होती है। अतः अच्छी प्रकार से परिपक्व, साफ, गुद्देदार तथा सुडौल आकार का बीज ही बोना चाहिए।

8. **वास्तविक उपयोगिता मान (Real value) :** अच्छे बीज का वास्तविक उपयोगिता मान 75 प्रतिशत से कम नहीं होना चाहिए। यह अच्छे बीज का महत्वपूर्ण गुण है।

$$\text{वास्तविक उपयोगिता मान} = \frac{\text{अंकुरण प्रतिशत} \times \text{शुद्धता प्रतिशत}}{100}$$

9. **बीज की जीवन क्षमता (Seed longivity):** उत्तम बीज में जीवित भ्रूण होना चाहिए जिसमें अंकुरण क्षमता होती है। बीज में उपस्थित भ्रूण विभिन्न कारणों से क्षतिग्रस्त हो जाता है तो उसकी जीवन क्षमता नष्ट हो जाती है। बीज के कट जाने, गल जाने, रोग के प्रभाव या भण्डारण के दोषों के कारण भ्रूण की जीवन क्षमता नष्ट हो सकती है। अतः बीज को बोने से पहले प्रयोग द्वारा उसकी जीवन क्षमता ज्ञात करना लाभदायक रहता है।

बीजोत्पादन (Seed Production)

वैज्ञानिकों द्वारा उन्नत किस्मों का उत्पादन एवं विकास निरन्तर किया जा रहा है। प्रारम्भिक अवस्था में विकसित उन्नत बीज की मात्रा अत्यन्त सीमित होती है। अतः यह आवश्यक है कि निर्धारित मापदण्डों की पालना करते हुए इन बीजों का गुणन किया जाना चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार उन्नत किस्मों के बीज सभी किसानों को समय पर उपलब्ध हो सके। उन्नत बीजों का गुणन प्रायः राजकीय फार्म, विश्वविद्यालय के कृषि फार्म एवं प्रगतिशील कृषकों के खेतों पर प्रमाणित बीज उत्पादन कार्यक्रम के अन्तर्गत किया जाता है। किसी भी फसल के उत्तम बीज प्रयोगशाला से किसानों तक निम्नलिखित उन्नत बीजों की चार श्रेणियों (बीजों के प्रकार) में उत्पादित होकर पहुँचता है। इनका विवरण निम्न प्रकार है –

1. **मूल केन्द्रक बीज या न्यूक्लियस सीड (Nucleous seed) :** मूल केन्द्रक बीज किसी उन्नत किस्म के बीजों की वह प्रारम्भिक मात्रा है जो सम्बन्धित पादप प्रजनक के पास होती है। यह बीज शत–प्रतिशत शुद्ध होता है। इनका उत्पादन पादप–प्रजनक की देख–रेख में किया जाता है।

2. **प्रजनक बीज या ब्रीडर सीड (Breeder seed) :** न्यूक्लियस सीड के गुणन के बाद जो बीज प्राप्त होता है वह ब्रीडर सीड कहलाता है। आनुवंशिक एवं भौतिक दृष्टि से यह बीज भी शत–प्रतिशत शुद्ध होता है तथा पादप प्रजनक की देख–रेख में कृषि अनुसंधान केन्द्रों पर उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार के बीजों की थैली पर सुनहरे पीले रंग का टैग लगा रहता है और यह आधार बीज का स्रोत होता है।

3. **आधार बीज (Foundation seed) :** प्रजनक बीज से जो बीज पैदा किया जाता है उसे आधार बीज कहते हैं। आधार बीज का उत्पादन बीज प्रमाणीकरण संस्था की देख–रेख में किया जाता है। इसकी आनुवंशिक शुद्धता 98 प्रतिशत तक होती है। इस प्रकार के बीजों की थैली पर सफेद रंग का टैग लगा रहता है और यह प्रमाणित बीज का स्रोत होता है।

4. **प्रमाणित बीज (Certified seed) :** आधार बीज से प्रमाणित बीज उत्पन्न किया जाता है। इसका उत्पादन प्रमाणीकरण संस्था की देख–रेख में किया जाता है और यह प्रमाण पत्र दिया जाता है कि इसकी आनुवंशिक व भौतिक शुद्धता, अंकुरण प्रतिशत एवं आर्द्रता मात्रा आदि प्रमाणीकरण मानकों के अनुरूप है। इस प्रकार के बीजों की थैली पर नीले रंग का टैग लगा रहता है और यह किसानों को फसल उत्पादन के लिए बेचा जाता है।

उत्तम बीज उत्पादन की वैज्ञानिक तकनीक

बीज उत्पादन कार्यक्रम एक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत तैयार किये गये आधार बीज का गुणन कृषकों द्वारा कृषकों के लिए किया जाता है। बीज उत्पादन प्रक्रिया एक ऐसी वैज्ञानिक विधि है जिसके द्वारा आनुवंशिक शुद्धता, उच्च अंकुरण क्षमता, रोग रहित व अधिक पैदावार की क्षमता वाले बीजों का उत्पादन किया जाता है। इसके लिए प्रमाणीकरण प्रक्रिया के मापदण्डों की पालना करनी होती है। प्रत्येक फसल के लिए भिन्न–भिन्न पृथक्करण दूरी एवं बीज के न्यूनतम मापदण्ड निर्धारित किये हुए हैं जिनका पालन अत्यन्त आवश्यक है। अतः कृषक को बीज उत्पादन कार्यक्रम में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए ताकि उत्तम गुणवत्तायुक्त बीजों का उत्पादन हो सके।

फसल	पृथक्करण दूरी (मीटर)	
	आधार बीज	प्रमाणित बीज
जौ, गेहूँ, जई व धान	3	3
मक्का की संकुल किस्में	400	200
संकर मक्का	600	300
ज्वार	200	100
चना	10	5
सोयाबीन, मूंगफली	3	3

1. **बीज का चुनाव :** बीज उत्पादन हेतु प्रजनक / आधार / प्रमाणित बीज ही प्रयोग में लेना चाहिए एवं इसमें अन्य बीजों का मिश्रण नहीं होना चाहिए। बीज मान्यता प्राप्त बीज उत्पादक संस्थानों या विश्वविद्यालयों अथवा मान्यता प्राप्त संस्थानों से ही क्रय करना चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बीज की किस्म कृषि जलवायु खण्ड में सिफारिश की गई हो तथा उपयुक्त पैदावार देती हो। बीजों को बीज जनित रोगों से बचाव हेतु फफूंदनाशी, कीटनाशी एवं शाकाणु संवर्ध से अवश्य उपचारित करें। बीजों के खाली कट्टे, टैग, लेबल, बिल इत्यादि को सुरक्षित रखें जिससे प्रमाणीकरण संस्था द्वारा मांगने पर प्रस्तुत किये जा सके।

2. **पृथक्करण दूरी व खेत का चयन (Isolation distance and field selection) :** आनुवंशिक शुद्धता को बनाए रखने के लिए फसल की किन्हीं दो किस्मों के मध्य निश्चित दूरी बनाये रखना आवश्यक है। यह दूरी पृथक्करण दूरी (Isolation distance) कहलाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस फसल का बीज उत्पादन कार्यक्रम ले रहे हैं उसके चारों ओर एक निर्धारित दूरी तक दूसरे खेतों में वह फसल नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक फसल के लिए बीज उत्पादन हेतु अलग–अलग पृथक्करण दूरी की सिफारिश की गयी है क्योंकि कुछ फसलों में परपरागण होता है तथा कुछ फसलों में स्वपरागण होता है। अतः बीजोत्पादन हेतु खेत के चयन में यह ध्यान रखें कि फसल के लिए उपयुक्त पृथक्करण दूरी उपलब्ध है अन्यथा परपरागण से बीजों की आनुवंशिक शुद्धता नहीं रह पायेगी। प्रमुख फसलों की पृथक्करण दूरी सारणी के अनुसार है।

बीज उत्पादन के लिए विभिन्न फसलों की पृथक्करण दूरी (Isolation distance)

खेत का चयन करते समय यह भी ध्यान रखें कि खेत में पिछले मौसम में उस फसल को न उगाया गया हो जिसका बीज उत्पादन लिया जा रहा है, क्योंकि कुछ फसलों के बीज कटाई के समय खेत में गिर जाते हैं तथा दूसरे मौसम में उग आते हैं जिससे फसल में अन्य किस्मों का मिश्रण हो जाता है। अतः खेत स्वैच्छिक उगे पौधों से मुक्त होना चाहिए।

3. **उन्नत सस्य क्रियाएँ :** बीज उत्पादन में सभी उन्नत सस्य क्रियाओं एवं कीट व रोग नियंत्रण की अनुमोदित सिफारिशों का अनुसरण करना चाहिए जैसे –

(अ) बुआई पूर्व सीड ड्रिल को अच्छी तरह से साफ कर लें तथा यह निश्चित कर लें कि सीड ड्रील में कोई अन्य बीज नहीं है।

(ब) सिफारिशानुसार सन्तुलित उर्वरकों का प्रयोग करें।

(स) फसल की क्रान्तिक अवस्थाओं पर सिंचाई अवश्य करें।

(द) फसल में उचित समय पर निराई–गड़ाई अवश्य करें ताकि बीजों में खरपतवार के बीजों का मिश्रण न हो।

(य) समय–समय पर खेत का निरीक्षण करते रहें तथा अन्य किस्मों के पौधों व अन्य भिन्न पौधों को वानस्पतिक, फूलों के रंग, फलियों के आकार आदि में भिन्नता के आधार पर उखाड़कर खेत से बाहर फेंक देना चाहिए। यह क्रिया रोगिंग (Rouging) कहलाती है। रोगिंग इस तरह करनी चाहिए जिससे बीजों की गुणवत्ता एवं आनवंशिक शुद्धता का स्तर निर्धारित मापदण्डों से कम न हों। जिस फसल एवं किस्म का बीज उत्पादन कार्यक्रम लिया गया है उसके अतिरिक्त खेत में अन्य फसल, अन्य किस्म, असमान पौधे, रोग ग्रस्त पौधे एवं खरपतवार का एक भी पौधा नहीं होना चाहिए।

(र) आवश्यकतानुसार पौध संरक्षण उपाय करें।

(ल) फसल की उचित समय (बीज के पूर्ण पकने) पर कटाई करें।

4. **गहाई :** गहाई करते समय निम्न बातों का अवश्य ध्यान रखें जिससे बीज की भौतिक शुद्धता बनी रहे।

(अ) खलिहान को अच्छी प्रकार साफ कर लें।

(ब) गहाई मशीन को खलिहान पर ले जाने से पूर्व भलीभांति साफ कर यह सुनिश्चित कर लें कि मशीन में अन्य फसलों व किस्मों के बीज नहीं है।

(स) थ्रेसर का आर.पी.एम. निश्चित कर लें जिससे बीज टूटे नहीं।

(द) जहाँ तक संभव हो बीज हेतु नई बोरियाँ ही काम में लें। यदि पुरानी बोरियाँ काम में लेनी हो तो उनको पलटकर झाड़ लें एवं अन्य बीजों को निकाल लें।

(य) बीज को बोरों में भरने से पूर्व निर्धारित नमी तक सुखा लेना चाहिए।

5. विधायन एवं भण्डारण : उत्तम बीज की गुणवत्ता उसके सावधानीपूर्वक किये गये विधायन एवं भण्डारण पर बहुत निर्भर करती है। गहाई करने के बाद बीज को बोरियों में भरकर विधायन केन्द्रों पर प्रसंस्करण (Processing) हेतु भेजा जाता है। विधायन क्रिया में बीज को अच्छी प्रकार सुखाकर मशीनों द्वारा साफ कर वर्गीकृत किया जाता है व आवश्यक बीजोपचार के पश्चात् उपयुक्त आकार के कट्टे व थैलियों में भरकर प्रपत्र के साथ सिल दिया जाता है। वर्गीकरण द्वारा एक ही आकार एवं वजन के पुष्ट बीजों का चयन कर अन्य छोटे, कटे एवं हल्के बीजों को निकाल दिया जाता है। सफाई प्रक्रिया में भौतिक अशुद्धियों और अवांछित एवं आपत्तिजनक खरपतवार के बीजों को अलग कर देते हैं। बीजों को उचित नमी पर बोरों में भरकर गोदाम में रखें। भण्डारण उपरान्त गोदाम को धूमीकरण कर बन्द कर दें। समय–समय पर गोदाम का निरीक्षण करते रहना चाहिए।

इस प्रकार प्रमाणित बीज का उत्पादन भी एक प्रकार का विज्ञान है जिसके लिए वैज्ञानिक दक्षता आवश्यक है। अतः बीज उत्पादन के लिए प्रमाणीकरण संस्था की देख–रेख की आवश्यकता होती है। इसलिए भारत में यह कार्य राष्ट्रीय बीज निगम तथा राजस्थान में राजस्थान राज्य बीज निगम करती है।

बीज की सुषुप्तावस्था (Seed Dormancy)

सुषुप्तावस्था अथवा प्रसुप्ति काल बीज की वह अवस्था है जब इसकी सक्रिय वृद्धि कुछ काल के लिये निलम्बित हो जाती है। यह निलम्बन अल्प अथवा दीर्घ काल के लिये हो सकता है। वास्तविकता में सुषुप्तावस्था का अभिप्राय है कि पूर्णतः परिपक्व बीज अन्य सभी परिस्थितियों के सामान्य होने पर भी अंकुरित नहीं हो पाता है जो अन्यथा अंकुरण के लिये आवश्यक होती है। सुषुप्तावस्था में बीज की स्वयं की संरचनात्मक या रासायनिक अथवा कार्यिकीय विशिष्टताओं के कारण अंकुरण नहीं हो पाता है।

सुषुप्तावस्था के प्रकार

उत्पत्तिनुसार सुषुप्तावस्था तीन प्रकार की मानी गई है –

1. प्राथमिक सुषुप्तावस्था (Primary dormancy)
2. द्वितीयक सुषुप्तावस्था (Secondary dormancy)
3. बलकृत सुषुप्तावस्था (Enforced dormancy)

प्राथमिक सुषुप्तावस्था (Primary dormancy)

यह एक प्रकार से प्राकृतिक सुषुप्तावस्था है जिसका सम्बन्ध बीज की स्वयं की कार्यिकीय विशेषताओं से है। जब फसल पकने लगती है तो कुछ बीज शुष्क भार के आधार पर परिपक्वता प्राप्त कर लेते हैं परन्तु ये अंकुरित होने योग्य नहीं होते हैं। दूसरे शब्दों में ये बीज सुषुप्तावस्था काल में ही है। ऐसी सुषुप्तावस्था बीज के शुष्क भण्डारण से दूर की जा सकती है। यह सुषुप्तावस्था बीज कवच **(Seed coat)**की कठोरता, भ्रूण **(Embryo)**के अल्प विकास, प्रकाश आवश्यकता अथवा रासायनिक कारणों से हो सकती है।

द्वितीयक सुषुप्तावस्था (Secondary dormancy)

यह एक प्रकार से प्रेरित सुषुप्तावस्था (Induced dormancy) है। सामान्य परिस्थितियों के अभाव में बीज अंकुरित नहीं हो पाता है। अतः असामान्य परिस्थितिवश बीज सुषुप्तावस्था प्राप्त कर लेता है।

बलकृत सुषुप्तावस्था (Imposed/ Enforced dormancy)

इस प्रकार की सुषुप्तावस्था बीजों के मृदा में अधिक गहराई में चले जाने के कारण होती है। इसके मुख्य कारण है प्रतिकूल तापक्रम, प्रकाश का पूर्ण अभाव, कार्बन–डाईऑक्साइड की अधिकता व मृदा का अधिक भार। जैसे ही ये बीज मृदा के ऊपर की ओर आते हैं ये अंकुरण योग्य हो जाते हैं। बलकृत सुषुप्तावस्था अधिकांशतः खरपतवार के बीजों में उत्पन्न होती है। अंकुरण हेतु आवश्यकताओं जैसे नमी (Moisture) व गैसों (Gases) के प्रति अपारगम्य होते हैं, जिससे बीज अंकुरित ना होकर सुषुप्त हो जाता है। पूर्ण भ्रूण विकास से पूर्व ही कठोर कवच निर्माण से भी बीजों में सुषुप्तावस्था आ जाती है।

कई प्रकार के पादप अंतःस्राव (Plant hormones) व अंकुरण निरोधी (Germination inhibitors) व अन्य जैव रसायन बीज के आवरण, भ्रूण या भ्रूणपोष में उपस्थित होते हैं तथा ये भी सुषुप्तावस्था को नियंत्रित करते हैं।

बीज सुषुप्तावस्था को भंग करने की विधियाँ

सुषुप्तावस्था को भंग करने की विधि व समय सुषुप्तावस्था के कारण व प्रकार पर निर्भर करती है। ऐसे कृत्रिम उपचार निम्न हो सकते हैं –

1. प्रकाश से उपचार (Light treatment)

2. ताप से उपचार
   (i) तापीय एकान्तरण (Alternating temperature)
   (ii) शीतन (Chilling)
   (iii) उच्च ताप (High temperature)
3. पश्य परिपक्वन (Post maturation)
4. क्षय चिह्न (Scarification)
   (i) भौतिक (Physical)
   (ii) रासायनिक (Chemical)
5. रसायनों से उपचार उदाहरणार्थ वृद्धि नियामक जैसे कि जिब्बरलिंस, साइटोकाइनिंस व इथालीन, पादप उत्पाद, श्वसन निरोधक ऑक्सीकारक, नाइट्रोजन/सल्फर युक्त यौगिक।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. विज्ञान की वह शाखा जिसमें फसल उत्पादन व मृदा प्रबन्धन के सिद्धान्तों व क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है, शस्य विज्ञान कहलाती है।
2. शस्य विज्ञान द्वारा कर्षण, उन्नत बीज, खाद व उर्वरक, सिंचाई व खरपतवार प्रबन्धन, पौध संरक्षण, कटाई, गहाई, भण्डारण व प्रक्रमण का समाधान किया जाता है।
3. मृदा उर्वरता को प्राकृतिक कारक एवं कृत्रिम कारक प्रभावित करते हैं।
4. फसल उत्पादन की अनुकूल परिस्थितियों में किसी मृदा की फसल पैदा करने की क्षमता को मृदा उत्पादकता कहते हैं। इसे साधारणतया रुपयों में या प्रति हैक्टर उपज के रूप में मापते हैं।
5. उत्पादक मृदा निश्चित रूप से उर्वर होती है परन्तु उर्वर मृदा सदैव उत्पादक नहीं हो सकती।
6. भूमि के कणों को अपने स्थान से हटने एवं अन्यत्र स्थानान्तरित होने की क्रिया को मृदा क्षरण कहते हैं। मृदा क्षरण दो प्रकार का होता है (1) प्राकृतिक क्षरण, (2) त्वरित क्षरण।
7. मृदा को विभिन्न क्षरण शक्तियों द्वारा काटने एवं स्थानान्तरित होने से बचाने के उपायों को मृदा संरक्षण कहते हैं।
8. बीज चार प्रकार के होते हैं यथा (अ) केन्द्रक बीज (ब) प्रजनक बीज (स) आधार बीज एवं (द) प्रमाणित बीज। किसी भी फसल का उत्तम बीज प्रयोगशाला से किसानों तक उपरोक्त चार चरणों में उत्पादित होकर पहुँचता है।
9. बीजोत्पादन में आनुवंशिक शुद्धता को बनाये रखने के लिए फसल की किन्हीं दो किस्मों के मध्य एक निश्चित दूरी बनाये रखना आवश्यक है जिसे पृथक्करण दूरी कहते हैं। भिन्न–भिन्न फसलों के लिए अलग–अलग पृथक्करण दूरी होती है।
10. सुषुप्तावस्था बीज की वह अवस्था है जब इसकी सक्रिय वृद्धि कुछ काल के लिए निलम्बित हो जाती है, जिससे बीज का अंकुरण नहीं हो पाता है। ये प्राकृतिक, द्वितीयक अथवा बलकृत होती है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. एग्रोनोमी किस भाषा के शब्दों से बना है –
   (अ) ग्रीक (ब) जर्मन
   (स) भारतीय (द) अंग्रेजी
2. मृदा उर्वरता को प्रभावित करने वाला प्राकृतिक कारक है –
   (अ) पैतृक पदार्थ (ब) जलाक्रान्ति
   (स) मृदा पी.एच. (द) मृदा जुताई का ढंग
3. मृदा उत्पादकता को प्रभावित करने वाले कारक हैं –
   (अ) मृदा उर्वरता (ब) मृदा की भौतिक दशा
   (स) मृदा की स्थिति (द) उपरोक्त सभी
4. निम्न में से कौनसा वृक्ष रेगिस्तानी क्षेत्रों में पाया जाता है जो वायु क्षरण को रोकने में सहायक है –
   (अ) खेजड़ी (ब) सेवन
   (स) अंजन (द) न्यूटन्स
5. आधार बीज का स्रोत है –
   (अ) केन्द्रक बीज (ब) प्रजनक बीज
   (स) प्रमाणित बीज (द) इसमें से कोई नहीं
6. प्रमाणित बीज पर किस रंग का टैग लगा रहता है?
   (अ) पीले रंग का (ब) सफेद रंग का
   (स) नीले रंग का (द) काले रंग का

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

7. शस्य विज्ञान को परिभाषित कीजिए।
8. शस्य विज्ञान की आवश्यकता किन क्षेत्रों में है?
9. मृदा उत्पादकता को परिभाषित कीजिए।
10. मृदा क्षरण की परिभाषा लिखिये।
11. मृदा क्षरण को रोकने के लिए उगाये जाने वाले वृक्षों के नाम लिखें।
12. स्थलाकृति का जल क्षरण से क्या सम्बन्ध है?
13. बीज की परिभाषा लिखिये।
14. पृथक्करण दूरी से क्या अभिप्राय है?
15. बलकृत सुषुप्तावस्था क्या होती है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

16. कृषि में शस्य विज्ञान की क्या भूमिका है?
17. शस्य विज्ञान कला, विज्ञान व व्यवसाय का संयोजन क्यों

कहलाता है?

18. मृदा उर्वरता एवं उत्पादकता में अन्तर लिखिए।
19. वायु द्वारा क्षरण की प्रक्रिया को समझाइये।
20. मृदा संरक्षण में पलवार (Mulching) का क्या महत्त्व है?
21. बीजोत्पादन के लिए बीज का चयन करते समय किन–किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?
22. बीज के विभिन्न प्रकारों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

23. मृदा उर्वरता से क्या अभिप्राय है? इसको प्रभावित करने वाले कारकों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
24. वायवीय क्षरण का राजस्थान में क्या महत्त्व है?वायु द्वारा क्षरण को रोकने की विभिन्न विधियों का वर्णन कीजिये।
25. मृदा संरक्षण की परिभाषा लिखिये। जलीय क्षरण के परिपेक्ष्य में सस्य सम्बन्धी विधियों की विवेचना कीजिए।
26. उत्तम बीज के गुण एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

उत्तरमाला

1. (अ) 2. (अ) 3. (द) 4. (अ) 5. (ब) 6. (स)

अध्याय – 2
जैविक खेतीः परिभाषा, महत्त्व एवं भविष्य
(Organic Farming – Definition, Importance and Future)

जैविक कृषि में सर्वप्रथम ''कृषि'' या फार्म को एक पूर्ण जीवित संगठन के रूप में देखा जाता है। इस संगठन के महत्वपूर्ण अंग हैं खेत, पशु, उद्यान, जड़ी–बूटी, मित्र–कीट और स्वयं मनुष्य। सभी अंग मिलकर ''कृषि'' का संतुलन बनाये रखते है। यदि इन सभी अंगों में से किसी एक को भी स्थान न दिया गया तो समन्वय बिगड़ना स्वाभाविक है। जिस प्रकार एक जीवित संगठन में विभिन्न प्रकार के रासायनिक तत्वों एवं यौगिकों के संयोजन से अंग तंत्र एवं कई अंग तंत्रों के संयोजन से शरीर की रचना होती है और किसी भी एक अवयव के असंतुलित होने से पूरा शरीर असंतुलित हो जाता है। उसी प्रकार से जैविक कृषि में संतुलन की अवस्था बनाये रखने के लिये इसके समस्त घटकों यथा मृदा, पशु, वातावरण, उद्यान आदि का समन्वय बनाये रखना अति आवश्यक है। इस प्रकार जैविक कृषि तीन मुख्य उद्देश्यों–पर्यावरणीय स्वास्थ्य, आर्थिक समृद्धि और सामाजिक तथा आर्थिक समता का संयोजन करती है।

परिभाषा

अंतर्राष्ट्रीय जैविक कृषि गतिविधि संघ (आई.एफ.ओ.ए.एम.) के अनुसार ''जैविक कृषि एक उत्पादन प्रणाली है, जो कि मृदा, पारिस्थितिकी परितंत्रों और लोगों के स्वास्थ्य को बनाए रखती है। यह प्रतिकूल प्रभावों वाले आदानों के उपयोग की बजाय, पारिस्थितिक प्रक्रियाओं, जैव विविधता और स्थनीय परिस्थितियों के अनुकूलित चक्र पर निर्भर करती है।'' जैविक कृषि, साझा पर्यावरण को लाभान्वित करने के लिए परंपरा, नवाचार और विज्ञान को जोड़ती है और इसमें शामिल सभी के लिए निष्पक्ष संबंधों और एक अच्छी गुणवत्ता वाले जीवन को बढ़ावा देती है।

खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) के अनुसार– जैविक खेती एक व्यापक एवं सम्पर्ण उत्पादन प्रबंधन पद्धति है जो जैव विविधता, जैविक चक्र एवं मृदा की जैविक क्रियाओं के माध्यम से शस्य–पारिस्थितिकी तंत्र के स्वास्थ्य में प्रोत्साहन एवं वृद्धि करती है। यह पद्धति क्षेत्रीय परिस्थितियों एवं स्थानीय अनुकूलित तंत्र के मध्यनजर बाहरी निवेश के आदानों के बजाए प्रक्षेत्र आधारित आदानों के उपयोग एवं प्रबंधन विधियों पर निर्भर करती है। इस पद्धति में उत्पादन कार्यों के निष्पादन हेतु संश्लेषित पदार्थों के उपयोग के बजाए जहाँ तक संभव हो शस्य क्रियाओं जैविक एवं यांत्रिक विधियों के प्रयोग से कार्य किए जाते हैं।

राष्ट्रीय जैविक उत्पादन कार्यक्रम (NPOF) के अनुसार – जैविक खेती फार्म की रचना एवं प्रबंधन कर एक पारिस्थितिकी तंत्र का निमार्ण करने की पद्धति है जिससे संश्लेषित बाह्य आदानों जैसे कि रासायनिक उर्वरकों एवं पेस्टीसाइड्स के उपयोग से बिना टिकाऊ उत्पादकता प्राप्त की जा सके।

प्रमाणित जैविक कृषि

जैविक खेती को सुचारू रूप से पारदर्शी एवं उपभोक्ताओं से जोड़ने के लिए दुनिया भर में नियम कायदे बनाए हैं जिससे कि उपभोक्ताओं को प्रमाणिक रूप से जैविक उत्पाद मिल सके।

प्रमाणित जैविक कृषि में 'जैविक' शब्द एक 'लेबलिंग' मानक है जो यह दर्शाता है कि मान्यता प्राप्त संस्थाओं के द्वारा जैविक कृषि के स्वीकृत फसल उत्पादन अथवा प्रसंस्करण प्रणाली सम्बन्धित निर्धारित मानकों का उत्पादनकर्ता द्वारा पूरी तरह से पालन किया गया है। प्रमाणीकृत जैविक कृषि के तहत एकफार्म या भू–भाग के जैविक प्रमाणीकरण के लिए प्रार्थी या उत्पादक को जैविक मानकों का चरणबद्ध तरीके से अनुसरण करना होता है। ये मानक मुख्यतः निम्न बातों को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं–

- संश्लेषित रासायनिक कृषि आदानों जैसे उर्वरक, कीटनाशक तथा रोगनाशक पदार्थो के प्रयोग का कृषि उत्पादन में प्रतिबन्ध।
- ऐसे फार्मो या भूमि का उत्पादन में उपयोग जो पिछले कम से कम 2 या 3 वर्षो तक रसायनों से मुक्त रहा है।
- जैविक उत्पादों का अप्रमाणित उत्पादों से भौतिक रूप से पृथक्करण बनाये रखना।
- समय–समय पर ऐसे फर्मो/उत्पादन इकाईयों का प्रमाणीकरण संस्था द्वारा निरीक्षण व अंकेक्षण कार्य।

अवधारणा

मूल रूप से "जैविक खेती" भारतीय पद्धति है। जैविक खेती भारतवर्ष की सनातन प्राचीनतम कृषि उत्पादन पद्धति रही है। ऋषि पाराशर ने बताया – ''जंतुनाम जीवनम् कृषि'' अर्थात् कृषि का आधार भूमि में रहने वाले सूक्ष्म जीवाणु हैं। जैविक खेती जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है जीवों के सहारे की जाने वाली जीवन्त खेती है। आधुनिक जैविक खेती का सिद्धान्त सर्वप्रथम सर अल्बर्ट हावर्ड ने 1930 के दशक में इंग्लैण्ड में प्रतिपादित किया। इसे तीस व चालीस के दशक में पौध उद्योग संस्थान (आई.पी.आई.) के सर अल्बर्ट हावर्ड के कार्यदल ने आधुनिक

आयाम दिया। उन्होंने जैविक कम्पोस्ट आधारित कृषि को अपनाने पर बल दिया।

'आर्गेनिक फार्मिंग' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम लार्ड वाल्टर नार्थबोर्न ने 1940 में अपनी पुस्तक 'लुक टु दी लेण्ड' में किया था। मुख्यतया जैविक खेती की शुरूआत 1930 के दशक में यूरोप से हुई। 1924 में आस्ट्रिया के दार्शनिक डॉ. रूडोल्फ स्टेनर ने एक वैकल्पिक कृषि के रूप में 'बायोडाइनेमिक खेती' की विचारधारा का प्रतिपादन किया जो बाद में विश्व के कई देशों में व्यावसायिक रूप से अपनाई जाने लगी। लगभग इसी दौरान स्वीटजरलैण्ड और जर्मनी में डॉ. हंस मुलर ने ऐसी कृषि पद्धति का प्रतिपादन किया जिसमें फार्म को संसाधनों एवं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने वाली कृषि पद्धति पर जोर दिया गया।

लेडी एव वेलफोर ने 30 साल तक अनुसंधान कर यह बताया कि खाद्य पदार्थ उत्पादन की विधियों या पद्धतियों का, खाद्य गुणवत्ता तथा मानव एवं मृदा स्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी विचारधारा पर अमेरिका में रोडेल फेमिली द्वारा विस्तृत कार्य किया गया तथा उन्होंने 1947 में मृदा एवं स्वास्थ्य फाउन्डेशन नामक संगठन की स्थापना की। सन् 1963 में आर. कार्सन द्वारा लिखित "साइलेण्ट स्प्रिंग" नामक पुस्तक प्रकाशित होने के पश्चात् पौध एवं जीवनाशी रसायनों के दुष्परिणामों के मामले उजागर हुए तथा इससे प्रभावित होकर जैविक कृषि में रसायनों के प्रयोग पर विशेष नियम समावेशित किए गए।

1980 व 1990 के दशकों में प्रकृति, जैव विविधता संरक्षण, पशु कल्याण, सामाजिक न्याय इत्यादि पहलुओं को कृषि पद्धतियों की कार्यप्रणाली व व्यवसाय दक्षता से जोड़ा जाने लगा जिसका महत्व चहुँमुखी ग्रामीण विकास के सम्बन्ध विशेष रूप से देखा जाने लगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रचलित कृषि पद्धतियों में नए–नए पहलू जुड़ते गये और उनके समाधान स्वरूप स्थान, समय एवं विचारधारा के आधार पर विभिन्न वैकल्पिक कृषि पद्धतियों का विकास होने लगा। इन वैकल्पिक कृषि पद्धतियों को जैविक कृषि, पारिस्थितिकीय कृषि, बायोडायनेमिक, प्राकृतिक, टिकाऊ, ऋषि कृषि, यौगिक खेती, जीरो बजट नेचुरल फार्मिंग, वेगानिक्स, अग्निहोत्र कृषि, परमाकल्चर इत्यादि नामों से पुकारा जाने लगा। लेकिन 1972 में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय जैविक कृषि आन्दोलन फेडरेशन द्वारा जैविक कृषि के सिद्धान्तों, नियमों एवं कार्य प्रणाली को क्रमबद्ध कर दिया गया है जो लगभग सभी देशों के साथ–साथ विश्व खाद्य एवं कृषि संगठन, रोम तथा विश्व व्यापार संगठन द्वारा मान्यता प्राप्त है।

मूलरूप से कई चिन्तक एवं वैज्ञानिक इसे हरित क्रान्ति के दुष्प्रभावों के फलस्वरूप विकसित वैकल्पिक कृषि पद्धति के रूप में देखते है तो अन्य मानव स्वास्थ्य, पर्यावरण संरक्षण तथा जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभावों से निपटने के लिए आवश्यक अच्छी कृषि क्रियाओं की ''बास्केट ऑफ टेक्नोलाजी'' के रूप में मानते हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ''प्रकृति की और लौटो'' के मुददे पर गहन चिन्तन हो रहा है। खाद्य एवं कृषि संगठन, रोम ने वर्श 2014 को ''मृदा स्वास्थ्य वर्ष'' घोषित किया है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली ''परिवार कृषि'' पर जोर दे रहा है, राष्ट्रीय स्तर पर ''मृदा स्वास्थ्य कार्ड'' का बड़ा अभियान चलाया जा रहा है। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर ''राष्ट्रीय परम्परागत कृषि मिशन'' की शुरूआत वर्ष 2015–16 में की गई।

योजना आयोग की सिफारिश के अनुसार भारत के कुल कृषित क्षेत्रफल का 10–15 प्रतिशत क्षेत्रफल जैविक कृषि में लाया जा सकता है। विश्व के अन्य देशों के समान ही भारत में जैविक खेती को बढ़ावा देने की परिस्थितियाँ विद्यमान हैं।

जैविक खेती के सिद्धान्त

अंतराष्ट्रीय जैविक कृषि गतिविधि संघ (इंटरनेशनल फैडरेशन ऑफ ऑर्गेनिक एग्रीकल्चर मूवमेंट्स) के अनुसार जैविक खेती के चार सिद्धांत हैं:

- स्वास्थ्य का सिद्धांतः मृदा, पादप (फसल), पशु और मानव स्वास्थ्य को लगातार बनाए रखना एवं साथ ही उसमें वृद्वि करना। यदि मृदा का स्वास्थ्य अच्छा होगा तभी उसमें उगने वाली फसलों का स्वास्थ्य भी अच्छा होगा। इसी प्रकार यदि पशु अथवा मानव इन स्वस्थ पादपों (फसलों) का सेवन करेंगे तो उनका स्वास्थ्य भी अच्छा होगा।
- पारिस्थितिकी का सिद्धांतः जैविक खेती पारिस्थितिकी एवं सजीव पद्धतियों ओर चक्रों पर आधारित होनी चाहिए। जैविक खेती इन पारिस्थितिक चक्रों के साथ कार्य करें और साथ ही इनकी निरन्तरता बनाए रखने में भी सहायक होनी चाहिए।
- निष्पक्षता अथवा न्याय संगतता का सिद्धांतः जैविक खेती पर्यावरण में उपस्थित सभी जीवों के पारस्परिक संबंधों को सुदृढ़ करने पर विशेष बल देती है, जिससे कि किसी भी जीव के साथ अन्याय न हो और साथ ही उसका अत्यधिक दोहन भी न हो।
- सेवा का सिद्धांतः जैविक खेती को एक जिम्मेदारी के साथ किया जाना चाहिए, जिससे कि वर्तमान जनसंख्या और आने वाली पीढ़ियों के स्वास्थ्य हितों की अवहेलना न हो और साथ ही पर्यावरण स्वास्थ्य पर भी कोई बुरा प्रभाव न पड़े।

जैविक खेती के उद्देश्य

1. जीवन धारण करने योग्य कृषि प्रणाली विकसित करना जिससे भविष्य में आवश्यक मात्रा में पोषक खाद्य उत्पादन हो सके।
2. आत्मनिर्भर कृषि प्रणाली विकसित करना जो वास्तव में हमारे अपने संसाधनों में उपलब्ध सस्ते संसाधनों पर आधारित हों।

3. रासायनिक खेती के विकल्प के रूप में टिकाऊ खेती का विकास तथा जल स्रोतों एवं मिट्टी को प्रदूषण मुक्त रख स्वस्थ पर्यावरण का निर्माण करना।
4. उत्पादन लागत में कमी लाकर टिकाऊ खेती के तरीकों के विकास द्वारा खेती एवं कृषक को स्वावलम्बी बनाना।

जैविक खेती का महत्त्व

जैविक कृषि न केवल भूमि के स्वास्थ्य, बल्कि मानव–मात्र के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयोगी पद्धति है। इसकी बहुपक्षीय उपयोगिताओं को निम्नानुसार देखा जा सकता है–

भूमि की उर्वराशक्ति में टिकाऊपन

जैविक पद्धति में प्रयुक्त की जाने वाली विभिन्न खादें तथा तकनीकें न केवल भूमि को पोषक तत्व उपलब्ध करवाती हैं अपितु भूमि की संरचना तथा जलधारण क्षमता में भी वृद्धि करती हैं। इससे भूमि के स्वास्थ्य तथा गुणवत्ता में सुधार होता है।

पशुधन में बढ़ोतरी

पशुधन का महत्व बढ़ते मशीनीकरण एवं बदलती जीवनशैली से कम होता जा रहा है। बिना पशुधन के कृषि में टिकाऊपन बनाए रखना संभव नहीं है और न ही लाभकारी है। जैव विविधता की दृष्टि से भी यह एक अच्छा संकेत नहीं माना जा सकता। इसके विपरित जैविक पद्धति में पशुधन को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यह माना गया है कि एक एकड़ क्षेत्र में जैविक खेती के लिए एक या इससे अधिक पशुधन उपलब्ध हो तो बेहतर है।

बाह्य आदानों की लागत में कमी

जैविक पद्धति में किसान अधिकतर इनपुट जैसे–खादें तथा कीटनाशक अपने स्थानीय स्रोतों से ही बना लेता है जिसमें विभिन्न कृषि आदानों पर होने वाली लागत में कमी आती है। यद्यपि श्रम लागत में बढ़ोतरी होती है।

वातावरण की शुद्धता

परम्परागत पद्धति में प्रयुक्त किए जाने वाले हानिकारक रसायन न केवल पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं बल्कि ये कृषि हेतु लाभदायक जीवों को भी नष्ट कर देते हैं। जैविक पद्धति में इनका संतुलन बना रहता है तथा इनकी संख्या में भी बढ़ोतरी होती है।

मानव स्वास्थ्य के लिए लाभकारी

परम्परागत कृषि पद्धति में खेती हेतु प्रयुक्त किए जा रहे रसायनों के कारण वायु तथा भूमि प्रदूषण खतरनाक स्तर तक पहुँच गए है। यही नहीं इनके प्रयोग से उत्पादित होने वाले अनाज, सब्जियों तथा फलों में भी विभिन्न रसायनों के अवशेष प्राप्त हो रहे हैं। जो मानव स्वास्थ्य के लिये ''धीमा जहर'' साबित हो रहे हैं। जैविक पद्धति अपनाकर इस बिना रसायन युक्त खाद्य प्राप्त कर सकते हैं तथा इनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली बीमारियों से भी रक्षा होगी।

कम पानी की आवश्यकता

जीवांश खादों के प्रयोग से भूमि को सिंचाई की अपेक्षाकृत कम आवश्यकता पड़ती है क्योंकि ये खादें भूमि की जल धारण क्षमता को बढ़ाती हैं। इस प्रकार सिंचाई की अपेक्षाकृत कम व्यवस्था होने पर भी किसान अच्छी फसल ले सकते है।

कृषि उत्पाद की गुणवत्ता

अधिकांशतः लोग यह जानते है कि वर्तमान में किसान दो प्रकार की पैदावार लेते हैं:– टिकाऊ तथा बिकाऊ। इनमें से टिकाऊ प्रकार की फसल का उपयोग वे स्वयं के लिये करते हैं जबकि बिकाऊ प्रकार की फसल वे बाजार के उद्देश्य से तैयार करते हैं।

मृदा में आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति

जैविक खादों के उपयोग से फसल को सभी 17 आवश्यक तत्वों की पूर्ति एक साथ हो जाती है। जहाँ अधिकांश रासायनिक उर्वरक केवल नाइट्रोजन, फॉस्फोरस तथा पोटाश पर ही केन्द्रित रहते हैं।

जैविक उत्पाद का लाभकारी मूल्य

वर्तमान में अधिकांशः उपभोक्ता रासायनिक विधियों द्वारा पोषित एवं सुरक्षित खाद्यानों तथा उत्पादों के सेवन से होने वाली हानियों के प्रति सचेत हो गए हैं, फलतः ''आर्गेनिक उत्पादों'' के नाम से अलग से दुकानें/बाजारें लगने लगी हैं जिनके लिए जागरूक उपभोक्ता 10 से 30 प्रतिशत तक अधिक मूल्य देने के लिये तैयार रहते हैं। इस प्रकार बाजार को ध्यान रखते हुए फसल का चुनाव कर जैविक पद्धति से खेती करने के अवसर का लाभ लिया जा सकता है।

भारत में जैविक खेती की उपयोगिताः– भारत में जैविक कृषि के प्रोत्साहन के लिए भारत सरकार तथा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद का विशेष जोर है जिसके प्रमुख कारणों को नीचे रेखांकित किया गया है।

1. हरित क्रांति की सूत्रधार फसलों गेहूँ– धान के उच्च उत्पादन स्तर के लिए अपनाई गई रसायनिक एवं सघन पद्धति के दुष्प्रभाव अब खुलकर सामने आ रहे हैं। यह उत्पादन स्तर भूमिगत जल संसाधनों के अत्यधिक इस्तेमाल व भूमि के बहुत ज्यादा दोहन की कीमत पर प्राप्त किया गया। इसके परिणामस्वरूप भूमिगत जलस्तर तेजी से गिरता जा रहा है और भूमि की उर्वरा शक्ति कम होती जा रही है। इन फसलों में खरपतवार, कीट और बीमारियों में वृद्धि के साथ–साथ इनमें रसायन रोधी क्षमता विकसित हो रही हैं। इन सबके कारण किसान को उत्पादन स्तर बनाए रखने के लिए पहले से कहीं ज्यादा व्यय करना पड़ता है जो सीधे तौर पर फसल के लागत मूल्य को बढ़ाने के साथ–साथ मुनाफा कम करता जा रहा है।

2. गेहूँ– धान के लगातार उत्पादन से भूमि और पौधों में कुछ विशेष तत्वों जैसे सल्फर, लोहा, ताँबा, फॉस्फोरस, मैंगनीज

आदि की कमी होने लगी है जिसके फलस्वरूप पशुओं में उत्पादन और प्रजनन क्षमता प्रभावित हो रही है। इसका प्रभाव पशुपालकों को आर्थिक नुकसान के रूप में सहन करना पड़ रहा है।

1. "दीर्घावधि उर्वरक प्रयोग" पर अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो चुका है कि बिना खादों व कार्बनिक पदार्थों के उपयोग व केवल उर्वरकों के बलबूते पर फसल की अधिकतम उपज को लगातार बनाए रखना असंभव है।
2. हमारे देश की बढ़ती खाद्यान्न आवश्यकता व कुल पोषक तत्वों की उत्पादन क्षमता का आकलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे देश की पोषक तत्वों की माँग व खपत में लगभग 8 से 10 मिलियन टन का अंतर है। अगर वर्तमान स्तर का खाद्यान्न उत्पादन बनाए रखना है तो पोषक तत्वों के वैकल्पिक स्रोतों पर विचार करना होगा तथा किसानों को इनके प्रयोगों के बारे में जानकारी देनी होगी।
3. बढ़ते हुए प्रतिस्पर्धा के युग में कृषि उपज को लागत प्रभावी बनाने की आवश्यकता है। इसके लिए कम कीमत वाले संसाधनों का उपयोग कर टिकाऊ उत्पादन करना।
4. राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निरन्तर माँग, बाजार के स्वरूप में परिवर्तन के कारण किसानों की बाजार में पहुँच, गुणात्मक उपज का उचित मूल्य एवं मूल्य नीतियों तथा निजी कम्पनियों के व्यापार तरीकों व माध्यमों की उचित जानकारी पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता बढ़ती जा रही है।
5. विश्व व्यापार सघं के नियमों का भारत में धीरे–धीरे क्रियात्मक रूप लेने से कृषि उपज के गुणात्मक स्वरूप पर उपभोक्ता, निजी कम्पनियों व व्यापारिक वर्ग का ध्यान आकर्षित होने से कृषि विधियों, खाद, बीज, सिंचाई इत्यादि घटकों के प्रयोग में एक विशेष सावधानी रखने का संकेत चारों तरफ फैल रहा है।
6. कृषि निर्यात की संभावनाओं तथा डब्ल्यू.टी.ओ. व्यापार नीति के चलते हमें गेहूँ, धान, आर्गेनिक मसाले इत्यादि के निर्यात के लिए इन फसलों की अच्छी माँग वाली किस्मों के अलावा इनकी गुणवत्ता भी अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप रखनी होगी। हमारे यहाँ उगाए जाने वाले कृषि उत्पाद जैसे फल, सब्जी, जीरा आदि गुणवत्ता, सफाई व फाइटा सेनेटेरी उपायों के अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप नहीं होते।

भारत में जैविक खेती का भविष्य

भारत में सन् 1993 में कृषि मंत्रालय द्वारा गठित तकनीकी समिति ने पहली बार सैद्वान्तिक रूप से यह अनुमोदित किया कि भारत में रासायनिक पदार्थों के खेती में अधिक उपयोग को हतोत्साहित करना चाहिए तथा क्रमबद्ध तरीके से इनका उपयोग कम किया जाना चाहिए तथा जैविक कृषि के सिद्वान्तों को लागू करना चाहिए। अप्रैल, 2000 में वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय, भात सरकार द्वारा राष्ट्रीय जैविक उत्पादन कार्यक्रम की शुरूआत की गई। सरकार द्वारा 1 जुलाई, 2001 से ऑर्गेनिक प्रोडक्ट प्रमाणीकरण के लिए चार संस्थाओं, स्पाइस बोर्ड, टी बोर्ड, कॉफी बोर्ड एवं एपीडा को अधिकृत एजेन्सी बनाया गया। दसवीं पंचवर्षीय योजना के तहत भारत सरकार ने जैविक खेती को राष्ट्रीय प्राथमिकता क्षेत्र घोषित किया। वर्ष 2004 में राष्ट्रीय जैविक खेती केन्द्र, गाजियाबाद (उत्तरप्रदेश) में स्थापित किया गया। 18 जनवरी, 2016 को सिक्किम को देश का प्रथम जैविक राज्य घोषित किया गया। राष्ट्रीय टिकाऊ कृषि मिशन (NMSA), परम्परागत कृषि विकास योजना (PKVY), राष्ट्रीय कृषि विकास योजना (RKVY), एकीकृतबागवानी विकास मिशन (MIDH), राष्ट्रीय तिलहन बीज एवं ऑयल पाम मिशन (NMOOP) तथा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के जैविक खेती नेटवर्क परियोजना के माध्यम से जैविक खेती को विभिन्न अनुसंधान एवं विस्तार कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया जा रहा है।

वर्तमान में जैविक खेती विश्व के लगभग 179 देशों में 509 लाख हैक्टर भूमि पर 24 लाख कृषकों द्वारा की जा रही है (FiBL & IFOAM Year Book 2017)। जैविक खेती का विस्तार हो रहा है। वर्ष 2015–16 में भारत में जैविक खेती के अंतर्गत कुल 57.1 लाख हेक्टेयर प्रमाणित क्षेत्र था। जिसमें से 42.2 लाख हेक्टेयर वन्य/जंगली और 14.9 लाख हेक्टेयर कर्षित क्षेत्र था। वर्ष 2015–16 में 13.5 लाख टन जैविक उत्पादों का उत्पादन किया गया। मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, उत्तराखंड, केरल, कर्नाटक, असम, सिक्किम और अन्य उत्तर–पूर्वी राज्य जैविक खेती को अपनाने वाले प्रमुख राज्य हैं। इसमें सोयाबीन, कपास, गन्ना, तिलहन, दलहन, बासमती धान, मसाले, चाय, फल, सूखे फल, सब्जियाँ, कॉफी और उनसे प्राप्त मूल्य संवर्धित उत्पाद शामिल हैं।

भारत में निम्न कारणों से जैविक खेती की प्रचुर संभावनाएँ हैं–

1. **संसाधनों की उपलब्धता** – देश की विविध जलवायु, अपार प्राकृतिक सम्पदा, समृद्ध पशुधन, उपभोक्ता बाजार, रासायनिक उर्वरकों के प्रति इकाई क्षेत्र में कम खपत, इत्यादि के कारण देश में जैविक खेती की प्रचुर संभावनाएँ हैं। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में श्रम की उपलब्धता सस्ती व आसान होने से भारतीय जैविक उत्पाद विश्व स्तर पर अधिक प्रतिस्पर्धी सिद्ध हो सकते हैं।
2. **प्रति इकाई क्षेत्र में पेस्टीसाइड एवं उर्वरकों की कम मात्रा का उपयोग** – भारत में अधिकतर छोटे और मध्यम श्रेणी के कृषकों के खेतों पर प्रति इकाई क्षेत्रों में रासायनिक उर्वरकों उवं अकार्बनिक पदार्थों की खपत

अन्य देशों की तुलना में कम है। भारत का वर्ष 2014 में औसत उर्वरक एवं पेस्टीसाइड की खपत क्रमाशः 128 किग्रा./हे. तथा 310 ग्राम प्रतिहेक्टेयर था। इसी प्रकार नत्रजन, फॉस्फोरस एवं सूक्ष्म तत्वों पोटाश की पोषक तत्व उपयोग दक्षता 33, 15 एवं 20 प्रतिशत थी जो कि कम है। साथ ही देश के पहाड़ी व उत्तर–पूर्वी राज्यों में जहाँ उर्वरक उपयोग 25 से 50 किग्रा. प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष है, ऐसे क्षेत्र में कृषकों के खेतों पर जैविक खेती से अधिक फायदा लिया जा सकता है। भारत में आज भी कई गाँवों में कृषक परम्परागत पद्धति से खेती कर रहे हैं जिसमें फसलों के साथ पशुपालन, वानिकी व चरागाह प्रबंधन में सामंजस्य से जीवन यापन कर रहे हैं। ऐसे किसान जैविक खेती के घटकों को अपनाकर बिना रसायनों के खेती कर लाभ ले सकते हैं।

3. **कार्बनिक अवशिष्टों की उपलब्धता** – भारत में काफी मात्रा में प्रतिवर्ष कार्बनिक अवशिष्टों का उत्पादन होता है। देश में प्रतिवर्ष उपलब्ध 280 मिलियन टन गोबर, 273 मिलियन टन फसल अवशेष, 6351 मिलियन टन कूड़ा–करकट तथा 22 मिलियन हेक्टेयर में उगाई जाने वाली दलहनी फसलों का उचित उपयोग कर जैविक माध्यम से फसलों की पोषक तत्वों की माँग पूरी की जा सकती है।
4. **निर्यात की संभावना** – भारत में विविध जलवायु के कारण गुणवत्तायुक्त फसलें जैसे मसाले, औषधीय एवं संगधीय फसलें, बासमती व अन्य चावल, फल, सब्जियाँ, कपास, चाय, कॉफी, ड्यूरम (काठिया) गेहूँ आदि की जैविक खेती की जाकर तथा उनका निर्यात कर विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है। इस प्रकार जैविक खेती से प्राकृतिक संसाधन सुरक्षित रख कर देश को स्वावलम्बी बना सकते हैं।
5. **प्रमाणीकरण संस्थाओं की उपलब्धता** – जैविक खेती की मुख्य समस्या है जैविक उत्पादों का प्रमाणीकरण। जैविक उत्पादों का विदेशी प्रमाणीकरण संस्थाओं द्वारा प्रमाणीकरण की प्रक्रिया काफी महंगी पड़ती है। परन्तु आज देश में 26 से ज्यादा संस्थाओं को सरकार ने अधिकृत कर जैविक प्रमाणीकरण के कार्य को सुविधाजनक कर दिया है। साथ ही सहभागिता गारण्टी पद्धति से आम किसान भी बहुत कम लागत में जैविक प्रमाणीकरण करवा सकता है।

2.2 जीवांश खाद एवं उनकी उपयोगिता

जल, वायु तथा प्रकाश के अतिरिक्त जीवों के लिए प्रकृति की सबसे महान देन भूमि है। यदि भूमि की उर्वरता एवं उत्पादकता कम रहेगी तो उत्पादन कम हो सकता है। इसलिए हमको धरती–माता की भूख मिटाने के लिए कोई कसर नहीं रखनी चाहिए। धरती माता के सपूत, जो धरती की हर प्रकार की भूख–प्यास की चिन्ता करते हैं, धरती–माता के धन के सच्चे अधिकारी हैं।'' – महात्मा गाँधी

एक लोकोक्ति है ''खाद पड़ें तो खेत, नहीं तो मिट्टी रेत'' अर्थात् खेत खाद से ही बनता है नहीं तो केवल मिट्टी रेत ही है। अतः खाद से ही खेत की उत्पादन क्षमता बढ़ती है।

खाद– पौधों को आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति के लिए वे सभी कार्बनिक पदार्थ जो भूमि में मिलाये जाने पर, भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाते हैं, खाद कहलाते हैं।

खाद का अभिप्राय प्राकृतिक पदार्थों से है। इनमें पशु–पक्षियों का मल–मूत्र, पेड़–पौधे, घास–चारा आदि के अवशेष सम्मिलित होते हैं। स्थूल कार्बनिक खादों में गोबर की खाद, कम्पोस्ट, हरी खाद आदि व सान्द्रित कार्बनिक खादों में खलियाँ, हड्डी की खाद आदि आते हैं।

खाद शब्द की उत्पत्ति संभवतया संस्कृत के शब्द 'खाद्य' से हुई, जिसका अर्थ भोजन से है। भोजन संतुलित एवं पूर्ण हो, तभी पेड़–पौधे अपनी वृद्धि एवं विकास पूर्णरूपेण कर सकते हैं। ऐसा संतुलित एवं पूर्ण भोजन पौधों को केवल जीवांश खाद से ही प्राप्त हो सकता है।

जीवांश शब्द का सन्धि विच्छेद है– जीव + अंश। अतः जीवांश खाद उस खाद को कहते हैं, जिसमें जीव का अंश हो, ऐसी खाद को प्राकृतिक या जैविक या कार्बनिक खाद भी कहते हैं। जीवांश खाद में मुख्यतः गोबर की खाद, हरी खाद, कम्पोस्ट, खली की खाद, हड्डी की खाद, पोल्ट्री खाद, मछली की खाद, रक्त की खाद, मानव विष्टा की खाद आदि आती है। जैविक उर्वरक जैसे राइजोबियम, एजोटोबेक्टर, नील हरित शैवाल आदि भी जीवांश खाद ही हैं।

जीवांश खादों की उपयोगिता

सघन खेती में समन्वित पौध पोषण प्रणाली का एक महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में ही नहीं अपितु विश्व में कृषि उत्पादन में 50 प्रतिशत वृद्वि रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से ही हुई। वर्तमान समय में उच्च विश्लेषण उर्वरकों जैसे यूरिया, डाइअमोनियम फॉस्फेट और म्यूरेट ऑफ पोटाश के अधिक प्रचलन के कारण मृदा में गौण व सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी आ रही है। भारत में 47 प्रतिशत मृदाओं में जस्ता, 11.5 प्रतिशत में लोहा, 4.8 प्रतिशत में ताँबा तथा 4 प्रतिशत मृदाओं में मैंगनीज की कमी है जिनका प्रभाव फसलों पर पड़ रहा है। दलहन, तिलहन तथा अधिक उपज देने वाली फसलों में गन्धक प्रयोग आवश्यक हो गया है। भारतीय मृदाओं में जैविक कार्बन की सर्वत्र कमी है। जीवांश खादें जैसे गोबर की खाद, हरी खाद, जैव उर्वरक, कम्पोस्ट आदि मृदा उर्वरता बनाये रखने, उत्पादन को स्थिर रखने एवं पोषक तत्वों का सही परिणाम प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। जीवांश खादों का प्रभाव न केवल एक फसल तक ही सीमित नहीं रहता है बल्कि उनका प्रभाव 2–3 वर्षों तक रहता है जीवांश खादों के उपयोग से मृदा में जैविक कार्बन स्तर में भी सुधार आता है।

पौधों को अपना जीवन पूर्ण करने के लिए 17 पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है जोकि केवल उर्वरकों के प्रयोग से पूर्ण नहीं की जा सकती है। आवश्यक मात्रा में जीवांश खादों के प्रयोग से प्रमुख तत्वों के साथ–साथ गौण व सूक्ष्म पोषक तत्वों की पूर्ति भी आसानी से हो जाती है। जैविक खेती में फसल को पोषक तत्वों की आपूर्ति के लिए संश्लेषित उर्वरकों का प्रयोग वर्जित है अतः जैविक खेती पूर्णतया कार्बनिक या जीवांश खादों पर ही निर्भर है। इसलिए जैविक खेती में जीवांश खादों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

जीवांश खाद के उपयोग से मृदा की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक तीनों ही अवस्थाओं में सुधार होता है। इसकी उपयोगिता निम्न बिंदुओं से स्पष्ट है–

(i) मृदा की भौतिक अवस्था पर प्रभाव

1. भूमि की संरचना में सुधार होता है। रेतीली हल्की मिट्टी सघन तथा दानेदार संरचना की हो जाती है। भारी भूमि हल्की तथा भुरभुरी हो जाती है।
2. मृदा की जलधारण क्षमता में वृद्धि होती है।
3. मृदा में वायु संचार में वृद्धि होती है।
4. पानी व वायु द्वारा मृदा अपरदन कम हो जाता है, जिससे मृदा संरक्षण होता है।
5. मृदा ताप नियंत्रण में रहता है।
6. पौधों की जड़ों का विकास अच्छा होता है।
7. भूमि में जल निकास अच्छा हो जाता है।

(ii) मृदा की रासायनिक अवस्था पर प्रभाव

1. पौधों को सभी आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति के साथ–साथ हारमोन्स व एन्टीबायोटिक्स की भी प्राप्ति होती है जो विशेष लाभकारी होते हैं।
2. क्षारीय मृदा का पी.एच. मान कम हो जाता है।
3. मृदा की क्षारीयता तथा लवणीयता में सुधार होता है।
4. मृदा में कार्बन की मात्रा बढ़ जाती है।
5. मृदा में पाये जाने वाले विषैले पदार्थों का प्रभाव कम हो जाता है।
6. जीवांश खाद के उपयोग व अपघटन से मृदा में स्थिर तत्व विलेयशील होकर पौधों को आसानी से उपलब्ध होते हैं।
7. मृदा की उभय प्रतिरोधी क्षमता बढ़ती है।
8. मृदा की धनायन विनिमय क्षमता में वृद्धि होती है।

(iii) मृदा की जैविक अवस्था पर प्रभाव

1. मृदा में लाभदायक जीवाणुओं की संख्या में वृद्धि होती है।
2. जीवाणुओं की क्रियाशीलता में वृद्धि होने के कारण पौधों को पोषक तत्व प्राप्त होते रहते हैं।
3. जीवांश खादें सूक्ष्म जीवों के लिए भोजन व उर्जा प्रदान करती हैं जिससे सूक्ष्म जीवों द्वारा मृदा में होने वाली क्रियाएँ जैसे– नाइट्रीकरण, अमोनीकरण (ऑक्सीकरण) तथा नाइट्रोजन स्थिरीकरण में बढ़ोतरी हो जाती है।
4. मृदा में वायु से नाइट्रोजन का स्थिरीकरण तीव्र गति से होने लगता है।
5. जीवाणु जटिल पदार्थों को विच्छेदित कर आयनिक रूप में पौधों को उपलब्ध कराते हैं।

अतः जीवांश खाद के उपयोग से मृदा की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक अवस्थाओं में सुधार होने पर मृदा से फसलों का टिकाऊ उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। कार्बनिक खादों के साथ–साथ रासायनिक उर्वरकों के संतुलित उपयोग से न केवल अधिकतम उपज ली जा सकती है, बल्कि दीर्घ अवधि तक इनके प्रयोग से भूमि के उर्वरता स्तर में भी सुधार किया जा सकता है।

जीवांश खाद का वर्गीकरण – जीवांश खादों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है–

- स्थूल कार्बनिक खादें – ऐसी जीवांश खादों में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा अधिक एवं पोषक तत्वों की मात्रा कम होती है। जैसे – गोबर की खाद, कम्पोस्ट, वर्मीकम्पोस्ट, हरी खाद, मानव विष्ठा, चिड़ियों की बीट, अपवक, गंदे नालों की खाद, मैले की खाद आदि।
- सान्द्र कार्बनिक खादें – ऐसी जीवांश खादों में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा कम एवं पोषक तत्वों की मात्रा अधिक होती है। जैसे – खलियाँ, हड्डी का चूरा, सूखा रक्त, मछली की खाद आदि।

2.3 जीवांश खादें बनाने की विधि एवं प्रयोग

2.3.1. गोबर की खाद

गोबर की खाद का प्रयोग हमारे देश में प्राचीन काल से हो रहा है। गोबर की खाद से तात्पर्य ऐसी खाद से है जिसमें घरेलु पशुओं (गाय, भैंस, बैल, भेड़, बकरी, ऊँट आदि) के ठोस तथा द्रव मल–मूत्र से सनी बिछावन (पुआल, भूसा, चारा, पेड़–पौधों की पत्तियाँ, रेत आदि) को गड्ढों में सड़ाकर तैयार किया जाता है।

गोबर की खाद के मुख्य घटक – गोबर की खाद के तीन मुख्य घटक (अवयव) गोबर, मूत्र और बिछावन हैं।

1. **गोबर** – पशुओं के मल (गोबर) के ठोस पदार्थ में कई अघुलनशील व बिना पचे पदार्थ होते है। इसके अतिरिक्त 0.3–0.7 प्रतिशत नाइट्रोजन, 0.25 प्रतिशत फॉस्फोरस व 0.3–0.5 प्रतिशत पोटेशियम तथा कुछ गौण व सूक्ष्म पोषक तत्व आदि होते है।
2. **मूत्र** – मूत्र का मुख्य अवयव यूरिया है, यह 2 प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त मूत्र में अनेक रासायनिक पदार्थ घुलनशील अवस्था में होते हैं। मूत्र में नाइट्रोजन 0.4–1.35 प्रतिशत, फॉस्फोरस 0.05–0.10 प्रतिशत व पोटेशियम 0.5–2.0 प्रतिशत होता है।

3. **बिछावन** – पशुओं के मूत्र को शोषित करने के लिये बिछावन का प्रयोग करते है। बिछावन में पौधे के लिये आवश्यक पोषक तत्व भी उपलब्ध अवस्था में पाये जाते हैं। बिछावन से खाद के ढ़ेर में वायु का संचार अच्छा होता है, जिससे जीवाणुओं की क्रियाशीलता बढ़ती है तथा खाद सड़ने में मदद मिलती है।

गोबर की खाद में पोषक तत्व – गोबर की खाद में सभी पोषक तत्व जैसे– नाइट्रोजन, फॉस्फोरस, पोटेशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम, गंधक, लोहा, ताँबा, जस्ता, मैंगनीज आदि पाये जाते हैं।

गोबर की खाद में मुख्य तत्वों की मात्रा – नाइट्रोजन 0.5 प्रतिशत, फॉस्फोरस 0.25 प्रतिशत एवं पोटेशियम 0.5 प्रतिशत।

गोबर की खाद में उपस्थित तत्वों की मात्रा, पशुओं की किस्म, पशुओं की आयु, उनके भोजन, कार्य, बिछावन व खाद संग्रह करने की विधि पर निर्भर करती है।

गोबर की खाद तैयार करने की विधि –

1. **वर्तमान प्रचलित विधि** – हमारे देश में गोबर की खाद तैयार करने की वर्तमान प्रचलित विधि दोषपूर्ण है। इससे प्राप्त खाद में पोषक तत्वों की मात्रा कम होती है व खाद की गुणवत्ता निम्न स्तर की होती है। मिट्टी द्वारा सोखा गया मूत्र तथा बचा हुआ चारा ढेर के रूप में खुले गड्ढों में इकट्ठा कर लेते हैं। अधिकांश गोबर को ईंधन के रूप में काम में लिया जाता है।
2. **संशोधित गड्ढा विधि** –इस विधि से खाद बनाने के लिये एक पशु के लिए 1.10 मीटर गहरा, 2.0 मीटर चौड़ा व 3. 0 मीटर लम्बा गड्ढा एक वर्ष के लिए पर्याप्त रहता है। पशुओं की संख्या अधिक होने पर गड्ढों की गहराई, लम्बाई व चौड़ाई बढ़ाने की अपेक्षा उनकी संख्या बढ़ाना उचित रहता है। रेतीली भूमि में गड्ढे पक्के बनाने चाहिए जिससे पोषक तत्वों का ह्रास रिसकर न हों। चिकनी भूमि में पक्के व कच्चे दोनों प्रकार के गड्ढे बनाये जा सकते है। गड्ढे छायादार व ऊँचे स्थान पर बनाने चाहिये जिससे वर्षा का पानी गड्ढो में न भरे।

   सर्वप्रथम गड्ढे के पैंदे में 10–20 सेमी. की परत चारे या बिछावन की लगानी चाहिये। इसके बाद गोबर व मूत्र की 75–100 सेमी. परत डालनी चाहिए। तीसरी परत पुनः बिछावन की 75–100 से.मी. मोटी डालें। इस क्रम में गड्ढे की भराई भूमि सतह से 50 सेमी. ऊँचाई तक करें। इसके बाद ढेर को समतल कर 10 सेमी. मिट्टी की परत से गड्ढे को बन्द कर देना चाहिए। गड्ढे में खाद 5–6 माह में सड़कर तैयार हो जाता है।
3. **ट्रेंच विधि** – इस विधि में 6.0 मीटर लम्बाई, 1.5 मीटर चौड़ाई व 1.0 मीटर गहराई की ट्रेंच (खाई या नाली) तैयार की जाती है। इस विधि में ट्रेंच की लम्बाई बढ़ाई जा सकती है, परन्तु गहराई नहीं बढ़ाते है। इस विधि में बिछावन, मल–मूत्र आदि को गड्ढे के आधे भाग में भरते हैं। जब गड्ढे का आधा भाग भरते–भरते भूतल से आधा मीटर ऊँचा हो जाता है तो उसे गोलाकार या डोम आकार का रूप देकर गोबर तथा मिट्टी के मिश्रण से लेप देते हैं।

   आधा भाग भर जाने के पश्चात् गड्ढे के दूसरे भाग को भर कर इसी प्रकार लेप करते हैं। इस विधि की विशेषता यह है कि जब तीन माह में दूसरा ढ़ेर बनता है तब तक पहले ढ़ेर की खाद सड़कर प्रयोग के लिये तैयार हो जाती है। इस तरह एक ही गड्ढे से पूरे वर्ष सड़ी हुई खाद खेत मे देने के लिए प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार तैयार की गई खाद में नाइट्रोजन की मात्रा भी अधिक होती है।

सड़ी हुई गोबर की खाद की पहचान– अच्छी सड़ी हुई गोबर का कोई भी घटक अलग से नही दिखाई देता है, खाद में किसी तरह की दुर्गन्ध नहीं आती है, खाद भुरभुरी तथा उसका रंग हल्का भूरा होता है।

गोबर के खाद की प्रयोग विधि – साधारणतया सभी फसलों में 10–15 टन प्रति हेक्टेयर व सब्जियों में 20–25 टन प्रति हेक्टेयर गोबर की खाद की मात्रा प्रयोग में लेते हैं। बुआई के 3–4 सप्ताह पूर्व अच्छी सड़ी हुई गोबर की खाद का प्रयोग करते हैं। खेत में खाद को समान रूप से बिखेरकर हल से जुताई करके मिट्टी में मिलाते हैं। खेत में खाद डालने के बाद ज्यादा समय तक खुले में नही छोड़ना चाहिए अन्यथा खाद से नाइट्रोजन का ह्रास होता है। यदि खेत में कुछ समय के लिए खाद को खुला छोड़ना हो तो छोटी–छोटी ढेरियाँ नहीं करके बड़े ढेर के रूप में ही खाद को खेत में खुला छोड़ें।

2.3.2. कम्पोस्ट

कम्पोस्टिंग एक जैव–रासायनिक क्रिया जिसमें वायवीय तथा अवायवीय जीवाणु कार्बनिक पदार्थो को विघटित कर बारीक खाद बनाते हैं। यह पूर्ण सड़ा हुआ कार्बनिक पदार्थ की कम्पोस्ट कहलाता है। भारत में तैयार किया जाने वाला कम्पोस्ट इस प्रकार है –

1. **फार्म अवशिष्टों से तैयार कम्पोस्ट** – इसमें खरपतवार, फसल अवशेष, पशुओं का बचा हुआ चारा, पेड़–पौधों की पत्तियाँ आदि काम में लिये जाते हैं।
2. **शहर व कस्बों के अवशिष्ट से तैयार कम्पोस्ट** – यह शहर का मल, कूड़ा–करकट अन्य कार्बनिक कचरा आदि से तैयार किया जाता है।

कम्पोस्ट बनाने की विधियाँ

1. इन्दौर विधि
2. बंगलौर विधि
3. नेडेप विधि

1. **इन्दौर विधि** – यह विधि ए. होवार्ड तथा यशवन्त डी. वाड के द्वारा **''इन्स्टीट्यूट ऑफ प्लांट न्यूट्रीशन''** इन्दौर में वर्ष 1924 से 1931 के मध्य विकसित की गई। इस कारण इसको इन्दौर विधि कहते हैं। इस विधि में पशुओं के गोबर, फसलों व पौधों के अवशेष तथा अन्य अवशिष्टों का प्रयोग कर कम्पोस्ट तैयार की जाती है।

इस विधि में कम्पोस्ट वायवीय दशा में चार माह में तैयार हो जाती है।

विधि – इन्दौर विधि से कम्पोस्ट बनाने की विधि इस प्रकार है –

1. **गड्ढे का आकार** – गड्ढे की लम्बाई 10 फीट या आवश्यकतानुसार बढ़ा सकते हैं। गड्ढे की चौड़ाई 6–8 फीट रखते हैं तथा गहराई 2–3 फीट रखते हैं। गड्ढे की गहराई 3 फीट से अधिक नहीं रखनी चाहिए। गड्ढा सदैव ढालू जगह पर बनाना चाहिए।

2. **कम्पोस्ट बनाने के लिये आवश्यक सामग्री** –
   (अ) पौधों व फसलों के अवशेष, खरपतवार, गन्ने की पत्तियाँ, लकड़ी की राख, धान की चूरी आदि मिश्रण।
   (ब) पशुओं की गोबर बिछावन सहित।
   (स) पशुओं के मूत्र से सोखी हुई मिट्टी भी कम्पोस्ट में काम में लेते हैं।
   (द) लकड़ी की राख, जो कम्पोस्ट की अम्लीयता कम करती है तथा पोटाश की मात्रा बढ़ाती है।

3. **गड्ढ़ा भरने की विधि** – गड्ढे के प्रत्येक भाग में अपशिष्ट अलग–अलग परत में भरते है। पहली परत में पशुशाला से इकट्ठे किये गये कचरे की 3 इंच माटी परत रैक की सहायता से फैला देते हैं। अगर लकड़ी की राख उपलब्ध हो तो पशु मूत्र व कीचड़ के साथ उसके ऊपर फैला दें। उसके ऊपर 2 इंच मोटी गोबर की परत बिछाकर उसके ऊपर हल्की मिट्टी बिखेर देते हैं। पूरी सामग्री को गीला करने के लिए पर्याप्त मात्रा में पानी का छिड़काव करते हैं। इस प्रकार परत के बाद परत लगाते हुये गड्ढे को भरते है। गड्ढे को तब तक भरते रहें जब तक पूरी सामग्री की परत जमीन से एक फीट ऊपर तक न हो जाए। गड्ढे की लम्बाई के तीन–चौथाई भाग के भरने में 6–7 दिन से अधिक समय नहीं लगाना चाहिये तथा एक–चौथाई भाग को पलटने के लिए खाली रखना चाहिए। अन्त में बिछावन के साथ तथा पशु मूत्र की एक परत लगानी चाहिए। सुबह–सायं पानी का छिड़काव करें तथा इसे तीन बार दोहरायें। इस प्रकार कूड़े–करकट तथा गोबर द्वारा प्रचुर मात्रा में पानी सोख लिया जाता है तथा इसका प्रारम्भ हो जाता है, जिससे ढेर धीरे–धीरे सिकुड़ने लगता है। पूरे खाद को हफ्ते मे एक बार पलट दें। पहली, दूसरी व तीसरी पलटाई के समय पानी से भली भाँति गीला करते रहें।

4. **कम्पोस्ट को पलटना** – जीवाणुओं द्वारा विघटन के लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण सामग्री को भली–भाँति पलटकर मिला दिया जाए, ताकि वायु व नमी प्रचुर मात्रा में मिल सके। गड्ढों में सामग्री दबकर भूमि की सतह तक आ जायें तब गड्ढा भरने के 10–15 दिन बाद पूरा अपशिष्ट पलट दें। इस क्रिया में ऊपर का अपशिष्ट नीचे व नीचे का अपशिष्ट ऊपर आ जाता है। इसके बाद पानी का अच्छी प्रकार छिड़काव कर अपशिष्ट को नम कर लें। पहली पलटाई के बाद दूसरी पलटाई 15 दिन बाद करें तथा अन्तिम पलटाई दो माह बाद करें। तीन माह बाद अच्छी कम्पोस्ट तैयार हो जाती है।

वर्षा ऋतु में इस पद्धति से कम्पोस्ट जमीन के ऊपर ढेर बनाकर भी तैयार की जा सकती है लेकिन ढेर की ऊँचाई 2 फीट से अधिक नहीं होनी चाहिए।

2. **बैंगलोर विधि** – इस विधि का विकास सी.एन. आचार्य ने इण्डियन इन्सटीट्यूट ऑफ साइन्स, बैंगलोर में किया। यह एक अवायुवीय विधि है तथा इस विधि का प्रयोग शहरी क्षेत्रों में खाद बनाने के लिए किया जाता है। इस विधि की मुख्य विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत खाद की पलटाई नहीं की जाती है।

   इस विधि से खाद तैयार करने के लिए सर्वप्रथम खाइयाँ या ट्रेंच तैयार की जाती है। ट्रैचों का आकार शहर की आबादी पर निर्भर करता है। ट्रेंच की तली में 8'' से 10'' मोटी अवशेष पदार्थों की एक तह बिछाई जाती है। इसके ऊपर मानव विष्टा की 2'' मोटी तह बिछाते हैं । कचरा एवं विष्टा की एक तह के बाद दूसरी तह लगाते हुए भूतल से लगभग एक फुट ऊँचा कर लेते हैं। इसके बाद इसको 2.5 सेमी. मिट्टी की परत से ढक कर गोबर से लिपाई कर देते हैं। इस विधि में इन्दौर विधि की अपेक्षा श्रम की आवश्यकता कम होती है। इस विधि में पूर्ण विघटित खाद की मात्रा इन्दौर विधि से ज्यादा प्राप्त होती है।

3. **नेडेप कम्पोसट** – यह विधि महाराष्ट्र के कृषक नाडेप काका द्वारा विकसित की गई। इस विधि में निम्न सामग्री काम में ली जाती है।
   (अ) फार्म अवशेष, अपशिष्ट, कम्पोस्ट बनाने के लिये आवश्यक सामग्री– कपास व अरहर के डंठल, गन्ने की पत्तियाँ आदि करीब 1400–1500 किग्रा.।
   (ब) पशुओं की गोबर–90–100 किग्रा. (8–10 टोकरी)।
   (स) सूखी छनी मृदा– 1750 किग्रा. (120 टोकरी, पशुमूत्रयुक्त मिट्टी अधिक लाभकारी होती है)।
   (द) पानी मौसम अनुसार (वर्षा में कम तथा शुष्क मौसम में प्रचुर मात्रा में 1500–2000 लीटर होती है)।

   इस विधि में पशुओं के गोबर का कम प्रयोग किया जाता है। इस विधि में वायवीय प्रक्रिया द्वारा कार्बनिक पदार्थो का विघटन होता है तथा कम्पोस्ट तैयार होने में 90–120 दिन का समय लगता है। इस विधि से तैयार कम्पोस्ट में 0.5 –1.5 प्रतिशत नाइट्रोजन, 0.5–0.9 प्रतिशत फॉस्फोरस व 1.2–1.4 प्रतिशत पोटाश होता है।

नेडेप कम्पोस्ट टैंक – ईटें या पत्थर आदि से जमीन के ऊपर टैंक (होदी) तैयार की जाती है। टैंक का आकार आयताकार जिसके अन्दर की लम्बाई 10 फीट, चौड़ाई 6 फीट तथा ऊँचाई 9 फीट रखते हैं। टैंक की दीवार 9 इंच मोटी होनी चाहिए। ईंटों की जुड़ाई मिट्टी से करते है,

सिर्फ टैंक की ऊपरी ईंटें सीमेन्ट से जोड़ते है जिससे टैंक गिरने का डर न रहें। हवा के आवागमन के लिए टैंक की चारों दीवारों में 7 इंच चौड़े छेद छोड़ने चाहिए। ईंट की दो परत के बाद तीसरी परत को जोड़ते समय प्रत्येक ईंट की जुड़ाई के बाद 7 इंच का छेद छोड़कर जुड़ाई करते हैं। इस प्रकार तीसरी, छठी तथा नवीं परत में छेद रखते हैं। यह छिद्र एकान्तर में छोड़े जाते हैं, एक के ऊपर दूसरा छिद्र न आये यह ध्यान रखना चाहिए। टैंक के अन्दर व बाहर की दीवारों और फर्श को टैंक भरने से पूर्व गोबर व मिट्टी के मिश्रण से भली प्रकार लीप देना चाहिए। टैंक सूखने के बाद ही प्रयोग में लायें।

टैंक भरने की विधि – टैंक भरने से पूर्व गोबर के घोल का छिड़काव टैंक के नीचे तथा दीवारों के अन्दर कर लेना चाहिए। टैंक की भराई 48 घण्टों में पूर्ण कर लेनी चाहिए अन्यथा कम्पोस्ट बनने की प्रक्रिया में बाधा आती है।

प्रथम परत (वानस्पतिक पदार्थ) – पहली 6 इन्च की परत फार्म के वानस्पतिक अवशेषों से भर देनी चाहिए, जो करीब 100 किग्रा. होते हैं।

दूसरी परत (गोबर का घोल) – गोबर या गोबर की लेही (करीब 4–5 किग्रा. गोबर को 125–150 लीटर पानी में घोल) का पहली परत पर एकसार छिड़काव करते हैं।

तीसरी परत (साफ सूखी छनी मिट्टी) – इस परत में 50–60 किग्रा. (4–5 टोकरी) साफ सूखी छनी मिट्टी की परत एकसार बिछा देते हैं तथा इसके ऊपर पानी का छिड़काव कर गीला कर लेते हैं।

इस प्रकार के तीन क्रमों में टैंक में परत बनाते रहते हैं जब तक ढेर टैंक दीवारों से 1.5 फीट ऊपर तक न आ जाये। साधारणतया 11–12 तहों में टैंक भर जाता है। टैंक के ऊपरी भाग को झोपड़ीनुमा आकार देते हैं। टैंक भरने के बाद ढक देते है तथा 3 इंच मोटी मिट्टी की परत (करीब 300–400 किग्रा. मिट्टी) की सहायता से अच्छी तरह बन्द कर देते हैं। इस बात का ध्यान रखें की टैंक के ढेर में दरार न पड़े क्योकि दरारों से गैस निकलती रहती है इसलिये इसके ऊपर पुनः लीपन करते रहें।

दूसरी भराई –15–20 दिन बाद कूड़ा–करकट दबकर नीचे बैठ जाता है तथा टैंक करीब 8–9 इंच तक खाली हो जाता है इसको उपरोक्त क्रमानुसार तीन परतों में भरकर गोबर व मिट्टी से लीप देना चाहिए। इस विधि से कम्पोस्ट तैयार होने में 3–4 माह का समय लगता है। कम्पोस्ट में 15–20 प्रतिशत नमी बनाये रखने के लिए गोबर व पानी के मिश्रण का छिड़काव करें, जिससे खाद में आवश्यक पोषक तत्व संरक्षित रह सकें।

साधारणतया एक टैंक से 160–175 घन फीट कम्पोस्ट जिसका वजन 3 टन के करीब होता है, प्राप्त होता है।

कम्पोस्ट प्रयोग विधि – सिफारिशानुसार (सामान्यता फसलों में 10–15 टन प्रति हेक्टेयर, सब्जियों में 20–25 टन प्रति हेक्टेयर) कम्पोस्ट की मात्रा को बुआई के 3–4 सप्ताह पूर्व खेत में डालकर हल चलाकर मिट्टी में भली–भाँति मिला लेना चाहिए।

2.3.3. वर्मीकम्पोस्ट

केंचुओं द्वारा कृषि अवशिष्ट को पचाकर उत्तम किस्म का कम्पोस्ट बनाया जाता है, जो वर्मीकम्पोस्ट कहलाता है। केचुएँ के अपशिष्ट मल, उनके कोकून सभी प्रकार के लाभकारी सूक्ष्म जीवाणु, मुख्य एवं सूक्ष्म पोषक तत्व और विघटित जैविक पदार्थो का मिश्रण वर्मीकम्पोस्ट कहलाता है। प्रकृति ने केंचुओं को अद्भुत क्षमता प्रदान की है। वे स्वयं के भार से अधिक मल–मूत्र का त्यागकर उत्कृष्ट कोटि का कम्पोस्ट बना सकते है। वर्मीकम्पोस्ट बना सकते है। वर्मीकम्पोस्ट में 1.2–2.5 प्रतिशत नाइट्रोजन, 1.6–1.8 प्रतिशत फॉस्फोरस तथा 1.0–1.5 प्रतिशत पोटाश की मात्रा पाई जाती है। इस कम्पोस्ट में एक्टीनोमाइसिटीज की मात्रा गोबर की खाद की तुलना में 8 गुना अधिक पाई जाती है। इसके अतिरिक्त वर्मीकम्पोस्ट में सूक्ष्म पोषक तत्व संतुलित मात्रा में तथा एन्जाइम व विटामिन भी पाये जाते हैं।

केंचुओं के प्रकार – प्रकृति में लगभग 700 किस्म के केचुएँ पाये जाते हैं। इनमें से 293 प्रजातियों को लाभकारी पाया गया है। मुख्यतया तीन प्रकार के केचुएँ अधिक लाभकारी हैं।

1. **एपिजिक** – ये भूमि में एक मीटर की गहराई तक ही जाते हैं और कृषि अपशिष्टों को अधिक खाते हैं। वर्मीकम्पोस्ट बनाने में इन्हीं केंचुओं का प्रयोग किया जाता है। इनकी कुछ प्रजातियाँ है। पेरेनिप्स, आर्वोशीकोली, फेरेटिमा इलोन्गेटा, आईसीनिया फोईटिडा आदि।
2. **इन्डोजिक** – ये केंचुएँ भूमि में गहरी सुरंग बनाते हैं (3 मीटर से अधिक) ये केंचुएँ कृषि अपशिष्टों को कम व मिट्टी को अधिक खाते हैं। यह किस्म जल निकास में उपयोगी है।
3. **डायोजिक** – ये केंचुएँ 1–3 मीटर की गहराई पर रहते हैं एवं दोनो प्रजातियों के बीच की श्रेणी में आते हैं।

राजस्थान की परिस्थितियों से आइसीनिया फोईटिड़ा प्रजाति के केंचुएँ सबसे उपयुक्त पाये गये है। लम्बाई 3–4 इंच और वजन आधा से एक ग्राम तक होता है। ये लाल रंग के होते है जो 90 प्रतिशत कार्बनिक पदार्थ व 10 प्रतिशत मिट्टी खाते हैं। तापमान, नमी एवं खाद्य पदार्थो की उपयुक्त परिस्थितियों के केंचुएँ चार सप्ताह में वयस्क होकर प्रजनन योग्य हो जाते है। एक केंचुआ एक सप्ताह में 2–3 कोकून देता है एवं एक

कोकून में तीन से चार अण्डे होते है। इस तरह एक प्रजनन केंचुआ 6 माह में 250 केंचुएँ पैदा कर सकता है।

वर्मीकम्पोस्ट बनाने की विधि – वर्मीकम्पोस्ट बनाने के लिए ऐसे स्थान का चुनाव करते हैं जो ऊँचा तथा छायादार हो। छाया नहीं होने की स्थिति में वर्मीबेड के ऊपर छप्पर डाल कर छाया करनी चाहिए, क्योकि केंचुओं को अधिक प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। केंचुएँ अंधेरे में अधिक क्रियाशील रहते है। प्रजनन एवं खाद निर्माण क्रिया के लिये 30 प्रतिशत नमी 25–30° सेल्सियस तापमान आवश्यक है।

वर्मीकम्पोस्ट बनाने के लिए बेड (क्यारी) की लम्बाई 40–50 फीट और चौड़ाई 3–4 फीट रखते हैं। लम्बाई व चौड़ाई को आवश्यकतानुसार कम या ज्यादा कर सकते हैं, परन्तु वर्मीकम्पोस्ट तैयार होने पर उसको एकत्र करने में सुविधा के लिए चौड़ाई 4 फीट तक ही रखते हैं। आवश्यकतानुसार एक छप्पर के नीचे एक से अधिक क्यारियाँ बना सकते है। क्यारी में मामूली सड़ा हुआ भूसा, तिनके, कड़वी, जूट आदि को सतह पर 3 इंच की मोटाई में तह लगाकर बिछौना बनाया जाता है। बिछावन को पानी से नम कर दिया जाता है। इस बिछावन पर 2 इंच मोटाई की एक परत कम्पोस्ट या गोबर की बिछाई जाती है और पुनः इस परत को पानी से नम कर देते है। इस परत पर वर्मीकम्पोस्ट, जिसमें केंचुएँ व कोकून होते हैं, डाल दी जाती है। इस परत के ऊपर गोबर व मामूली सड़ा हुआ कृषि अपशिष्ट पदार्थ मिलाकर बिछा दिया जाता है। इस तरह परतों की कुल ऊँचाई लगभग डेढ़ फीट तक हो जाती है। इसको टाट या घास–फूस से ढक दिया जाता है। इस ढ़ेर पर समय–समय पर पानी का छिड़काव करना चाहिये। उचित परिस्थितियों में वर्मीकम्पोस्ट 60 दिन में बनकर तैयार हो जाता है। वर्मीकम्पोस्ट तैयार हो जाने पर पानी का छिड़काव बन्द कर देते है जिससे केंचुएँ क्यारी में नीचे की परत में चले जाते है। उसके बाद ऊपर से वर्मीकम्पोस्ट को इकट्ठा कर लेते हैं।

वर्मीकम्पोस्ट के लाभ –

1. वर्मीकम्पोस्ट देशी खाद की तुलना में अधिक श्रेष्ठ किस्म का होता है। इसमें गोबर की खाद तुलना में अधिक मात्रा में पोषक तत्व पाये जाते है।
2. वर्मीकम्पोस्ट के उपयोग से मृदा की जलधारण क्षमता बढ़ जाती है अतः भूमि का कटाव रूकता है।
3. वर्मीकम्पोस्ट में एक्टीनोमाइसिटीज की मात्रा देशी खाद की तुलना में 8 गुणा अधिक होने से फसलों में रोग प्रतिरोधकता बढ़ती है।
4. वर्मीकम्पोस्ट के उपयोग से खेत मे हयूमस की मात्रा बढ़ती है।
5. वर्मीकम्पोस्ट के उपयोग से खेत में खरपतवार व दीमक का प्रकोप कम होता है।
6. केंचएँ ऑक्सीन नामक हार्मोन्स का स्राव करते हैं जो पौधों की वृद्धि एवं रोगरोधी क्षमता बढ़ाता है।
7. वर्मीकम्पोस्ट टिकाऊ खेती के लिए बहुत महत्वपूर्ण है तथा यह जैविक खेती की दिशा में एक नया कदम है।

प्रयोग विधि – वर्मीकम्पोस्ट का उपयोग विभिन्न फसलों में अलग–अलग मात्रा में किया जाता है। खेत की तैयारी के समय 2.5–3.0 टन प्रति हेक्टेयर की दर से प्रयोग कर जुताई कर मिला लेते हैं। खाद्यान्न फसलों में 5–6 टन प्रति हेक्टेयर वर्मीकम्पोस्ट प्रयोग किया जाता है। वर्मीकम्पोस्ट भुरभुरा होने के कारण कृषक इसका उपयोग बुआई के समय ऊर कर भी करते है।

2.3.4. हरी खाद

दलहनी अथवा अदलहनी फसलों को हरी अवस्था में मृदा मे जीवांश पदार्थ एवं पोषक तत्वों की मात्रा बढ़ाने के उद्देश्य से खेत में जुताई कर दबाने की प्रकिया को हरी खाद कहते हैं। हरी खाद के लिये प्रयुक्त फसलों का मृदा में अपघटन (विच्छेदन) होता है। जिसके फलस्वरूप मृदा में जीवांश पदार्थ व विभिन्न पोषक तत्वों की मात्रा बढ़ती है। हरी खाद्य के प्रयोग से मृदा की रासायनिक, भौतिक व जैविक दशाओं पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। कृषक गोबर का उपयोग ईंधन के रूप में करता है अतः खेत में उचित मात्रा में गोबर की खाद व कम्पोस्ट का प्रयोग नहीं कर पाता है। अतः हरी खाद सस्ती, सर्वोत्तम और मृदा उर्वरता बनाए रखने के लिए उपयुक्त जीवांश खाद है। हरी खाद में पाये जाने वाले पोषक तत्व इसके बाद उगाई जाने वाली फसलों को आसानी से उपलब्ध हो जाते है।

हरी खाद बनाने की विधियाँ – भारत में विभिन्न राज्यों की जलवायु और मृदाएँ अनेक प्रकार की हैं। जलवायु और मृदा के अनुसार ही हरी खाद भी विभिन्न प्रकार से बनाई जाती है। उत्तरी व पश्चिमी भारत में हरी खाद की फसल उसी खेत में उगाकर दबाई जाती है। पूर्वी व मध्य भारत में हरी खाद की फसल मुख्य फसल के साथ बुआई कर तैयार की जाती है। दक्षिणी भारत में हरी खाद की फसल को खेत की मेड़ों पर उगाया जाता है या पेड़ व झाड़ियों की कोमल टहनियाँ, शाखाएँ व पत्तियों को इकट्ठा करके मृदा में दबाया जाता है। सामान्यतः हरी खाद निम्न विधियों से बनाई जाती है–

1. **खेत में हरी खाद की फसल उगाकर मृदा में दबाना –** इस विधि में हरी खाद बनाने के लिए जिस खेत मे हरी फसल उगाते है, उसी खेत में उसे पलटकर दबा देते है। इस विधि में हरी खाद के लिए दलहनी या अदलहनी फसल की बुआई की जाती है। फसल उन्हीं क्षेत्रों में उगाई जाती है जहाँ सिंचाई की पर्याप्त सुविधा हो। नमी अभाव में हरी खाद की फसल न तो वृद्धि कर सकती है, न ही दबाने पर सड़ पाती है। हरी खाद हेतु शीघ्र पकने वाली फसलें जैसे–ढेंचा, ग्वार, मूँग, उड़द, सनई, लोबिया आदि की बुआई कर पुष्पावस्था में खेत में दबा देते है।

2. **हरी खाद की हरित पर्ण विधि** – इस विधि में पेड़ों व झाड़ियों की कोमल (हरी) शाखाएँ, टहनियाँ व पत्तियाँ अन्य खेत या क्षेत्र से तोड़कर वाँछित खेत की मृदा में जुताई कर दबाते हैं। पौधों के कोमल भाग में थोड़ी नमी होने पर भी वे सड़ जाते हैं। इस विधि से हरी खाद उन क्षेत्रों में बनाते है जहाँ कि वार्षिक वर्षा कम होती है। इस विधि में अन्य खेत में उगाई गई हरी खाद की फसल को भी काटकर वांछित खेत में डालकर मृदा में दबा देते हैं। बहुत से पौधों को खेत की मेड़ों और बेकार भूमि में हरी पत्तियों के उद्देश्य से उगाया जाता है। इन पेड़ों और झाड़ियों की हरी पत्तियों को तोड़कर या काटकर खेत में डाल देते है। मिट्टी पलटने वाले हल से जुताई कर इन पत्तियों को मृदा के अन्दर दबा देते हैं। इस प्रकार की पत्तियाँ दलहनी व अदलहनी दोनों प्रकार के पौधों को प्रयोग कर सकते है। उदाहरण – सुबबूल, करंज, सदाबहार, अमलताष, सफेद आक आदि।

हरी खाद की फसल के आवश्यक गुण –

1. फसल शीघ्र बढ़ने वाली होनी चाहिए।
2. फसल में पत्तियों व शाखाओं की संख्या अधिक हो, जिससे प्रति हेक्टेयर अधिक मात्रा में कार्बनिक पदार्थ मिलाया जा सकें।
3. फसल के वानस्पतिक भाग मुलायम हों, ताकि वह आसानी से सड़ सकें।
4. फसल फलीदार (दलहनी) होनी चाहिए, जिससे उसके पौधों की जड़ों में ग्रन्थियाँ होने के कारण राइजोबियम द्वारा वायुमण्डल से नाइट्रोजन का मृदा में स्थिरीकरण हो सके।
5. फसल गहरी जड़ प्रणाली की हो, जिससे मिट्टी भुरभुरी बन सकें और मृदा में गहराई से पोशक तत्व ग्रहण कर पौधे में संचित कर सके।
6. हरी खाद की फसल ऐसी होनी चाहिये जो कम उपजाऊ भूमि में भी सफलतापूर्वक उगाई जा सके।
7. फसल में कीटों व बीमारियों का प्रकोप कम होता हो।
8. फसल कम अवधि की हो।
9. फसल को ज्यादा खाद व उर्वरक की आवश्यकता न हो।
10. फसल–चक्र में हरी खाद की फसल का उचित स्थान हो।
11. फसल को कम पानी की आवश्यकता हो।

हरी खाद के लिए उपयुक्त फसलें –हरी खाद के लिए प्रयोग मे लाई जाने वाली फसलों को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं– दलहनी एवं अदलहनी फसलें।

1. **दलहनी फसलें** – दलहनी या फलीदार फसलें हरी खाद के लिये उपयुक्त रहती हैं, क्योकि इन फसलों की जड़ो की ग्रन्थियों में उपस्थित राइजोबियम जीवाणु वायुमण्डल से नाइट्रोजन ग्रहण करते हैं। साथ ही इन फसलों की वानस्पतिक बढ़वार भी अच्छी होती है तथा इनकी जड़ें भी गहरी जाती है व फसल अवधि भी कम होती है।

सनई – इसका प्रयोग उत्तरी भारत में किया जाता है। यह बुआई के 6–8 सप्ताह बाद मिट्टी में पलट दी जाती है। लगभग 50 किग्रा. नाइट्रोजन तथा 280 क्विंटल हरा वानस्पतिक पदार्थ प्रति हेक्टेयर इस फसल से प्राप्त हो जाता है।

ढेंचा – हरी खाद के रूप में ढेंचा का प्रमुख स्थान है। यह फसल ऊसर भूमियों के सुधार में भी काम में ली जाती है। 45 दिन में फसल को खेत में पलट दिया जाता है। इससे लगभग 75 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर प्राप्त हो जाती है।

ग्वार – भारत के उत्तरी और पश्चिमी भागों में जहाँ वर्षा कम होती है ग्वार हरी खाद के लिए प्रयोग किया जाता है। इससे लगभग 65 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर प्राप्त हो जाती है।

लोबिया – खरीफ ऋतु में पौधों की अच्छी बढ़वार होने के कारण ही खाद के लिए यह महत्वपूर्ण फसल है। इससे 150 क्विंटल हरा पदार्थ तथा 50 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है।

2. **दलहनी फसलें**– ये फसलें मिट्टी में नाइट्रोजन स्थिरीकरण तो नहीं करती हैं, किन्तु विलय नाइट्रोजन का संरक्षण अवश्य करती है तथा मृदा में कार्बनिक पदार्थ की मात्रा में वृद्धि करती हैं, जिनसे मृदा में सुधार होता है। हरी खाद के लिए अदलहनी फसलों में मक्का, जौ, ज्वार आदि का प्रयोग किया जाता है। कई बार खरीफ में खेत में खरपतवार उगने देते है तथा उनमें बीज बनने से पूर्व ही खेत में पलट दिया जाता है। हमारे देश में हरी खाद हेतु अदलहनी फसलों का प्रचलन नहीं है।

हरी खाद प्रयोग करने की तकनीकी – हरी खाद की फसल से उचित लाभ प्राप्त करने के लिए इसके प्रयोग करने की विधि का ज्ञान आवश्यक है। हरी खाद में खेतों में दबाने और अगली फसल की बुआई के मध्य इतना अन्तर होना चाहिए कि हरी खाद से प्राप्त पोषक तत्व अगली फसल को प्राप्त हो सकें।

1. **जलवायु और मृदा** – खरीफ में हरी खाद वाली फसलों के लिए गर्म और नम जलवायु उपयुक्त है। सामान्यतः 50 से 60 सेमी. से अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में हरी खाद की फसलों की वृद्धि अच्छी होती है। फसल के अपघटन के लिए उपयुक्त तापमान 25 से 35 सेल्सियस होता है। रबी में हरी खाद की फसलों को शुष्क व ठण्डी जलवायु की आवश्यकता होती है। हरी खाद के लिए बलुई हल्की दोमट मृदा से लेकर लवणीय व कम उपजाऊ मृदा उपयुक्त होती है।

सारणी – विभिन्न मृदाओं में उगाई जाने वाली हरी खाद की फसलें

मृदा	फसलें
भारी मृदा व जल प्लावित दशा	ढेंचा, सनई
अच्छे जल निकास वाली बलुई दोमट मृदा, लवणीय व क्षारीय मृदा	मूंग, उड़द, ग्वार, सनई, ढेंचा
शुष्क क्षेत्रों की हल्की बलुई दोमट मृदा	ग्वार, उड़द, मूंग, लोबिया

2. **खेत की तैयारी** – हरी खाद के लिए खेत की विशेष तैयारी की आवश्यकता होती है। एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से करने के बाद पाटा चलाकर खेत समतल कर देते हैं।

3. **बीज बुआई** – हरी खाद के लिए बोई जाने वाली मुख्य फसलों की बीज दर इस प्रकार है।

फसल	बीज दर (किग्रा./हे.)	फसल	बीज दर (किग्रा./हे.)
सनई	50–60	मूंग, उड़द	15–20
ढेंचा	60–80	लोबिया	45–50
ग्वार	20–25		

राजस्थान में हरी खाद की फसलों की बुआई वर्षा प्रारम्भ होते ही कर देते हैं। सिंचित क्षेत्रों में रबी की फसल कटते ही अप्रैल से जून तक पलेवा देकर हरी खाद फसलों की बुआई करते हैं।

4. **खाद व उर्वरक** – हरी खाद के लिए बोई जाने वाली दलहनी फसलों की अच्छी बढ़वार के लिए बुआई के समय 20 किग्रा. नाइट्रोजन व 40 किग्रा. फॉस्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से देनी चाहिए। अदलहनी फसलों को नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर उपयोग ली जानी चाहिए। दलहनी फसलों में फॉस्फोरस की उपस्थिति में राइजोबियम जीवाणु अधिक क्रियाशील रहते हैं अतः नाइट्रोजन का यौगिकीकरण अच्छी प्रकार से होता है। फॉस्फोरस जैविक पदार्थ से मिलकर इस प्रकार यौगिक बनाता है कि अगली फसल को फॉस्फोरस सुगमता से उपलब्ध हो जाता है।

5. **सिंचाई** – सिंचित क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार फसल की सिंचाई करें। यदि सिंचाई से साधन उपलब्ध न हो तो वर्षा ऋतु में ही हरी खाद की फसल की बुआई करें।

6. **फसल को खेत में पलटना** – फसल की एक विशेष अवस्था पर पलटाई करने से भूमि को अधिकतम नाइट्रोजन व जीवांश पदार्थ मिलते हैं। फसल में जब पुष्पन प्रारम्भ हो जाये तथा उसकी टहनियाँ कोमल, रसीली, बिना रेशेदार और उस पर अधिकतम पत्तियाँ हो तब पलटना चाहिए। खरीफ में फसल को पलटने का कार्य अगस्त के प्रथम सप्ताह में कर लेना चाहिए। सामान्यतः ढेंचा तथा सनई को क्रमशः 45 व 50 दिन बाद पलटते हैं।

हरी खाद की फसल में पाटा चलाकर फसल को गिरा देते है। तत्पश्चात् मिट्टी पलटने वाले हल से फसल को खेत में दबा देते है। बलुई मृदाओं में फसल को गहराई तक तथा भारी मृदाओं में कम गहराई पर दबाते हैं। शुष्क मौसम की दशा मे फसल को गहराई पर तथा आर्द्र मौसम में कम गहराई पर दबाते है।

7. **हरी खाद का अपघटन** – हरी खाद से प्राप्त जीवांश पदार्थ के पूर्ण अपघटन में सूक्ष्म जीवाणुओं का बड़ा महत्व है। ये सूक्ष्म जीवाणु पहले हरे पदार्थों को सड़ाकर अमोनीकरण करते हैं और अन्त में नाइट्रेट को सुलभ अवस्था में उपलब्ध कराते हैं।

5. **हरी खाद की पलटाई और आगामी फसल में अन्तराल** – हरी खाद की फसल को खेत में पलटने और आगामी फसल के मध्य अन्तर जीवांश पदार्थ के अपघटन पर निर्भर करता है। सामान्यतः हरी खाद की पलटाई के डेढ़–दो माह बाद अगली फसल की बुआई करते हैं।

2.4 जैव उर्वरक – प्रकार एवं उपयोग विधि

जैव उर्वरक जीवित एवं प्रभावशील कृषि उपयोगी सूक्ष्म जीवों का वह उत्पाद है जिसके माध्यम से पर्यावरणीय मित्रता के साथ पौध पोषक तत्वों की उपलब्धता को बढ़ाकर फसल उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। जैव उर्वरको में उपस्थित सूक्ष्म जीवों के माध्यम से वायुमण्डलीय नत्रजन का अधिक से अधिक मात्रा में स्थिरीकरण किया जा सकता है, अन्य अनुपलब्ध पौध पोषक तत्वों को घुलनशील कर या उनका अवशोषण क्षमता बढ़ाकर मृदा में उपलब्ध कराया जा सकता है, विभिन्न हारमोन्स

या अन्य पौध वृद्धिकारक पदार्थो के उत्सर्जन के द्वारा अच्छी पौध वृद्धि सुनिश्चित की जा सकती है एवं विभिन्न कार्बनिक पदार्थो को शीघ्र अपघटित किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप फसलोत्पादन की लागत में कमी की जा सकती है। अतः टिकाऊ फसलोत्पादन के लिए जैव उर्वरकों का विशेष महत्त्व है।

यह सुनिश्चित है कि बिना सूक्ष्म जीवाणुओं के योगदान के कृषि उत्पादन भी असम्भव है। मुख्य पौध पोषक तत्वों में नत्रजन का विशेष हिस्सा है एवं एक हेक्टेयर भूमि के ऊपर लगभग 80,000 टन नत्रजन उपस्थित है लेकिन यह पौधों के लिये उपलब्ध नहीं है। प्रकृति में उपलब्ध सूक्ष्म जीवाणु वायुमंडल में उपलब्ध इस नत्रजन को स्थिरीकरण करके पौधों को उपलब्ध कराते हैं।

टिकाऊ कृषि में मृदा स्वास्थ्य के रखरखाव, पर्यावरण संरक्षण तथा पौधों को पोषक तत्व आपूर्ति के लिए जैव उर्वरक एक महत्त्वपूर्ण विकल्प है। जैविक खेती में भी जैव उर्वरकों का काफी महत्व हैं, क्योंकि जैविक खेती में रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग वर्जित है।

जैव उर्वरक – परिभाषा

जैव उर्वरक एक उत्पाद है जो सूक्ष्म जीवों की जीवित एवं सुषुप्त जैव कोशिकाओं जैसे बैक्टिरिया, कवक, एक्टिनोमाइसिटिज, शैवाल आदि एकल या समन्वित समूह है जो किसी वाहक जैसे ठोस पदार्थ (लिग्नाइट अथवा कोयला) या द्रव्य में मिश्रित होता है जो नत्रजन स्थिरीकरण, अनुपलब्ध पौध पोषक तत्वों को पौधो को उपलब्ध कराने, पादप बढ़वार पदार्थो को स्रावित करने एवं साथ ही मृदा की क्रियाशीलता एवं गुणवत्ता तथा पौधों के स्वास्थ्य में वृद्विकरने में उपयोगी है।

जैव उर्वरकों के लाभ – जैव उवरकों के उपयोग से होने वाले लाभ निम्नानुसार है–

1. जैव उर्वरक पौधों को नाइट्रोजन व फॉस्फोरस की आपूर्ति करते हैं।
2. ये पोषक तत्वों के सस्ते स्रोत हैं।
3. कुछ जैव उर्वरकों जैसे एजोटोबेक्टर, एजोला व नीलहरित शैवाल, हार्मोन्स, विटामिन आदि का स्राव करते हैं जिससे पौधों की वृद्धि पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।
4. इनके उपयोग से फसलों की उपज में 20–40 प्रतिशत तक वृद्वि होती है।
5. कुछ जैव उर्वरक एन्टीबायोटिक उत्पन्न करते हैं जिससे मृदा जनित रोगों का प्रभाव कम होता है।
6. इनके उपयोग से मृदा की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों में सुधार होता है।
7. नील हरित शैवाल व एजोला नाइट्रोजन के अतिरिक्त सूक्ष्म पोषक तत्व जेसे लोहा, ताँबा, मैंगनीज, जस्ता आदि उपलब्ध कराते हैं।

जैव उर्वरकों का वर्गीकरण

जैव उर्वरकों में खाद तथा उर्वरकों की तरह पोषक तत्त्व नहीं होते हैं (अजोला के अलावा) लेकिन ये पोषक तत्वों को घुलनशील करने, उनको गतिमान करने, अवशोषण करने तथा वाहन करने में मदद करते हैं। जैव उर्वरकों को कई बार बायो–इनओकुलेन्ट (Bio-inoculant) या सूक्ष्म जीवाणु कल्चर (Bio-culture) के नाम से भी पुकारा जाता हैं। जैव रसायन क्रियाओं तथा विशेष पोषक तत्व के प्रति अनुक्रिया के आधार पर जैव उर्वरकों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है।

(अ) नाइट्रोजन स्थिरीकरण करने वाले जीवाणु

- **सहजीवी (Symbiotic)** – सहजीवी नाइट्रोजन स्थिरीकरण को तीन समूहों में विभक्त किया गया है।
  1. दलहनी फसलों के साथ सहजीवी, उदाहरण – राइजोबियम, बैक्टीरिया
  2. दलहनी फसलों के अलावा पौधों के साथ सहजीवी, उदाहरण– एजोस्पाइरिलम, एसीटोबैक्टर
  3. ऐजोला फर्न के साथ सहजीवी, उदाहरण – एनाबिना
- **मुक्तजीवी (Free living)**– मुक्तजीवी को दो भागों में विभक्त किया जाता हैः
  1. बैक्टीरिया जिनमें परपोषित एवं प्रकाश–संश्लेषी हैं, उदाहरण – ऐजोटोबेक्टर, कलोस्ट्रीडियम, क्लेबसियला
  2. नीली हरी शैवाल जो कि प्रकाश संश्लेषी है।

(ब) फास्फोरस रूपान्तरण

- **फास्फोरस विलयकारी जीवाणु** – जो कि अपनी वृद्वि के दौरान कार्बनिक या अकार्बनिक अम्ल बनाते हैं जो कि फॉस्फोरस की विलेयता को बढ़ाकर पौधों को उपलब्ध कराते हैं, जैसे कि बैक्टीरिया (पी.एस.बी.) एवं कवक।
- **सहजीवी कवक** – कवक पौधों की जड़ों के साथ सहजीवी संबंध बनाकर मृदा में उपलब्ध फॉस्फोरस के उद्ग्रहण में सहायक होते हैं। साधारणतया फॉस्फोरस विलेयता में इनका योगदान नहीं होता है। उदाहरण – वेसिकूलर अरबस्कूलर

(स) कम्पोस्ट उत्प्रेरक

कम्पोस्ट के बनाने के लिए उपयोग किये गये कार्बनिक पदार्थों के अपघटन में परपोषी जीवाणुओं का उपयोग किया जाता है जो कि कार्बनिक पदार्थों के कार्बन–नाइट्रोजन अनुपात को कम करने में सहायक होते हैं और उनमें उपस्थित तत्वों की उपलब्धता को बढ़ाते है। ये जीवाणु बैक्टीरिया, कवक एवं ऐक्टिनोमायसिटीज होते हैं। इनमें ट्राइकोडर्मा, सेल्सूलोमोनास, पेसिलियोमाइसीज, एस्परजिलस आदि प्रमुख है।

(द) पौध वृद्धिकारक राइजोबेक्टिरिया (PGPR)

ये जीवाणु पोषक तत्व प्रदान नहीं करते हैं अपितु हार्मोन उत्पादन, पौध कोशिका में विशिष्ट आयन वहन तथा संरक्षण रसायनों के उत्सर्जन के माध्यम से पौध वृद्धि को बढ़ाने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए सूडोमोनास बैक्टीरिया।

(त) जिंक विलयकारी जैव उर्वरक

मिट्टी में सूक्ष्म पोषक तत्वों जैसे जिंक को आसानी से उपलब्ध कराने के लिए बेसिलस सुबिटिलिस, थायोबोसिलस थायोक्सिडंस और सैकोरोमांइस स्पीसिज सूक्ष्मजीवों को जैव–उर्वरक के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है।

(य) पोटेशियम विलयकारी जैव उर्वरक

पोटेशियम संचलन को बढ़ाने के लिए केले के राइजोस्पेयर से जीवाणु पृथक और विकसित किया गया है जिससे पोटेशियम का आसानी से पौधों द्वारा अवशोषण किया जा सकता है। फ्रैटुरिया ऑरेंटिया की एक नई जीवाणु प्रजाति जो एक बायोइनोकुलर है जिसके प्रयोग से पोटाश उर्वरक का उपयोग कम किया जा सकता है।

उर्वरक नियंत्रण आदेश, 1985 के अनुसार प्रति ग्राम सूखे वाहक में जीवाणुओं की संख्या (राइजोबियम/एजेटोबेक्टर/एजोस्पाइरीलियम/एसीटोबेक्टर/फॉस्फोरस घुलनशील बैक्टिरिया/पोटेशियम मोबिलाइजिंग बैक्टीरिया/जिंक विलयकारी बैक्टीरिया) कम से कम 1×10^{7} या प्रति मिलीलीटर द्रव्य वाहक में जीवाणुओं की संख्या 1×10^{8} होनी चाहिए।

नाइट्रोजन स्थिरीकरण करने वाले जीवाणु

राइजोबियम – यह एक जीवाणु है जो दलहनी फसलों की जड़ों पर पाई जाने वाली ग्रन्थियों में रहता है। ये जीवाणु वायुमण्डल से नाइट्रोजन का अवशोषण कर उसका स्थिरीकरण करते हैं जो अन्ततः पौधों को उपलब्ध होती है। राइजोबियम कल्चर सबसे अधिक उपयोग होने वाला जैविक उर्वरक है। यह केवल दलहनी फसलों में ही प्रयोग किया जाता है। राइजोबियम की विशेष प्रजाति ही दलहनी फसल की एक विशेष प्रजाति के साथ जड़ ग्रन्थियाँ बनाते है जिसे क्रॉस इनआकूलेशन (Cross inoculation group) समूह कहा जाता है जो कि फ्रेड एवं साथियों द्वारा 1932 में प्रतिपादित किया गया है। राइजोबिया तथा दलहन फसलों की आपस में जड़ ग्रन्थियाँ बनाने की विशेषता के आधार पर तीन जीवाणु वंशों यथा राइजोबियम, ब्राडिराइजोबियम एवं एजोराइजोबियम के क्रॉस इनआकूलेशन समूह का वर्गीकरण या विवरण निम्न तालिका–1 में दिया गया है।

1. **एजोटोबेक्टर** – यह जीवाणु स्वतंत्र रूप से मृदा में रहते हैं। ये बैक्टीरिया ग्राम नेगेटिव है। ये पौधों की जड़ क्षेत्र के समीप रहते हुए वायुमण्डल से नाइट्रोजन ग्रहण कर उसका स्थिरीकरण करते हैं। इस जैव उर्वरक का प्रयोग गैर दलहनी फसलों जैसे गेहूँ, जौ, मक्का, सब्जियों आदि में किया जाता है।
2. **एजोस्पाइरिलम**– यह एक वायु प्रिय जीवाणु है जो मृदा में स्वतंत्र रहकर वातावरणीय नाइट्रोजन का स्थिरीकरण कर पौधों को उपलब्ध करवाते हैं। इस जैव उर्वरक का उपयोग चावल, ज्वार, गन्ना, बाजरा, सब्जियों आदि में किया जाता है।

नाइट्रोजनधारी जैव उर्वरकों की उपयोग विधि – नीलरहित शैवाल तथा एजोला के अलावा सभी जैव उर्वरकों का निम्न प्रकार प्रयोग किया जाता है।

1. बीज उपचार

राइजोबियम, एजोटोबैक्टर, एजोस्पाइरिलम एवं फास्फेट

तालिका 1: दलहनी फसलें एवं क्रॉस इनआकूलेशन समूह

राइजोबियम समूह	राइजोबियम प्रजाति	फसल
राइजोबियम : तीव्र वृद्धि करने वाले	राइजोबियम मेलीलोटी	रिजका, मेथी, सैंजी
	राइजोबियम लेग्यूमिनोसेरम	मटर, मसूर
	राइजोबियम फेजियोलाई	राजमा, सेम, मोठ
	राइजोबियम ट्राइफोली	बरसीम
	राइजोबियम लोटी	तिपतिया घास (लोटस स्पीसीज)
	राइजोबियम फ्रेडी	सोयाबीन (ग्लीसीन मेक्स, ग्लीसीन सोजा)
ब्राडिराइजोबियम धीमी वृद्धि करने वाले	ब्राडिराइजोबियम जापोनिकम	सोयाबीन
	ब्राडिराइजोबियम एलकानी	सोयाबीन
	ब्राडिराइजोबियम स्पीसीज "लोबिया"	लोबिया, मूंग, उड़द, चना, अरहर, मूँगफली, इत्यादि।
एजोराइजोबियम तीव्र वृद्धि करने वाले	एजोराइजोबियम कौलिनोडेन्स	ढेंचा (सेसबानिया रोसट्राटा)

विलयकारी जैव उर्वरकों (पी.एस.बी. कल्चर) के प्रयोग के लिए बीज उपचार विधि ही सुविधाजनक, सस्ती, उत्तम एवं अधिक प्रचलन में है। सामान्यतः 10 से 12 किग्रा. बीज को उपचारित करने के लिए एक पैकेट (200 ग्राम) जैव उर्वरक पर्याप्त होता है। बीज उपचार निम्न प्रकार से करें –

- आधा लीटर पानी में 50 ग्राम गुड़ को घोलकर उबालें। घोल ठण्डा हो जाने पर 200 ग्राम जीवाणु खाद को इसमें मिलावें ।
- इसके बाद घोल को 10–12 किलो बीज के ढेर पर धीरे धीरे डालकर हाथों से मिलाएं जिससे कि जैव उर्वरक अच्छी तरह और समान रूप से बीजों पर चिपक जाये।
- इस प्रकार तैयार उपचारित बीज को छाया में सुखाकर तुरन्त बुआई कर दें।

1. पौध/जड़ उपचार

रोपाई की जाने वाली फसलों जैसे टमाटर, गोभी, बैगन, मिर्च, प्याज आदि के लिए यह विधि सर्वोत्तम है। इस विधि में जैव उर्वरकों की मात्रा बीज उपचार की अपेक्षा कुछ ज्यादा लगती है परन्तु जड़ उपचार विधि द्वारा अधिक संख्या में जीवाणु पौध जड़ों पर चिपक कर जड़ों के पास पहुँच जाते हैं जिससे उपचारित पौध रोपाई पर पौध वृद्धि अच्छी होती है। पौध/जड़ उपचार निम्न प्रकार से करें –

- जीवाणु खाद का जड़ोपचार द्वारा प्रयोग रोपाई वाली फसलों में करते हैं।
- इसके लिए 4 किलोग्राम जैव उर्वरक का 20–25 लीटर पानी में घोल बनायें।
- एक हैक्टर के लिए पर्याप्त पौध की जड़ों को 20–25 मिनट तक उपरोक्त घोल में डुबोकर रखें।
- इसके बाद उपचाारित पौध को छाया में रखें तथा यथाशीघ्र रोपाई कर दें।
- बर्तन में बचे हुए घोल में मिट्टी या राख या कम्पोस्ट खाद अच्छी तरह से मिलाकर खेत में मिट्टी मिला दें, बाहर न फेकें।

3. मृदा उपचार

इस विधि द्वारा एजोटोबैक्टर, एजोस्पाइरिलम एवं फास्फेट विलयकारी जैव उर्वरकों (पी.एस.बी. कल्चर) का प्रयोग सभी खाद्यान्नों की फसलों, तिलहन फसलों, सब्जी फसलों, फूलों आदि में किया जा सकता हैं। मृदा उपचार निम्न प्रकार से करें –

- मृदा उपचार के लिए 50 किलोग्राम मिट्टी या कम्पोस्ट खाद में 5 किलोग्राम जीवाणु खाद को अच्छी तरह मिलाएं।
- इस मिश्रण को एक हेक्टेयर क्षेत्रफल में बुआई के समय या बुआई से 24 घण्टे पहले समान रुप से छिड़के और बुआई कर दें।

4. कंद उपचार –

1 किग्रा. कल्चर का 40–50 लीटर पानी में घोल तैयार करते हैं। घोल में आलू, लहसुन, गन्ना आदि के टुकड़ों को 10 मिनट तक डुबोकर बुआई करते हैं।

नील हरित (काई शैवाल)– इसे सायनोबैक्टिरिया भी कहते हैं। यह पानी की सतह पर पाई जाने वाली उपयोगी व लाभदायक काई है, जो नीले–हरे रंग की होती है। यह सूर्यप्रकाश में अपना भोजन स्वयं बनाकर, वायुमण्डल की नत्रजन का स्थिरीकरण कर पौधों को उपलब्ध कराती है लेकिन यहाँ यह जान लेना चाहिए कि सभी शैवाल नत्रजन का स्थिरीकरण करने में सक्षम नहीं होते। ऐसी नील हरित शैवाल जिनमें एक विशेष संरचना हिटरोसिस्ट पाई जाती है, नाइट्रोजन स्थिरीकरण करने में सक्षम है। यह शैवाल 25–30 किग्रा. नाइट्रोजन का प्रति हेक्टेयर यौगिकीकरण करती है। इसका उपयोग धान के खेतों में किया जाता है। इसकी कुछ मुख्य प्रजातियाँ है एनाबिना, नोस्टॉक, साइटोनिया, आसीलेटोरिया आदि।

नील हरित शैवाल का उत्पादन– इसके उत्पादन के लिए एक गड्ढा बनाकर पॉलीथीन बिछा देते है या 6" × 3" × 9" आकार की गेल्वेनाइज्ड लोहे की चद्दर की ट्रे बनवा लेते हैं। 6" × 3" × 9" आकार के गड्ढे में पॉलिथीन बिछाने के बाद 10 किग्रा. भुरभुरी मिट्टी तथा 200 ग्राम सुपर फॉस्फेट डालकर 6" पानी भर देते है। जब मिट्टी पैंदे में बैठ जाये तो मृदा आधारित नील हरित शैवाल के कल्चर को 250 ग्राम लकड़ी के बुरादे के साथ मिलाकर 100 ग्राम प्रति गड्ढे के हिसाब से उपचारित करते है। यदि गड्ढे में हरी काई दिखाई दे तो 0.05 प्रतिशत कॉपर सल्फेट के घोल का छिड़काव करना चाहिए। 10–15 दिनों के बाद गड्ढों के ऊपर काई की एक मोटी परत कालीन की तरह पानी के ऊपर तैरने लगती है। इस काई को या तो एकत्रित कर लेते हैं या गड्ढों का पानी पूर्ण रूप से सूखने देते हैं और नील हरित काई को सूखी पपड़ी के रूप में एकत्र कर पॉलीथीन की थैलियों में भर लेते हैं।

प्रयोग विधि – इसका उपयोग धान की रोपाई के 7 दिन बाद करते हैं तथा जिस खेत में इसका उपचार करते हैं उसमें पानी स्थिर एवं 8–10 सेमी. हमेशा भरा रहना चाहिए। खेत में 8–12 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से नील हरित शैवाल का छिड़काव करते है। कल्चर डालने के बाद 4–5 दिनों तक पानी स्थिर रहना चाहिए।

एजोला – एजोला पानी में तैरने वाली एक प्रकार की फर्न है जो इसकी पंखुड़ियों में उपस्थित नीली हरी काई ऐनाबिना के साथ सह जीवन द्वारा वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का यौगिकीकरण करती है। एजोला कल्चर के उपयोग से पता चला है कि इसमें 40 से 100 किलोग्राम नाइट्रोजन/हेक्टेयर यौगिकीकृत हो सकती है। भारत में एजोला की पाठ्यक्रम/इकाई 3 प्रजाति एजोला पिन्नेटा पाई जाती है। लेकिन इसकी नाइट्रोजन स्थिरीकरण क्षमता कम होने के कारण धान की फसल में एजोला माइक्रोफिला तथा एजोला केरोलिनिआना का उपयोग किया जाता है। एजोला प्रतिदिन 1. 0–1.5 किग्रा. प्रति हेक्टेयर तक नाइट्रोजन जमा करने की क्षमता

रखता है। 20–25 दिन के भीतर इससे प्रति हेक्टेयर औसतन 20–40 किग्रा. नाइट्रोजन प्राप्त होती है।

एजोला उत्पादन विधि – अच्छी तरह तैयार खेत में 5 मी. × 2 मी. आकार की क्यारियाँ बनाकर उसमें 5–10 सेमी. पानी भर देते हैं। इसके बाद 0.5–1.5 टन प्रति हेक्टेयर (50–100 ग्राम प्रति वर्ग मीटर) के हिसाब से ताजा स्वस्थ एजोला क्यारियों में डालते हैं। 15–20 दिन बाद एजोला की एक मोटी तह बन जाने पर इसका 1 भाग बांस की सहायता से निकाल लेते है और शेष भाग को फिर बढ़ने देते हैं। 100 वर्ग मीटर क्षेत्र से प्रति सप्ताह 10 किग्रा. एजोला प्राप्त हो सकता है। एजोला की अच्छी बढ़वार हेतु प्रति सप्ताह 5–8 किग्रा. सुपर फॉस्फेट प्रति हेक्टेयर की दर से डालते हैं।

प्रयोग विधि – एजोला का उपयोग धान के खेत में रोपाई के पहले हरी खाद के रूप में या रोपाई के बाद धान के साथ इसका संवर्धन किया जाता है। प्रथम विधि में इसका प्रयोग केवल उन्हीं क्षेत्रों में सम्भव है जहाँ रोपाई के पहले पर्याप्त पानी उपलब्ध हो। खेत को तैयार कर छोटी–छोटी क्यारियों में बाँट कर 5–10 सेमी. भर देते हैं। क्यारियों में 1.0–2.0 टन प्रति हेक्टेयर की दर से एजोला डाल देते हैं। 10 किग्रा. सुपर फॉस्फेट प्रति हेक्टेयर की दर से तीन बराबर भागों में खेत में डालें। 15–20 दिन बाद एजोला की मोटी तह बन जाने पर खेत से पानी निकाल कर हल चलाकर एजोला को मिट्टी में मिला दें। बाद में धान की रोपाई कर दें।

धान के साथ एजोला प्रयोग के लिए 0.5–1.0 टन एजोला प्रति हेक्टेयर की दर से रोपाई के एक सप्ताह बाद खेत में डालें। 20–25 दिन बाद एजोला की मोटी तह बन जाती है। इसको मिट्टी में मिला दें। मिट्टी में नहीं मिलाने पर एजोला अपने आप सड़ जाता है और फसल को पर्याप्त लाभ देता हैं।

फॉस्फोरस विलेयक जैव उर्वरक (पी.एस.बी.)

फॉस्फोरस विलेयक जैव उर्वरक सूक्ष्म जीवाणुओं का एक ऐसा कल्चर है जिसमें अविलेय फॉस्फोरस को विलेय बनाने की क्षमता पायी जाती है। वैसे तो बहुत से जीवाणु, एक्टीनोमाइसीट्स एवं कवक में फॉस्फोरस की विलेयता बढ़ाने के गुण पाये जाते हैं लेकिन जैव उर्वरक निर्माण के लिए कुछ गिने चुने वंश के सूक्ष्म जीवाणु ही औद्योगिक स्तर पर प्रयोग में लाये जाते हैं। इसके लिए 4 किलोग्राम जैव उर्वरक का 20–25 लीटर पानी में घोल बनायें।

प्रयोग विधि – पी.एस.बी./पी.एस.एम. कल्चर का उपयोग भी एजोटोबेक्टर या राइजोबियम की तरह ही बीज, भूमि उपचार व पौध उपचार के रूप में किया जाता है जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

माइकोराइजा – यह एक विशेष प्रकार का कवक होता है जो बहुशाखीय लम्बे तंतुओं से बना होता है। पौधों तथा दाल फसलों की जड़ों में इसके तंतु प्रवेश कर जाते हैं। तंतुओं का वह भाग जो जड़ों के बाहर रहता है मिट्टी से लगातार फॉस्फोरस अवशोषित करता रहता है। यह फॉस्फोरस तंतुओं के अन्दर गति कर पौधों की जड़ क्षेत्र के अन्दर पहुँच जाता है। कवक व पौधों की जड़ों के बीच सह–जीविता होती है जिससे कवक मृदा से जल एवं खनिज लवणों को अवशोषित कर पौधों को प्रदान करता है तथा पौधे कवक को कार्बनिक भोज्य पदार्थ प्रदान करते हैं। **उदाहरण**– अरबूस्कूलर माइकोराइजा का उपयोग मक्का में किया जाता है।

मिश्रित जैव उर्वरक

सामान्यतः नत्रजन स्थिरीकरण या स्फुर घोलक जैव उर्वरकों का अलग–अलग उपयोग अनुशंसित है परन्तु प्रयोगों द्वारा यह पाया गया है कि मिश्रित जैव उर्वरक जिसमें नत्रजन स्थिरीकारक स्फुर घोलक, पौध वृद्विबढ़वार में सहायक जड़ीय जीवाणु (पी.जी.पी.आर) एवं वेम (VAM) फफूंद के संयुक्त मिश्रण का उपयोग करने से गैर दलहनी, दलहनी एवं तिलहन फसलों की बढ़वार में अच्छी वृद्विहोती है। नत्रजन एवं स्फुर जनित रासायनिक उर्वरकों की खपत में लगभग 10–25 प्रतिशत की बचत होती है एवं इनकों कार्बनिक पदार्थो के साथ उपयोग किया जाये तो फसलोत्पादन पर और अच्छा प्रभाव पड़ता है। इस जैव उर्वरकों का प्रभावी एवं धनात्मक योगदान विभिन्न फसलों जैसे मिर्च, कपास, उड़द, सोयाबीन, अरहर आदि पर भी देखने को मिला है।

तरल जैव उर्वरक

आजकल ठोस वाहक के स्थान पर तरल वाहक का उपयोग बढ़ रहा है। तरल जैव उर्वरक या लिक्विड बायो फर्टिलाइजर ऐसा तरल ससपेंशन हैं जिनमें खेती के लिहाज से उपयोगी जीवाणु होते है। मृदा उर्वरता के प्रबंधन और पोषक तत्वों की निरंतर उपलब्धता बनाये रखने हेतु तरल जैव–उर्वरकों जैसे – राइजोबियम, एजोटोबैक्टर, फास्फोरस, पोटाश एवं जिंक

सारणीः फॉस्फोरस को घुलनशीन अवस्था में बदलने वाले सूक्ष्म जीव

क्र.सं.	जैव उर्वरक के प्रकार	प्रयुक्त सूक्ष्म जीवाणु
1.	फॉस्फोरस घोलक बेक्टीरिया (पीएस.बी.)	बेसीलस मेगाथिरियम, बेसिलस पोलीमिक्सा, सुडोमोनास स्ट्राइटा आदि
2.	फॉस्फोरस घोलक फफूंद (पीएस.एफ.)	एसपरजिलस अवामोरी, एसरजिलस केन्डीडस आदि
3.	फॉस्फोरस घोलक एक्टीनोमाइसिटिज (पी.एस.ए.)	स्ट्रेप्टोमाइसिज स्पीशिज

घोलक जीवाणु आदि अत्यंत उपयोगी आदान है। स्थानीय जलवायु के आधार पर कुछ ऐसे सूक्ष्म जीवों द्वारा तरल उर्वरक तैयार किये जा रहे हैं, जो अलग–अलग स्थान और जलवायु में कारगर सिद्ध हुए हैं। अनेक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि जहाँ रासायनिक खादों का उपयोग नहीं होता है वहाँ ये जीवाणु आदान अधिक प्रभावी हैं। इस जैव उर्वरक का उपयोग पर्यावरण के अनुकूल है और रासायनिक उर्वरक का उपयोग सीधे 15 से 40 प्रतिशत कम कर देता है। इसे बगैर किसी खास इंतजाम के लंबे समय तक रखा जा सकता है तथा ठोस वाहक जैव उर्वरकों की तुलना में इसकी सग्रंहण जीवन अवधि एक से दो वर्ष तक हो सकती है। इस लिक्विड बायो फर्टिलाइजर के उपयोग से भारतीय किसानों को जैविक फसल उगाने में सहायता मिलेगी और वे अंतरराष्ट्रीय बाजार की प्रतिस्पर्धा में टिक सकेंगे।

तरल जैव–उर्वरक की उपयोग विधियाँ

1. **बीज उपचार :** 1 किलो बीज को 5 मिली. तरल जैव–उर्वरक के साथ मिलाते हैं, और बीजों को बुआई के पहले उपचारित कर छाया में सूखने के लिए रख दे।
2. **जड़ / पौध उपचार :** 50 मिली. तरल जैव–उर्वरक को 1 ली. पानी में मिलाते हैं, और जड़ो को 15 से 20 मिनट घोल में डुबोये रखने के बाद बुआई करें।
3. **मिट्टी उपचार :** मुख्य क्षेत्र और पौधघर में एक एकड़ में 250 मिली. जैव–उर्वरक को 100 किलो मिट्टी के साथ मिलाते हैं एवं खेत में मिला देते हैं।
4. **बूंद–बूंद सिंचाई :** बूंद–बूंद एवं फव्वारा सिंचाई विधि से तरल जैव उर्वरक प्रयोग करने के लिए एक हेक्टेयर में 1 ली. जैव–उर्वरक को डालते हैं।

तरल जैव–उर्वरकों के प्रयोग में सावधानियाँ

- जैव–उर्वरकों को नामांकित फसल के लिये ही उपयोग में लेना चाहिये।
- जैव–उर्वरकों को उपयोग से पहले बोतल को अच्छे से हिलाकर बीजोपचार करें।
- जैव–उर्वरकों को ठण्डी जगह पर रखें और धूप एवं गर्मी से बचाये।
- जैव–उर्वरकों और रासायनिक उर्वरकों को एक साथ मिलाकर प्रयोग ना करें।
- जैव–उर्वरकों को उसको अंतिम तिथि से पहले ही उपयोग में ले।
- बीजों को पहले फफूंदनाशक फिर कीटनाशक तथा अंत में जैव–उर्वरक से उपचारित करें।

जैव उर्वरकों के व्यापारिक उत्पादन के जाति विशेष के जीवाणु कोशिकाओं की जीवित दशा में आपूर्ति के लिए ठोस या तरल वाहकों का उपयोग किया जाता है।

तरल जैव उर्वरकों में तरल मीडिया (पानी या तरल आधारित पदार्थ), एडिटिक स्टेबलाइजर एवं स्टीकर पदार्थों (पॉलीविनाइल पायरलिडोन, पोलीविनाइल अल्कोहल) गिलसरोल, मिथाइल सेलुलोज, सोडियम एल्जीनेट गोंद आदि का उपयोग किया जाता है। इस कारण तरल जैव उर्वरक की संग्रहण जीवन अवधि एक वर्ष से ज्यादा तथा जीवाणु कोशिकाओं की सजीवता अधिक तापमान (45° सेन्टीग्रेड तक) पर भी बनी रहती है।

2.5 कृषि पंचांग (Krishi Panchang)

भारतीय चिन्तन और जीवन शैली आदिकाल से प्रकति सापेक्ष रहे हैं। भारतीय जीवन दृष्टि में ज्ञान–विज्ञान की अभिव्यक्ति भी अध्याय दर्शन से होती है। शास्त्र–पुराणादि में भारत में प्राचीनकाल से ही मुहूर्त देखकर कृषि कार्य करने का प्रचलन रहा है। कृषक ग्रह, नक्षत्रों व चन्द्रमा की स्थिति को देखकर फसल की बुआई, कटाई, फसल का चुनाव आदि कृषि कार्य करते थे। परन्तु शनैः शनै यह ज्ञान समाप्त होता गया। सन् 1924 मे विद्वान दार्शनिक डॉ. रूडोल्फ स्टेनर ने एक वैकल्पिक कृषि के रूप में बॉयोडायनेमिक खेती की विचार धारा का प्रतिपादन किया, जो बाद में विश्व के कई देशों में व्यवसायिक रूप से अपनायी जाने लगी। बॉयोडायनेमिक खेती को जैव गति की कृषि भी कहा जाता है जिसमें नक्षत्रों की गति के आधार पर कृषि क्रियाओं का क्रमवार वैज्ञानिक विधि से अपनाने पर जोर दिया जाता है जिससे आकाशीय / नक्षत्रीय ऊर्जा का प्रभाव वनस्पति / पौधों के भागों जैसे जड़ पत्ती, फल एवं बीज पर पड़ता है और पैदावार में गुणोत्तर वृद्धि प्राप्त की जा सकती है। प्रतिवर्ष नक्षत्रों की गति के आधार पर जैव गतिकीय कृषि एवं बागवानी पंचांग तैयार किया जाता है जिसके अनुसार कृषि कार्य उपयुक्त समय पर करने से लाभ होता है। रूडोल्फ स्टेनर के अनुसार प्रत्येक खेत प्राणी के समान जीवित माध्यम है।

यह वैज्ञानिक तथ्य है कि पृथ्वी पर उपस्थित जल को चन्द्रमा अपनी ओर आकर्षित करता है। पौधों की कोशिकाओं में जल प्रमुखता से पाया जाता है। अतः यह माना जा सकता है कि चन्द्रमा की गतिविधियों का प्रभाव निश्चित रूप से पौधों पर पड़ता है। भूमि में उपलब्ध जल का प्रभाव फसल पौधो पर पड़ता है। भूमि में उपलब्ध जल का फसल उत्पादन के लिये अत्यधिक महत्व है। विश्व में कई देशों जैसे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, जर्मनी आदि में प्रतिवर्ष कृषि पंचांग प्रकाशित हो रहा है जिसका उपयोग वहाँ के कृषक कृषि कार्यो में करके बेहतर फसल उत्पादन कर रहे हैं। कृषि पंचांग मूलतः चन्द्रमा की गति पर आधारित है। भारत में विक्रम संवत मास, पक्ष और तिथि कृषि पंचांग के प्रमुख अंग हैं।

चन्द्रमा की विभिन्न अवस्थाएँ (चन्द्रकलाएँ : तिथि)

प्रथम पक्ष (शुक्ल पक्ष) – चन्द्रमा की गति अन्धकार से प्रकाश की ओर गति होती है। प्रारम्भ में सूर्य एवं पृथ्वी के बीच अवस्थित चन्द्रमा की बाहरी पृथ्वी फलक की ओर गतिमान होता है। लगभग 7 दिनों (प्रथम भाग) में चन्द्र मध्य बिन्दु तक पहुँचकर

अर्द्ध प्रकाशित होता है तथा अगले 7 दिनों (द्वितीय भाग) में चन्द्र बाहरी बिन्दु तक पहुँचकर पूर्ण प्रकाशित होता है जिसे पूर्णिमा कहते हैं।

द्वितीय पक्ष (शुक्ल पक्ष) – इस कला में चन्द्रमा पुनः अपनी पुर्व स्थिति में पहुँचने के लिये गतिमान होता है तथा अगले 7 दिनों (तृतीय भाग) में चन्द्रमा का आधा भाग सूर्य की तरफ होता है एवं आधा भाग अंधकारमय होता है। अन्तिम 7 दिनों (चतुर्थ भाग) में चन्द्रमा पूर्णतः सूर्य और पृथ्वी के बीच पहुँच जाता है व पूर्ण अन्धकारमय हो जाता है। इसे अमावस्या कहते हैं।

व्यक्त भावनाओं एवं आस्थाओं के पीछे व्यापक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इसी भारतीय वैज्ञानिक संस्कृति का एक उदाहरण है भारत में विभिन्न कार्यो को सम्पादित करने के लिये पंचाग का उपयोग किया जाता है। भारतीय ऋषि–मुनियों एवं शास्त्र वेत्ताओं ने यह माना कि जल, जमीन, वायुमण्डल तथा अग्नि तत्व तथा नक्षत्र मनुष्य जीवन तथा इससे सम्बधित क्रियाओं को प्रभावित करता है जिनको सही रूप से परिभाषित कर मानव जीवन को बेहतर बनाया जा सकता है। भारतीय पंचांग तिथिवार श्रेष्ठ, शुभ, प्रिय, अशुभ, आदि सम्भावित खगोलीय एवं सृष्टिगत प्रभावों का मानव जीवन में लागू करने की सिफारिशें एवं गहरी जीवन दृष्टि का संकलन है। आधुनिक उपकरणों एवं तकनीकों के विकास के साथ आज का विज्ञान भारतीय पंचांग या केलेण्डर का आंकलन कर इस ज्ञान की वैज्ञानिक अवधारणा को पुनर्स्थापित कर रहा है।

इसी अनुसार भारत में कृषि के विभिन्न कार्यो को सम्पन्न करने के लिये नक्षत्र एवं वायुमण्डलीय प्रभावों के शुभ तथा अशुभ तिथि, वार, घड़ी एवं अनुभवजन्य प्रथाओं का उपयोग किया जाता है। इस केलेण्डर या पंचांग का उपयोग प्रकृति को लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभावों का सार्वभौमिक लाभ लेकर कृषि को अधिक कल्याणकारी एवं पोषक बनाया जा सकता है। विश्व आधुनिक कृषि वैज्ञानिकों ने कृषि पंचांग का महत्व प्रतिपादित किया है।

एक बार शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष की गति करने में चन्द्रमा को 29.5 दिन का समय लगता है। जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

कृषि कार्य में महत्व

1. पूर्णिमा के समय चन्द्र का सर्वाधिक आकर्षण जल तत्व पर होता है। पृथ्वी और पौधों के अन्दर का जल चन्द्र की इस अवस्था में ऊपर की ओर गतिमान होता है और उच्चतम स्तर पर होता है। चन्द्रमा के इस प्रभाव से वातावरण में आर्द्रता होती है। अतः यदि पूर्णिमा के 48 घण्टे पूर्व बीजों की बुआई की जाये तो अंकुरण में वृद्धि होती है तथा पौधे निरोगी रहते हैं।
2. पूर्णिमा के समय अधिक आर्द्रता होने के कारण फफूंद तथा अन्य सूक्ष्म जीवाणुओं का प्रकोप अधिक होता है अतः फसल की कटाई इस समय नही करनी चाहिये।
3. अमावस्या के समय नमी कम होती है इसलिये ऐसे समय कटाई की जाये तो फसलोपरान्त होने वाली हानि कम होती है। बीज व दाने स्वस्थ व स्वादिष्ट होते हैं।

चन्द्र उत्तरायण एवं दक्षिणायन पक्ष

चन्द्रमा 27.3 दिन में एक बार उत्तरायाण एवं दक्षिणायन की गति पूर्ण करता है। यह अवस्था चन्द्रमा के शुक्ल व कृष्ण पक्ष से भिन्न होती है।

चन्द्र उत्तरायण पक्ष का कृषि कार्य में महत्व

1. चन्द्र उत्तरायण की अवस्था में पृथ्वी की ऊपरी सतह पर क्रियाशीलता में बढ़ोतरी होती है। जल तत्व पौधों में ऊपर की ओर गति करता है जिससे फसल के कायिक भाग पत्ती, तना, फल एवं फूल में वृद्धि होती है।
2. इस अवस्था में पत्तीदार फसलो की कटाई, फलों की तुड़ाई, कलम लगाना तथा चारे की कटाई करना उत्तम रहता है।
3. बीजों की बुआई इस अवस्था में करने से अंकुरण अच्छा होता है तथा रोग की सम्भावना कम रहती है।

चन्द्र दक्षिणायन पक्ष का कृषि कार्य में महत्व

1. चन्द्र दक्षिणायन की अवस्था में ब्रह्माण्डीय शक्तियों का प्रभाव मृदा की सतह से नीचे के भाग पर संकेन्द्रित होता है जिससे भूमि क्रिया शीलता में वृद्धि होती है। अतः इस अवस्था में कन्द फसलों जैसे अश्वगन्धा, सफेद मूसली आदि की गुणवक्ता एवं उत्पादन में वृद्धि होती है।
2. सींग की खाद बनाना, निकालना, खेत में ड़ालना, कम्पोस्ट बनाना व खेत में मिलाना, जुताई करना, निराई – गुड़ाई करना आदि कार्यो के लिये यह समय सर्वोतम है। हरी खाद बनाना, पलटना व सिंचाई के लिये भी यह उपयुक्त समय है।

पृथ्वी से चन्द्रमा की अति निकटता या अति दूरी

चन्द्रमा अपनी कक्षा में पृथ्वी के चारों ओर अण्डाकार कक्ष में घूमता है। अतः चन्द्र लगभग 7 दिन के अन्तराल से पृथ्वी के अति पास या अति दूर होता है। जब चन्द्रमा पृथ्वी से अति दूर होता है तो इसे (अपभू) कहते हैं। जब चन्द्रमा पृथ्वी के अति पास होता है तो इसे (उपभू) कहते हैं। इस समय बोये गये बीजों से कमजोर पौधे बनते हैं। इस दोनों ही स्थितियों में कोई भी कृषि कार्य नही करना चाहिये।

2.6 कीट एवं रोगों का जैविक नियन्त्रण–सामान्य जानकारी (Biological Control of Insect and Diseases - General Introduction)

फसलों की कीटों एवं रोगों से सुरक्षा करना सफल फसल प्रबन्धन का एक महत्वपूर्ण अंग है। कीटों एवं रोगों द्वारा फसलों की उपज में 10 से 100 प्रतिशत तक हानि हो सकती है। ऐसा आँकलन किया गया है कि उपज में होने वाले कुल नुकसान में कीटों से 26 प्रतिशत तथा रोगों से 20 प्रतिशत हानि होती है। अतः विभिन्न रासायनिक तथा अरासायनिक विधियों से कीट एवं रोगों का प्रबन्धन करना आवश्यक है। लोकसभा की स्टेण्डिंग कमेटी ऑन एग्रीकल्चर (2015–16) के अनुसार हमारे देश में वर्ष 2013–14 में पेस्टीसाइड की कुल खपत 57353 मेट्रिक टन थी। जबकि राजस्थान में इनकी मात्रा 2736 मेट्रिक टन थी। हमारे देश में पेस्टीसाइड की अधिकतर मात्रा को विदेशों से आयात किया जाता है। वर्ष 2013–14 में 512209 लाख रूपये का 77376 मेट्रिक टन (तकनीकी श्रेणी) पेस्टीसाइड का आयात किया गया। हमारे देश की कृषि में पेस्टीसाइड का उपयोग बढ़ रहा है।

रसायन आधारित फसल संरक्षण पर अधिक केंद्रित करने पर फसल सुरक्षा तो होती है लेकिन कई दीर्घकालीन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जैसे – खाद्यानों में हानिकारक रसायनों के अवशेष, लाभदायक कीटों व सूक्ष्म जीवों का नष्ट होना, पर्यावरण प्रदूषण, आदि। खाद्य एवं कृषि उत्पादों में पेस्टीसाइड अवशेष का मिलना एवं पेस्टीसाइड के असंतुलित उपयोग से आमजन में उत्कृष्ट कृषि क्रियाओं (EAP) द्वारा उत्पादित कृषि उत्पादों की तरफ रूझान बढ़ रहा है। साथ ही पर्यावरण के संरक्षण तथा खेती में लागत कम करने हेतु अरासायनिक विधियों से कीटों एवं रोगों का नियन्त्रण पर जोर दिया जा रहा है।

प्रकृति में जितने हानिकारक कीटों का उद्भव होता है, लाभकारी कीट एवं मित्र जीव भी उससे कई गुना ज्यादा मौजूद है। आवश्यकता है उनको पहचानने, संग्रहण करने व उपयोग करने की। वेदों में भी कहा गया है जीव जीवस्य भोजनम् – प्राकृतिक मित्र जीवों एवं वानस्पतिक कीटनाशकों के द्वारा कीट एवं व्याधि नियन्त्रण कम खर्चीला, प्रभावी व स्थायी उपाय है तथा पर्यावरण पर भी इनका विपरीत प्रभाव नही पड़ता है। कीट एवं व्याधि नियन्त्रण की जानकारी काफी प्राचीन है। हजारों साल पूर्व से ही चीन में नींबू कुल के पौधों के हानिकारक कीटों के विरूद्ध चीटियों का प्रयोग किया जाता था, जबकि यमन में चीटियों का प्रयोग खजूर के हानिकारक कीटों के विरूद्ध होता था। जैविक खेती में संश्लेषित रसायनों का प्रयोग वर्जित होता है अतः जैविक खेती में प्राकृतिक मित्र जीवों व वानस्पतिक कीटनाशकों का प्रयोग किया जाता है।

जैविक खेती में फसलों में कीट एवं व्याधि नियन्त्रण हेतु निम्न विधियों का प्रयोग किया जाता है–

1. **सस्य नियन्त्रण** – स्वच्छता, भू–परिष्करण, उचित फसल चक्र, बुआई के समय में परिर्वतन, उचित पोषक, तत्व प्रबन्धन, प्रपंच फसलें, मिश्रित फसलें, कटाई–छँटाई, आदि।
2. यान्त्रिक नियन्त्रण –हाथ से पकड़कर नष्ट करना, पौधों को झाड़कर, खाई खोदना, कीट प्रपंच अवरोध लगाना, पौधो के चारों ओर जाली लगाना आदि।
3. जैविक नियन्त्रण –परजीव्याभ, परभक्षी कीट, रोगाणु, सूत्रकृमि, विशाणु आदि।
4. वानस्पतिक कीटनाशकों का प्रयोग –नीम, करंज, लहसुन आदि।

कीट व्याधि नियन्त्रण के जैविक उपाय

हानिकारक जीवों की रोकथाम व उनके प्रभाव को कम करने या उनको नष्ट करने के लिये इनके प्राकृतिक शत्रुओं का उपयोग करना ही जैविक जीवनाशक या जैविक नियन्त्रण कहलाता है। कीट एवं व्याधियों के जैविक नियन्त्रण के घटक निम्न हैं –

1. **रीढ़धारी शिकारी जीव** – कुछ रीढ़धारी जीव हानिकारक कीटों को पकड़कर भक्षण करते हैं जिससे उनकी संख्या सीमित रहती है। इन जीवों में मछलियाँ, सर्प, मेढ़क, पक्षी, आदि मुख्य हैं। परन्तु इनका जैविक नियन्त्रण के रूप में प्रयोग कम ही हुआ है। उदाहरण – चने के खेत मे फली छेदक के नियन्त्रण हेतु मांसाहारी पक्षियों का उपयोग किया जाता है। चिड़ियो को आकर्षित करने के लिए एक हेक्टेयर क्षेत्र में 200 लकड़ी की खपच्चियाँ 40–50 सेमी. ऊँचाई पर लगायें। या T आकार के अड्डे लगायें।
2. **परभक्षी कीट** – प्रकृति में कई प्रकार के परभक्षी मित्र कीट हानिकारक कीटों को खाकर अपना जीवनयापन करते हैं। इनमें मुख्य परभक्षी कीट निम्न हैं –
   (i) क्राइसोपिड्स – क्राइसोपिड्स एक परभक्षी कीट है जो मुलायम शरीर वाले कीट चैपा, थ्रिप्स, जैसिड्स, फुदका, मिलीबग, सफेद मक्खी एवं लेपिडोप्टेरा गण के कीटों के अण्डों व सूंडियों को खाते हैं। भारत में इनकी 21 जातियाँ पाई जाती हैं, जिसमें 4 मुख्य हैं। फसलों में 50,000 सूंडियाँ प्रति हेक्टेयर एवं फलदार वृक्षों में 10–20 सूंडियाँ प्रति पेड़ छोड़ते हैं।
   (ii) कोक्सीनेला स्पीशीज – यह परभक्षी कीट सभी प्रकार के माहू/ चैपा का भक्षण करते हैं। ये कीट खेत में छोड़ने के एक सप्ताह के भीतर माहू को समाप्त कर देते हैं। इस कीट के वयस्क एवं शिशु दोनों ही रस चूसक कोमल नाशीजीवों का भक्षण कर उनकी प्राकृतिक रोकथाम करते हैं।

उदाहरणतः कोक्सीनेला सप्टमपंकटेटा, मिनोकाईल्स, सेक्समेकूलेट्स, क्रिप्टोलियम, ब्रूम्स, आदि

रेडुवीड् बग्स– राईनोकोरस्, कोरेनस् आदि ये परभक्षी बग विभिन्न सुण्डियों का भक्षण कर उनकी प्राकृतिक रोकथाम करती हैं।

3. **परजीवी कीट** – जैविक नियन्त्रण में परजीवी कीटों का महत्वपूर्ण स्थान है।

हानिकारक कीटों की विभिन्न अवस्थायें जैसे

अण्डे, सुण्डी, शंकू एवं प्रौढ़ अवस्था अनेक प्रकार के परजीवों के माध्यम से प्राकृतिक रूप से नियन्त्रित होती हैं।

अण्ड परजीव्याभ ट्राईकोग्रामा, टिलोनोमस आदि

अण्ड–सुण्डी परजीव्याभ चिलोनस्

सुण्डी परजीव्याभ कोटेसिया, ब्रेकोन, किलियोनिस, कैम्पोलेटिस, आईसोटिमा, स्टेनोब्रेकन आदि

शंकू परजीव्याभ – प्लेटीगैस्टर,

रस चूसक कीटों के परजीव्याभ–इपीरिकेनिया, एनकार्सिया, एल्पोट्रोपा आदि

(i) ट्राइकोग्रामा – यह एक अण्ड परजीवी है जो हानिकारक कीटों विशष तौर से लेपीडोप्टेरा गण के कीटों के अन्दर अपने अण्डे देता है। ट्राइकोग्रामा के एक कार्ड पर लगभग 16000–20000 पोश्य कीटों के परजीवी अण्डे होते हैं। यह कीट आकार मे बहुत छोटे होते हैं जो केवल 5–7 मीटर तक उड़ सकते हैं। फसलों में ट्राइकोग्रामा का उपयोग गन्ने में जड़, तना एवं शीर्ष भेधक, कपास मे बॉलवार्म, बैंगन में फल छेदक तथा धान एवं टमाटर में तना छेदक के नियन्त्रण के लिए किया जाता है। भारत में पेस्टीसाइड का उपयोग 600 ग्राम प्रति हैक्टेयर है। यह मात्रा अन्य विकसित देशों की अपेक्षा कम है लेकिन बढ़ती लागत 50,000–1,50,000 अण्डे (2.5–7.5 ट्राइकोकार्ड) प्रति हेक्टेयर 2 से 6 बार प्रयोग करते हैं।

(ii) इपीरिकेनिया – इस परजीवी का उपयोग गन्ना में पायरिला के प्रभावी नियन्त्रण हेतु किया जाता है।

4. **फफूंद** – फफूंद जैविक जीवनाशी का एक बड़ा समूह है। फफूंद की अनेक जातियाँ कीटों को नष्ट करने में सक्षम हैं। फाइकोमाइसीटिज, एस्कोमाइसीटिज, बेसिडियोमाइसीटिज वर्ग के विभिन्न फफूंद जीवनाशी के रूप में प्रयोग किये जा सकते है। प्रतिरोधी फफूंद का उपयोग फफूंदजनित रोगों के निवारण में किया जाता है।

   ट्राइकोडर्मा – यह एक मित्र फफूंद है जो मृदा में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार की हानिकारक फफूंदों के प्रबन्धन में महत्वपूर्ण योगदान देती है। जैविक खेती में इस समूह की फंफूदों का महत्व और भी बढ़ जाता है। ट्राइकोडर्मा को बीज, जड़ एवं भूमि उपचार में अनुमोदित मात्रा में प्रयोग किया जाता है। बीजोपचार हेतु 6–8 ग्राम ट्राईकोडर्मा प्रति किग्रा. बीज की दर से प्रयोग करते हैं। इसका उपयोग चने में उखटा, मूंगफली में कॉलर रोट, सोयाबीन में जड़ सड़न आदि के नियन्त्रण हेतु किया जाता है।

5. **जीवाणु** – कीटों और फसल रोगों के नियन्त्रण में जीवाणुओं का उपयोग सफलतापूर्वक व्यापारिक रूप से हो रहा है। बैसीलस थूरिन्जेन्सिस (बी.टी.) एक प्रचलित कीटनाशी है जो लेपीडोप्टेरा, डिप्टेरा, कोलिओप्टेरा गण के कीटो का प्रभावी नियन्त्रण करता है। विभिन्न फसलों में इन गणों के कीटों के नियन्त्रण के लिए फसल की उपयुक्त अवस्था पर बी.टी. का 1.0 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव किया जाता है।

6. **विषाणु** – अभी तक 7 कुल के विषाणु कीटों को मारने में सक्षम पाये गये हैं। इनमें से बेकुलो विरीडी कुल के विषाणुओं पर अधिक कार्य हुआ है। इस कुल मे एन.पी.वी. (न्यूक्लियर पॉलीहेड्रोसिस वायरस) व जी.वी. (ग्रेनुलोसिस वायरस) प्रमुख हैं। उदाहरण – चने मे फली छेदक के नियन्त्रण हेतु हेलिकोवर्पा एन.पी.वी. 250 एल.ई. का 750 मिली. प्रति हेक्टेयर छिड़काव किया जाता है।

7. **सूत्रकृमि** – सूत्रकृमि कीटों पर बाह्य एवं आन्तरिक रूप से परजीवी होते हैं। फसलों के हानिकारक कीटों को मारने में स्टेनरनिमेटिडी कुल व हेटरोरेवेटिडी के सूत्रकृमि मुख्य हैं। जिनका प्रयोग विभिन्न सुण्डियों की रोकथाम हेतु किया जाता है। राइटाइडीस, पैनग्रोलेम्स और नेयोएप्लेवसना जाति के सूत्रकृमि का प्रयोग मक्का में तना छेदक, चने में फली छेदक तथा धान में तना छेदक कीटों की रोकथाम हेतु किया जाता है।

8. **प्रोटोजोआ** – विभिन्न प्रकार के प्रोटोजोआ कीटों में संक्रमण फैलाते हैं। नोजेमा जाति के प्रोटोजोआ को टिड्डे के नियन्त्रण में सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है।

वानस्पतिक उत्पादों से कीट–व्याधि नियन्त्रण

भारत वर्ष में विभिन्न वनस्पतियों का उपयोग औषधियों और अन्न भण्डारण में तथा फल व फूल के रख रखाव हेतु प्राचीन काल से ही हो रहा है। वनस्पति के किसी भाग जैसे जड़, तना, पत्तियाँ, फल, फूल, बीज, आदि का प्रयोग कर कीट व व्याधि की रोकथाम की जाती है। पौधे अपनी द्वितीयक उपापचय क्रियाओं में टरपेनोइड, एल्केलॉइड, फ्लेवेनोइड, अमीनों अम्ल आदि रसायन उत्पन्न करते हैं जो कि कीटों में प्रतिकर्षण व खाने में अरूचि पैदा करते है। यही रसायन पौधों को कीट एवं व्याधियों से सुरक्षा प्रदान करते हैं।

हमारे देश में कई पौधे जैसे नीम, करंज, तम्बाकू, सीताफल, क्राइसेंथेमम, लहसुन आदि पाये जाते है जिनके विभिन्न उत्पादों से फसलों में कीट–व्याधियों का नियन्त्रण आसानी से किया जा सकता है।

1. **नीम** – नीम व नीम उत्पादों का फसलों में कीट व व्याधियों के नियन्त्रण में उपयोग नया नहीं है। हमारे देश में नीम की पत्तियों का प्रयोग अनाज भण्डारण में अनादि काल से किया जा रहा है। हालांकि 1959 में जर्मनी के कीट वैज्ञानिक ने बताया कि सूडान में नीम एक मात्र ऐसा वृक्ष पाया गया जो असंख्य टिड्डियों के आक्रमण भी से बचा रहा। नीम के सभी भाग पत्तियाँ, तना, फूल, फल, छाल तथा बीज में कीटनाशक गुण पाये जाते हैं।

अनुसंधानों से यह निष्कर्श निकाला जा चुका है कि नीम के उत्पाद कीटों की 200 से अधिक प्रजातियों की विभिन्न अवस्थाओं को प्रभावित करते हैं। नीम की खली का उपयोग

करने से मृदा की उर्वरा शक्ति तो बढ़ती ही है साथ में कई भूमिगत कीटों जैसे दीमक आदि से फसल की सुरक्षा होती है। नीम की पत्ती या निम्बोली के 10 प्रतिशत घोल का छिड़काव करने से कई कीटों की रोकथाम होती है। जैसे– मक्का व ज्वार में तना छेदक, चने में फली छेदक आदि।

विश्वभर में नीम का प्रयोग पादप रोग नियन्त्रण में भी किया जाने लगा है। नीम के तेल का उपयोग चने में लगने वाले उखटा रोग जनक जैसे राइजोक्टोनिया सोलेनाई व स्केलेरोशियम रोल्फसाई की रोकथाम के लिए सफलतापूर्वक किया जा चुका है। निम्बोली का प्रयोग चूर्णिल आसिता जैसे रोग के नियन्त्रण के लिये सफलतापूर्वक किया जा चुका है।

नीम के उत्पादों में 100 से ज्यादा प्रभावकारी रासायनिक तत्व पाये जाते हैं। इन तत्वों में लिमोनोइड तत्वों का समूह (ट्राइटरपीनोइट्स) मुख्य है जिसमें अजाडेरोच्टिन, निम्बिन, निम्बिडिन, सेलानिन, सेलानोल, क्विरसेटिन आदि तत्व प्रमुख हैं। नीम के बीजों में अजाडेरेच्टिन मुख्य तत्व है। नीम के बीजों में लगभग 2 से 6 प्रति किलो दाना अजाडेरेच्टिन पाया जाता है। इसके कारण नीम में कड़वापन होता है। नीम की बीजों में उपलब्ध टिग्निक एसिड के कारण नीम तेल में विशेष गन्ध आती है। नीम के गुणों को देखते हुए, अमेरिका की राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी ने वर्ष 2002 प्रकाशित रिपोर्ट में लिखा कि ''नीम'' वैश्विक समस्याओं का हल करने वाला वृक्ष है।

भूरा–हरा फुदका व चने की इल्ली के नियन्त्रण हेतु तम्बाकू की पत्तियों के घोल का छिड़काव प्रभावी पाया गया है।

3. **करंज** – करंज एक अति प्राचीन भारतीय वृक्ष है। इसकी खली का उपयोग भूमिगत कीटों के नियन्त्रण हेतु किया जाता है। करंज के तेल व पत्तियों के रस से धान के कई कीट नियन्त्रित किये जा सकते हैं।
4. **सीताफल** – सीताफल के तने व पत्तियों में कई तरह के एल्केलोइड पाये जाते हैं। इसका रस दीमक व अन्य कीटों को प्रभावी रूप से नियन्त्रित करता है। दाल वाली फसलों के बीजों को सीताफल उत्पाद से उपचारित कर भण्डारित करने पर अधिक समय तक कीटों से सुरक्षा मिलती है।
5. **लहसुन** – लहसुन एक औषधीय फसल है। इसमें कीटनाशी व जीवाणुनाशी गुण पाये जाते हैं। लहसुन के 2 प्रतिशत घोल के छिड़काव से फसलों में चूसक कीटों का नियन्त्रण किया जा सकता है। इसी प्रकार लहसुन के घोल के छिड़काव से जीवाणु रोगों का भी नियन्त्रण होता है।

कीट एवं व्याधियों का भौतिक नियन्त्रण

1. **प्रकाश प्रपंच का उपयोग** – सफेद (दूधिया) प्रकाश की ओर कीड़े आकर्षित होते हैं। इसलिए खेत में मर्करी लाईट अथवा बल्ब लगा दिया जाता है, जो फसल ऊँचाई से सिर्फ आधा फीट की ऊँचाई पर हो तथा उसके पास पानी का ड्रम अथवा मटका रख दिया जाता है। रात में कीड़े प्रकाश की ओर आकर्षित होते हैं एवं पानी में गिर जाते हैं। यह प्रकाश रात्रि को सिर्फ 7 बजे से 10 बजे तक ही करना चाहिये। इसके बाद मित्र कीट उड़ते है। अतः प्रकाश रहने पर उनके मरने की सम्भावना रहती है।
2. **फैरोमेन ट्रेप का उपयोग** – फैरोमेन ट्रेप कार्बनिक रसायन (गंध) प्रपंच है। इसमें उपलब्ध रसायन नर पतंगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये गंध वातावरण में

क्र.सं.	नीम उत्पाद	बायोपेस्टीसाइड तैयार करने की विधि
1.	नीम बीज सत (NSKE)	50 ग्राम नीम के 3 से 8 माह पुराने बीज का पाउडर को 1 लीटर पानी में रातभर भिगोकर घोल को छानकर छिड़काव करें।
2.	नीम पत्ती सत (NLE)	1 किलोग्राम नीम की हरी पत्तियों को 5 लीटर पानी में रातभर भिगोने के बाद चटनी/पेस्ट बनाकर छान लें तथा छिड़काव करें।
3.	नीम तेल	20 से 30 मिलीलीटर नीम का तेल प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें।
4.	नीम खली सत (Neem Cake Extract)	100 ग्राम नीम की खली को एक लीटर पानी में मिलाकर रातभर भिगोने के बाद छान कर निकाले घोल की 1 मिलीलीटर मात्रा को एक लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें।

(Neem, a Tree for Solving Global Problems)

1. **क्राइसेंथेमम** – क्राइसेंथेमम के सूखे फूल आदिकाल से कीटनाशक के रूप में उपयोग मे लाये जा रहे हैं। भारत में कीटनाशी के रूप में इसका उपयोग सब्जी व फलों तक ही सीमित है।
2. **तम्बाकू** – तम्बाकू में पाया जाना वाला निकोटिन कीटनाशक के रूप में कार्य करता है तम्बाकू की पत्तियों का रस सरसों में माहू, कपास की सफेद मक्खी, थ्रिप्स व बालवर्म को प्रभावी रूप से नियन्त्रित करता है। धान में

छोड़ता है। गंध से आकर्षित नर पंतगे ट्रेप में आकर फंस जाते हैं। नर पतंगो के नियन्त्रण के लिए प्रति हेक्टेयर 5–7 ट्रेप लगाना आवश्यक होता है। ट्रेप का ल्यूर 15 दिन में बदलते रहना चाहिए ताकि पतंगे नियमित रूप से आकर्षित होते रहें।

कीट एवं व्याधि नियन्त्रण में गौ–मूत्र का उपयोग

गौ–मूत्र को वेदों में अमृत तुल्य बताया गया है यह माना जाता है कि गौ–मूत्र जितना पुराना उतना उपयोगी होता है। गौ–मूत्र का उपयोग शरीर एवं दिमाग को परिष्कृत करने, रोग निवारक, बायोपेस्टीसाइड पौध वृद्धि कारक तथा मृदा गुणवत्ता पोषक के रूप में किया जाता है। गौ–मूत्र के विभिन्न गुणों पर अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर कई पेटेन्ट जारी किए जा चुके हैं।

प्राचीन काल से ही गौ–मूत्र को कृषि तथा मानवजीवन में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गौ–मूत्र में आयरन, कैल्शियम, फॉस्फोरस, पोटाश, सोडियम, कॉपर, कार्बोनिक अम्ल व लेक्टोज पाया जाता है। गौ मूत्र से बनी दवाओं का प्रयोग मनुष्यों की विभिन्न बीमारियों के इलाज में भी किया जाता है। गौ–मूत्र को संक्रमण दूर करने वाला माना गया है। अनुसंधान द्वारा यह पाया गया है कि गौ–मूत्र में कीटनाशी का गुण होता है जिससे पौधे स्वस्थ व निरोगी रहते हैं।

गौ–मूत्र में लगभग 95 प्रतिशत पानी, 2.5 प्रतिशत यूरिया तथा 2.5 पोषक तत्व, लवण, हारमोन्स तथा एन्जाइम पाये जाते हैं। इसमें कॉपर, चांदी तथा सोने के कणों के अलावा एस्ट्रोजन, कोर्टिकोस्टेरॉइड तथा कीटोस्टेरॉइड भी पाये जाते है। गौ–मूत्र के 5 से 15 प्रतिशत सान्द्रता के घोल का सीधा छिड़काव तथा अन्य पौधों के सत जैसे– तुलसी, आम, धतूरा, आदि के साथ मिलाकर इसका प्रयोग फसलों में कवकनाशी, जीवाणुनाशी तथा कीटनाशी के रूप में किया जाता है।

2.7 टिकाऊ खेती की सामान्य जानकारी

परिचय

राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दीर्घावधि उर्वरक अनुसंधान व प्रयोगों के आधार पर 1980 के दशक से विभिन्न कृषि विशेषज्ञों ने किसानों द्वारा लगातार अधिक मात्रा में उर्वरक, पानी व एक ही प्रकार की फसल चक्र व उननत किस्म लेने से भूमि की उर्वरता में गिरावट, उपज तथा वातावरण पर दुष्प्रभाव के संकेत दिए थे। इसी के समानान्तर 1972 में स्टॉकहोम (स्वीडन) मे हुए प्रथम विश्व पर्यावरण सम्मेलन के कारण वातावरण व पारिस्थितिकीय टिकाऊपन पर अन्तर्राष्ट्रीय सोच जागने लगी। यहाँ पर सभी देशों से यह अपेक्षा जताई गई कि कृषि या पर्यावरण के क्षेत्र में ऐसा कोई अचानक परिवर्तन न किया जाए जिससे पर्यावरण पर दुष्प्रभाव पड़े। हमारे देश में गेहूँ व चावल में ज्यादा उर्वरक, पानी व अच्छे बीज के उपयोग में गिरावट होने लगी तथा खाद्यान्नों की आंशिक घटक उत्पादकता (Partial Factor Productivity) में गिरावट होने लगी। सेम, लवणयता, खरपतवारों व पानी एवं जमीन के प्रदूषण की समस्या बढ़ने लगी। इसके साथ ही 1992 में रियो डी जनेरियो (ब्राजील) में हुए दूसरे पृथ्वी सम्मेलन में टिकाऊपन की समस्या पर अन्तर्राष्ट्रीय सोच प्रकट होने पर सभी देशों ने उन सभी कृषि क्रियाओं को कृषि उत्पादन तकनीकों में समावेश करने पर विशेष ध्यान देना शुरू कर दिया जो फसल उत्पादन, भूमि की उर्वरता व वातावरण की सुरक्षा के साथ–साथ किसानों के लिए लम्बे समय तक फायदेमंद भी रहे तथा कृषि उत्पादन में टिकाऊपन कायम रहे।

टिकाऊ खेती

टिकाऊपन (Sustainability) का शब्दिक अर्थ है "किसी घटक की उत्पादन क्षमता को लंबे समय तक निरन्तर बनाए रखना"।

आमतौर पर इस सिद्वान्त को अगर कृषि से जोड़ दिया जाए तो इसका अर्थ है कि ऐसी कृषि पद्धति जो भूमि की उत्पादकता व लाभप्रदता में कोई विशेष परिवर्तन किए बगैर उत्पादन को बरकरार रखें। विश्व पर्यावरण और विकास आयोग और उसकी आर्थिक विकास एवं पर्यावरण सलाहकार समिति की रिपोर्टों में इस बात का बल दिया गया है कि कृषि एवं आर्थिक विकास तथा इसमें प्रयुक्त होने वाली नई तकनीकों को पर्यावरण सुरक्षा से जोड़ना होगा। इस परिप्रेक्ष्य में टिकाऊ खेती कृषि की ऐसी पद्धति है जिसमें पर्यावरण को बिना क्षति पहुँचाए खेती की पैदावार बढ़ती रहे तथा यह स्थिति लम्बे समय तक कायम रहे। ऐसी प्रणाली में उत्पादकता का मापदण्ड निम्नलिखित तरह से आंका गया है:–

$$\text{उत्पादकता} = \frac{\text{उत्पादन का मान} + \text{प्राकृतिक धरोहरों पर प्रभाव}}{\text{निवेश का मान}}$$

परिभाषा

टिकाऊ खेती एक कृषि पद्धति है जिसमें कृषि संसाधनों का इस प्रकार सफल प्रबंधन किया जाता है जिससे मानव की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें, साथ ही पर्यावरण में सुधार हो या गिरावट न आए और प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा हो सके।

टिकाऊपन के मानक

टिकाऊ खेती के निर्धारण के लिए निम्नलिखित तीन महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का समावेश होना अति आवश्यक है:–

1. **दक्षता** – टिकाऊ खेती के लिए यह आवश्यक है कि उपलब्ध संसाधनों का दक्षता से उपयोग हो। प्रति इकाई संसाधन के उपयोग पर अधिक से अधिक उत्पादन मिले। दक्षता इंगित करती है कि प्रक्षेत्र पर उपलब्ध सभी संसाधनों का बुद्धिमता व संतुलित रूप से इष्टतम उपयोग हो।

2. **पर्यावरण** – कृषि उत्पादन को बढ़ाने वाली पद्धतियाँ या इसमें प्रयुक्त होने वाले संसाधनों का इस प्रकार उपयोग करें जिससे कि प्राकृतिक संसाधनों का कम से कम ह्रास हो एवं पर्यावरण का पूरा संरक्षण हो अर्थात् मुख्य रूप से मृदा, जल, जलवायु, उर्जा तथा पोषक तत्वों की प्रभावकारी एवं गुणकारी स्थिति बनी रहे।

3. **समय** – टिकाऊपन की कोई समय सीमा नहीं है। यह अनन्त है। दीर्घावधि तक कृषि की नई तकनीकों का प्रभावकारी व गुणकारी स्वभाव कायम रखने से टिकाऊपन बना रहता है। आधुनिक खेती के तौर–तरीके लाभकारी जरूर हैं लेकिन थोड़े समय के लिए। दीर्घावधि के लिए खेती को लाभकारी, टिकाऊ खेती के सिद्वान्तों व प्रणालियों को अपनाकर ही बनाया जा सकता है।

टिकाऊ खेती के सिद्धान्त

टिकाऊ खेती ऐसी कृषि क्रियाओं, तकनीकों व विधियों का समावेश है जो कृषि की दक्षता, पर्यावरण संरक्षण एवं मानवीय आवश्यकता के साथ दीर्घ काल तक सामंजस्य बनाए रखती हैं। टिकाऊ खेती के मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं :–

1. सभी कृषि कार्यकलापों को क्रियान्वित करने के समय इस बात से सजग रहना चाहिए कि कहीं कोई विधि प्राकृतिक संतुलन के किसी घटक पर विपरीत या प्रतिस्पर्धातमक प्रभाव नहीं डाल रही है यह कृषि–पारिस्थितिकी के घटकों में समांजस्यकारी होनी चाहिए।
2. परम्परागत व देशज कृषि तकनीकों को परिष्कृत करने के बजाए नई तकनीकों के साथ इसका सामंजस्य प्रेरित करना।
3. सभी उत्पादक एवं लाभप्रद कृषि क्रियाओं के समावेश पर जोर देना।
4. प्रकृतिक संसाधनो का संरक्षण करने वाले सभी पुरानी व नई तकनीकों को कृषि कार्यकलापों में अधिकाधिक सम्मिलित करना।
5. स्वास्थ्य व सुरक्षा को पूरा ध्यान देने वाली होनी चाहिए।
6. कम लागत वाली कृषि तकनीकों व नवीनीकृत संसाधनों पर अधिक बल देना।
7. दीर्घकाल तक प्राकृतिक संतुलन व मानव आवश्यकता का ध्यान रखें।
8. यह एक निरन्तर व गतिमान पद्वति है अतः नई तकनीकों व ज्ञान के आधार पर समय व स्थान के अनुसार परिवर्तनशील है।

टिकाऊ खेती के घटक : खेती को टिकाऊ बनाने के लिए निम्न घटकों का समावेश करना आवश्यक है।

1. **फसल विविधिकरण** – इसमें फसल चक्र, मिश्रित फसल एवं अन्तर्शस्य खेती एवं फसल पद्धति के सिद्धान्तों के अनुसार फसलों का चुनाव एवं उत्पादन किया जाता है।
2. **आनुवांशिक विविधता** – कृषि जलवायु एवं मौसमजन्य नुकसान को कम करने तथा एकल जीन बहुलता के खतरे को कम करने हेतु अलग–अलग आनुवांशिकी के पेड़–पौधों एवं जीवों का चुनाव कर उत्पादन करने पर जोर दिया जाता है।
3. **समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन** – विभिन्न जैविक एवं अजैविक स्रोतों तथा प्रबंधन कारकों के उचित समन्वय द्वारा बेहतर एवं सम्यक तरीके से फसलों की पोषण आवश्यकता पूरी की जाती है। साथ ही मृदा उत्पादकता भी बनाए रखी जाती है।
4. **समन्वित नाशीजीव प्रबंधन** – भौतिक एवं शस्य क्रियाओं, जैविक, पारिस्थितिकीय, रासायनिक एवं वर्जन पद्धतियों का समावेश कर पर्यावरण पर विपरीत प्रभाव डाले बिना कीटों एवं रोगों एवं हानिकारक जीवों का नियंत्रण एवं प्रबंधन किया जाता है।
5. **समन्वित जल प्रबंधन** – जल संग्रहण एवं संरक्षण, जल वितरण, जल पुर्नभरण तथा सिंचाई की अधिक प्रभावी विधियों एवं जलसंग्रहण क्षेत्र प्रबंधन द्वारा जल के अधिकतम सदुपयोग एवं पुनर्भरण के सिद्धान्तों को अपनाया जाता है।
6. **उर्जा प्रबंधन** – नवीनीकरण उर्जा के वैकल्पिक स्रोतों का टिकाऊ खेती में समावेश करने पर जोर दिया जाता है। बायोगैस, बायोमास, सौर एवं वायुजनित ऊर्जा संसाधनों का कृषि प्रबंधन में समावेश किया जाता है।
7. **उन्नत तकनीकों का ज्ञान** – कृषि की उन्नत तकनीकों एवं उत्पादों के सामाजिक, पर्यावरणीय एवं आर्थिक प्रभावों के बारे में नवीनतम जानकारी के सतत् अर्जन से कृषि उत्पादन में टिकाऊपन लाया जा सकता है।
8. **सूचना प्रबंधन**– खेती से संबंधित नई तकनीकों, बाजार, योजनाओं, विषय विशेषज्ञ तथा कन्सलटेन्सी संबंधी सेवाओं के बेहतर उपयोग के लिए क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सूचनाओं की जानकारी आवश्यक है इसके लिए ई–लर्निंग, ई–मार्केट, रिमोट सेन्सिंग, इन्टरनेट, मोबाईल एप, जीपीएस आदि तकनीकों का इस्तेमाल कर खेती के प्रबंधन को दक्ष बनाया जा सकता है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

1. आधुनिक खेती के प्रतिकूल प्रभावों के कारण टिकाऊ खेती की अवधारणा का जन्म हुआ।
2. आज विश्व में जैविक खेती, बायोडायनेमिक खेती, अग्निहोत्र, ऋषि खेती, परमाकल्चर, इत्यादि का प्रचलन

बढ़ रहा है। इन सभी का उद्देश्य एक ही है– कृषि उपज में टिकाऊपन के साथ ही प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण।

3. जैविक खेती मुख्यतया फसल–चक्र, फसल अवशेष, जीवांश खाद, दलहनी फसल, हरी खाद, खनिज पदार्थों एवं जैविक कीट व व्याधि नियंत्रण पर निर्भर करती है।
4. जैविक खेती में फार्म को एक जीवित संगठन के रूप में माना जाता है।
5. जैविक उत्पाद के व्यवसायीकरण हेतु जैविक उत्पाद प्रमाणीकरण होना आवश्यक है।
6. जैविक खेती में फसल को पोषक तत्वों की आपूर्ति जीवांश/कार्बनिक खादों से की जाती है।
7. गोबर की खाद में 0.5 प्रतिशत नाइट्रोजन, 0.25 प्रतिशत फॉस्फेरस व 0.50 प्रतिशत पोटाश होता है।
8. कम्पोस्ट फार्म अवशिष्टों व शहर–कस्बों के अवशिष्टों से तैयार की जाती है।
9. इन्दौर विधि ए. होवार्ड व यशवन्त डी. वाड द्वारा विकसित की गई है।
10. नेडेप विधि महाराष्ट्र के कृषक नाडेप काका द्वारा विकसित की गई है।
11. वर्मीकम्पोस्ट बनाने हेतु एपिजिक किस्म के केंचुएँ काम में लिये जाते हैं।
12. एक प्रजनन केंचुआ 6 माह में 250 केंचुएँ पैदा कर देता है।
13. नाइट्रोजन जैव उर्वरक है– राइजोबियम, एजोटोबेक्टर, एजोस्पिरिलम, नील हरित शैवाल, एजोला आदि तथा फॉस्फोरस जैव उर्वरक पी.एस.एम./पी.एस.बी. व माइकोराइजा हैं।
14. राइजोबियम का उपयोग दलहनी फसलों में किया जाता है।
15. नील हरित शैवाल व एजोला का उपयोग धान में किया जाता है।
16. एजोटोबेक्टर व एजोस्पिरिलम जैव उर्वरको का प्रयोग अदलहनी फसलों में किया जाता है।
17. पी.एस.एम./पी.एस.बी. का प्रयोग सभी प्रकार की फसलों व सब्जियों में किया जाता है।
18. जैव उर्वरकों का प्रयोग बीज उपचार, मृदा उपचार पौध उपचार व कन्द उपचार के लिये किया जाता है।
19. डॉ. रूडोल्फ स्टेनर ने बॉयोडायनेमिक खेती की विचारधारा का प्रतिपादन किया।
20. बॉयोडायनेमिक खेती को जैवगतिकी कृषि भी कहते हैं।
21. कृषि पंचांग मूलतः चन्द्रमा की गति पर आधारित होता है।
22. पूर्णिमा के 48 घण्टे पूर्व बीजों की बुआई की जाये तो अंकुरण दर में वृद्धि होती है। इस दिन अधिक आर्द्रता के कारण फफूंद तथा अन्य सूक्ष्म जीवाणुओं का प्रकोप अधिक होता है।
23. अमावस्या पर फसल की कटाई करने पर फसलोपरान्त होने वाली हानि कम होती है।
24. चन्द्र उत्तरायण अवस्था में बुआई करने पर अंकुरण अच्छा होता है। इस अवस्था में पत्तीदार फसलों की कटाई, फलों की तुड़ाई, कलम लगाना तथा चारे की कटाई करना उत्तम रहता है।
25. चन्द्र दक्षिणायन अवस्था में कन्दवाली फसलों की गुणवत्ता व उत्पादन में वृद्धि होती हैं। यह अवस्था खाद बनाने व खेत में डालने तथा जुताई के लिये सर्वोत्तम है।
26. जैविक खेती में कीट एवं व्याधि नियन्त्रण हेतु सस्य नियन्त्रण, यान्त्रिक नियन्त्रण, जैविक नियन्त्रण, वानस्पतिक उत्पाद का प्रयोग, आदि उपाय काम में लिये जाते हैं।
27. फसलों में कीट व व्याधि के जैविक नियन्त्रण हेतु परजीव्याभ, परभक्षी, रोगाणु, जीवाणु, विषाणु, प्रोटोजोआ आदि का उपयोग किया जाता है
28. जैविक नियन्त्रण हेतु क्राइसोपीड्स व कोक्सीनेला प्रमुख परभक्षी कीट हैं।
29. ट्राइकोग्रामा व एपीकार्निया जैविक नियन्त्रण के प्रमुख परजीवी कीट है।
30. ट्राइकोडर्मा एक फफूंद है जो विभिन्न फसलों में बीज एवं मृदा उपचार हेतु काम में ली जाती है।
31. *बैसिलस थूरिन्जेन्सिस* (बी.टी.) एक प्रचलित जैव कीटनाशी है जो लेपीडोप्टेरा, डिप्टेरा व कोलिओप्टेरा कुल के कीटों का नियन्त्रण करती है।
32. एन.पी.वी. व जी.वी. जैविक नियन्त्रण हेतु मुख्य विषाणु है।
33. कीट–व्याधि की रोकथाम हेतु मुख्यतः नीम, करंज, क्राइसेंथेमम, लहसुन, गौ–मूत्र आदि उत्पाद काम में लिए जाते हैं।
34. टिकाऊ खेती एक कृषि पद्धति है जिसमें कृषि संसाधनों का इस प्रकार सफल प्रबंधन किया जाता है जिससे मानव की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें, साथ ही पर्यावरण में सुधार हो या गिरावट न आए और प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा हो सके।
35. टिकाऊ खेती ऐसी कृषि क्रियाओं, तकनीकों व विधियों का समावेश है जो कृषि की दक्षता, पर्यावरण संरक्षण एवं मानवीय आवश्यकता के साथ दीर्घ काल तक सामंजस्य बनाए रखती हैं।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. ऑर्गेनिक फार्मिंग शब्द का प्रयोग प्रथम बार किसने किया?
   (अ)हावर्ड ने (ब) फार्सन ने
   (स)नार्थबोर्न ने (द) वेलफोर ने
2. जैविक खेती में उपयोग लिया जाता है।
   (अ)जीवांश खाद (ब) रासायनिक उर्वरक
   (स) शाकनाशी (द) कीटनाशी
3. गोबर की खाद में कितने प्रतिशत नाइट्रोजन पाया जाता है–
   (अ) 0.5 (ब) 0.75
   (स) 0.25 (द) 1.0
4. हरी खाद के लिये ढेंचे की प्रति हेक्टेयर बीज दर रखते हैं–
   (अ) 60–80 किग्रा. (ब) 40–50 किग्रा.
   (स) 90–100 किग्रा. (द) 100–120 किग्रा.
5. जीवांश खाद से मृदा की कौनसी अवस्था पर प्रभाव पड़ता है?
   (अ) जैविक (ब) रासायनिक
   (स) भौतिक (द) उपरोक्त सभी
6. भारत में कितने प्रतिशत मृदाओं में जस्ते की कमी है?
   (अ) 47 (ब) 12
   (स) 64 (द) 58
7. चने के बीजों को कौनसे जैव उर्वरक से उपचारित करते है।
   (अ) राइजोबियम (ब) एजोटोबेक्टर
   (स) एजोला (द) एजोस्पिरिलम
8. एजोला का उपयोग कौनसी फसल में करते है।
   (अ) गेहूँ (ब) जौ
   (स) मक्का (द) धान
9. बॉयोडायनेमिक खेती की विचारधारा का प्रतिपादन किया–
   (अ) रोडेल फेमिली (ब) डॉ. रूडोल्फ स्टेनर
   (स) हंस मूलर (द) लेडी एवं वेलफोर
10. चन्द्र दक्षिणायन अवस्था में कौन सी फसलों की गुणवत्ता में वृद्धि होती है।
    (अ) फूल (ब) चारा
    (स) अनाज (द) कन्द
11. जैविक नियन्त्रण हेतु परभक्षी कीट है।
    (अ) क्राइसोपिड्स (ब) ट्राइकोग्रामा
    (स) ट्राइकोडर्मा (द) एन.पी.वी
12. एपीकार्निया का उपयोग कौन सी फसल में किया जाता है?
    (अ) गेहूँ (ब) मक्का
    (स) धान (द) गन्ना
13. प्रथम विश्व पर्यावरण सम्मेलन कहाँ आयोजित किया गया?
    (अ) नई दिल्ली (ब) रियो–डी–जेनेरियो
    (स) स्टॉकहोम (द) वाशिंगटन
14. निम्नलिखित में से कौनसा मानक टिकाऊ खेती के निर्धारण के लिए महत्त्वपूर्ण है?
    (अ) पर्यावरण (ब) सूचना प्रबंधन
    (स) आनुवांशिक विविधता (द) ऊर्जा प्रबंधन

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

15. जैविक खेती की संक्षेप में व्याख्या कीजिए।
16. जैविक खेती के उद्देश्य पर प्रकाश डालिए।
17. जैविक खेती के महत्त्व के बारे में संक्षेप में लिखिये।
18. गोबर की खाद के मुख्य घटक क्या हैं?
19. नेडेप विधि द्वारा तैयार वर्मीकम्पोस्ट में नाइट्रोजन व फॉस्फोरस की मात्रा लिखिए।
20. वर्मीकम्पोस्ट किस प्रजाति के केंचुएँ द्वारा तैयार की जाती है?
21. जीवांश खाद भूमि की संरचना में कैसे सुधार करती है?
22. खाद की परिभाषा लिखिए।
23. मक्का के लिये कौनसा नाइट्रोजनधारी जैव उर्वरक काम में लेते हैं?
24. धान के खेत में एजोला की कितनी मात्रा प्रयोग करते है?
25. कृषि पंचांग किस पर आधारित है?
26. पूर्णिमा के 48 घण्टे पूर्व बुआई करने पर क्या होता है?
27. बैसिलस थूरिन्जेन्सिस जीवाणु कौनसे गण कीटों का नियन्त्रण करते है?
28. किन्हीं दो परभक्षी कीटों के नाम लिखिए।
29. कीट व्याधि नियन्त्रण हेतु दो महत्वपूर्ण वनस्पतियों के नाम लिखिये।
30. टिकाऊपन के निर्धारण मानकों के नाम लिखिए।
31. टिकाऊ कृषि के घटकों के नाम लिखिए।
32. टिकाऊपन उत्पादकता का सूत्र लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

33. आधुनिक जैविक खेती की उत्पत्ति कहाँ से हुई?
34. राजस्थान में जैविक उत्पाद को प्रमाणीकरण करने के लिए अधिकृत संस्था का नाम लिखिए।

35. हरी खाद को खेत में पलटने की विधि लिखिये।
36. गोबर की खाद बनाने की संशोधित गड्ढा विधि का उल्लेख कीजिए।
37. वर्मीकम्पोस्ट के लाभ लिखिये।
38. जीवांश खाद के उपयोग से मृदा की रासायनिक अवस्था पर होने वाले प्रभाव पर प्रकाश डालिए।
39. जीवांश खाद मृदा की जैविक अवस्था में कैसे सुधार करती है?
40. जीवांश खाद पर टिप्पणी लिखिए।
41. जैव उर्वरको के लाभ बताइये।
42. माइकोराइजा क्या है?
43. एजोला की उपयोग विधि लिखिए।
44. बॉयोडायनेमिक खेती क्या है?
45. चन्द्र उत्तरायण पक्ष में कौनसे कृषि कार्य करने चाहिए?
46. टिकाऊपन किसे कहते हैं?
47. टिकाऊ कृषि की परिभाषा लिखिए।
48. टिकाऊ कृषि में पर्यावरण के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
49. जैविक नियन्त्रण के महत्व पर प्रकाश डालिए।
50. ट्राइकोडर्मा के उपयोग पर विवरण लिखिए।
51. कीट नियन्त्रण में ट्राइकोग्रामा के उपयोग का संक्षिप्त विवरण लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

52. भारत में जैविक खेती के भविष्य के बारे में विस्तारपूर्वक टिप्पणी लिखिये।
53. जैविक खेती का वर्णन निम्न बिंदुओं के आधार पर कीजिये–
    (अ) जैविक खेती के उद्देश्य
    (ब) जैविक खेती की अवधारणा
    (स) भारत मेंजैविक खेती का भविष्य
54. वर्मीकम्पोस्ट बनाने की विधि का वर्णन कीजिये।
55. नेडेप विधि से कम्पोस्ट कैसे बनाया जाता है। सविस्तार वर्णन करें।
56. गोबर की खाद बनाने की ट्रेन्च विधि पर विस्तार से प्रकाश डालें।
57. हरी खाद प्रयोग की तकनीकी का वर्णन करें।
58. जीवांश खाद का मृदा पर प्रभाव निम्न बिंदुओं के आधार पर कीजिये–
    (अ) जैविक अवस्था
    (ब) रासायनिक अवस्था
    (स) भौतिक अवस्था
59. विभिन्न जैव उर्वरकों के प्रकार एवं उनकी प्रयोग विधि पर संक्षिप्त में प्रकाश डालिये।
60. कृषि पंचांग के महत्व पर प्रकाश डालिये तथा चन्द्रमा की विभिन्न अवस्थाओं का कृषि कार्य में महत्व के बारें में लिखिये।
61. फसलों में कीट व्याधि नियन्त्रण के जैविक उपायों की व्याख्या कीजिये।
62. वानस्पतिक उत्पादों द्वारा फसलों के कीट–व्याधि नियन्त्रण पर प्रकाश डालिये।
63. टिकाऊ खेती के सिद्धान्तों का विवरण लिखिये।
64. टिकाऊ खेती के घटकों पर प्रकाश डालिये।

उत्तरमाला :

1. (स), 2. (अ), 3. (अ), 4. (अ), 5. (द), 6. (अ),
7. (अ), 8. (द), 9. (ब), 10. (द), 11. (अ), 12. (द)
13. (स), 14. (अ)

अध्याय – 3
सिंचाई (Irrigation)

कृषि उत्पादन की दृष्टि से समुचित सिंचाई व्यवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वर्तमान में कृषि आदान (Inputs) में सिंचाई सबसे महत्वपूर्ण है। विश्व के जल स्रोतों में आई पानी की कमी से हम सभी परिचित हैं। अतः उपलब्ध जल की प्रत्येक बूँद से अधिक से अधिक उत्पादन लेने के प्रयास किये जा रहे हैं।

सिंचाई की परिभाषा (Definition of Irrigation)

पौधों की वृद्धि के लिये मृदा में आवश्यक नमी संभरण हेतु कृत्रिम रूप से पानी देने की क्रिया को सिंचाई कहते हैं।

सिंचाई के उद्देश्य (Objectives of Irrigation)

(1) पौध वृद्धि हेतु मृदा में आवश्यक नमी की पूर्ति हेतु।

(2) फसल को अल्पावधि सूखे से बचा कर उत्पादन सुनिश्चित करने हेतु।

(3) पौध वृद्धि हेतु फसल छत्र (Crop canopy) के ऊपर अल्प वायुमण्डल (Micro atmosphere) को ठण्डा रख कर उसे पौध वृद्धि के लिये अनुकूल बनाने हेतु।

(4) कर्षण परत (Plough layer) को नरम कर उसे कर्षण क्रियाओं हेतु अनुकूल बनाने हेतु।

(5) मृदा में स्थित लवणों के निक्षालण (Leaching) करने या उसे तनु (Dilute) करने हेतु।

(6) फसलों को पाले (Frost) से बचाने हेतु।

फसल में सिंचाई कब करें (Scheduling of Irrigation)

फसलों में उपयुक्त समय पर सिंचाई करने के लिए निम्नलिखित आधार अपनाये जा सकते हैं–

(i) पौधों के आधार पर

सिंचाई का समय पौधों में जल की मात्रा या जल विभव मापकर, पौधों में जल की कमी से उत्पन्न लक्षणों को देखकर व पौधों की उचित क्रान्तिक अवस्थाएँ (Critical stages) जानकर कर सकते हैं –

(अ) पौधों की बाह्य स्थिति देखकर : प्रातःकाल एवं दोपहर के समय खेत में जाकर पौधों का अवलोकन करना चाहिए। यदि प्रातःकाल दो तीन दिन तक लगातार पत्तियाँ मुरझाई हुई दिखाई दें, तो सिंचाई करना आवश्यक है।

(ब) पौधों की पत्तियों में जल मात्रा या जल विभव (Leaf water potential) मापकर : पौधों की पत्तियों की स्फीति एवं उनमें वर्तमान जल विभव या जल की मात्रा को सही मापकर सिंचाई करें तो यह विधि सिद्धान्त रूप से सबसे उपयुक्त है।

(स) पत्तियों का तापमान मापकर (Leaf temperature) : जब मृदा व पौधों में पानी की कमी होने लगती है तो पत्तियों के पर्ण रन्ध्र (Stomata) आंशिक व पूर्णतया बन्द

सारणी : सिंचाई के लिए फसलों की क्रान्तिक अवस्थाएँ

क्र. सं.	फसल	क्रान्तिक अवस्थाएँ
1.	गेहूँ	शीर्ष जड़ निकलना (Crown root initiation), कल्ले फूटान (Late tillering), गाँठ अवस्था (Late jointing), बालिया निर्माण (Ear emergence), दाने की दूधिया अवस्था (Milk stage) व दाना पकने की अवस्था (Dough stage)
2.	जौ	बुवाई के 30 दिन बाद, दाने भरते समय
3.	चना, सरसों, अलसी	फूल आने से पहले, फलियां बनते समय
4.	आलू	अंकुरण के समय, कन्द बनने का प्रारम्भिक समय
5.	गन्ना	अंकुरण, कल्ले निकलते समय, बढ़वार के समय
6.	कपास	डोडे वाली शाखायें बनते समय, फूल आते समय, डोडे बनेतसमय
7.	तम्बाकू	चुंटाई के समय
8.	मूँगफली	सुइयाँ बनने से मूँगफली बनना शुरू होते तक
9.	धान	कल्ले निकलते समय, फूल आने से पहले व फूल आते समय
10.	मक्का	नरमंझरी आते समय, भुट्टे बनते समय

हो जाते हैं जिससे वाष्पोत्सर्जन में कमी आती है व पत्तियों का तापमान बढ़ जाता है। इस विधि में इन्फ्रा रेड थर्मामीटर की सहायता से फसल की सतह का तापमान मापकर सिंचाई का निर्धारण करते हैं।

(द) फसलों की क्रान्तिक अवस्थाओं (Critical stages) के आधार पर : फसलों में कुछ अवस्थाएँ ऐसी होती हैं जिन पर पानी की कमी हो जाये तो पौधों को बहुत क्षति पहुँचती है और उपज काफी कम होती है। पौधों की ऐसी अवस्था को ही सिंचाई के आधार पर क्रान्तिक अवस्था कहते हैं।

(ii) मृदा नमी के आधार पर

मृदा में उपलब्ध जल की ऊपरी सीमा क्षेत्र क्षमता (Field capacity) तथा निचली सीमा स्थाई म्लानि बिन्दु (Permanent wilting point) कहलाती है। इन दोनों के मध्य मृदा जल की मात्रा ही पौधों को उपलब्ध होती है। इसे प्राप्य जल (Available water) कहते हैं। वाष्पीकरण व वाष्पोर्त्सन के कारण धीरे–धीरे मृदा नमी का ह्रास होता रहता है और अस्थाई म्लानि बिन्दु की अवस्था आने लगती है, जिससे पौधों की वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, इस अवस्था से पूर्व ही फसल में सिंचाई करना आवश्यक है।

फसलों में सिंचाई कितनी करें? (How much to irrigate?)

फसल उत्पादन में सिंचाई समय का जितना महत्व है उतना ही फसल की आवश्यकतानुसार सिंचाई की मात्रा का भी है। इसलिए किसी फसल में कितनी सिंचाई और एक सिंचाई में कितने जल की मात्रा दी जाये, यह जानना आवश्यक है। किसी फसल के लिए जल की मात्रा की आवश्यकता विभिन्न कारकों पर निर्भर करती है। इनमें फसल की किस्म, भूमि की किस्म, बुआई का समय, जलवायु आदि प्रमुख हैं। विभिन्न फसलों के लिए सिंचाई की जल माँग अलग–अलग होती है जो पौधों की क्रान्तिक अवस्थाओं के समय सिंचाई पर निर्भर करती है। विभिन्न फसलों में सिंचाई की संख्या व समय तथा जल माँग सारणी ... में दी गई है।

सारणी : विभिन्न फसलों की जल माँग

फसल	जल माँग (मि.मी.)	फसल	जल माँग (मि.मी.)
धान	900–2500	मूँगफली	500–700
गेहूँ	450–650	कपास	700–1300
गन्ना	1500–2500	सोयाबीन	450–700
आलू	500–700	मक्का	500–800

सिचाई की विधियाँ

चौकेबार द्रोणी सिंचाई विधि (Check Basin Irrigation Method)

खेतों में सिंचाई हेतु यह सर्वाधिक प्रचलित विधि है। इस विधि के अन्तर्गत खेत का समतलीकरण कर उसे वर्गाकार अथवा आयताकार क्यारियों में विभाजित कर दिया जाता है। इन क्यारियों को चौकेबार (Check basin) कहते हैं। खेत में ढाल अनुसार क्यारियों में जल प्रवाह हेतु नालियाँ बनाई जाती हैं। प्रत्येक चौकेबार में आवश्यकतानुसार पानी भरा जाता है।

लाभ

1. सममतल भूमि पर अनियंत्रित आप्लवन विधि की अपेक्षा अधिक जल उपयोग दक्षता प्राप्त की जाती है। 2. अपवाह व अन्तः स्त्रवण जैसी समस्याओं में कमी आती है। 3. खेत में जल वितरण समान होता है। 4. सरल विधि है।

सीमाएँ

1. खेत में पानी प्रवाह हेतु बनाई गई नालियों से भूमि का बड़ा भाग बुआई के काम नहीं आता है।
2. नालियों से खेत में मशीनों के उपयोग में कठिनाई व निराई–गुड़ाई मे व्यवधान उत्पन्न होता है।
3. पृष्ठीय जल निकास बाधित होता है।
4. खेत में अपेक्षाकृत समतलीकरण होना आवश्यक होता है।
5. खेत की तैयारी में अधिक मजदूर चाहिये।

बोर्डर पट्टी सिंचाई विधि (Border Strip Irrigation Method)

इस विधि में खेत के ढाल की दिशा में लम्बी–लम्बी पट्टियां समानान्तर रूप से बनाई जाती है। प्रत्येक पट्टी में ऊपर की ओर से पानी छोड़ा जाता है जो कि महीन परत के रूप में निचले सिरे की ओर बहता हुआ आता है। प्रत्येक पट्टी की लम्बाई व चौड़ाई जल बहाव, ढलान प्रतिशत व भूमि की बनावट अनुसार होती है। यह विधि पास–पास बोई जाने वाली फसल जैसे गेहूँ इत्यादि के लिये उपयुक्त है।

लाभ

1. आसान विधि है।
2. अधिक जल मात्रा व प्रवाह को आसानी से प्रयुक्त किया जा सकता है।
3. निराई–गुड़ाई व मशीनों के प्रयोग में सुगमता होती है।
4. मेड़ों व नालियों के रख–रखाव में कम खर्चा होता है।
5. जल निकास की व्यवस्था करना आसान होता है।

सीमाएँ

1. ऊबड़–खाबड़ स्थलाकृति की भूमि में यह विधि अपनाना सम्भव नहीं है।

2. धान जैसी फसलों में इस विधि से सिंचाई करना सम्भव नहीं है।
3. यदि जल प्रवाह व मात्रा कम हो तो इस विधि से सिंचाई सम्भव नहीं है।
4. बोर्डर की सम्पूर्ण चौड़ाई में एक समान जल प्रवाह कठिन है।

कूंड सिंचाई विधि (Furrow Irrigation Method)

यह विधि पंक्तियों में बोई जाने वाली फसलों जैसे मक्का, ज्वार इत्यादि के लिये उपयोगी होती है। अधिक ढाल वाले क्षेत्रों में ढाल की आड़ी दिशा में समोच्य रेखा पर बनाए जाते हैं।

लाभ

1. वाष्पन द्वारा जल ह्रास व पपड़ी बनने की की समस्या नहीं होती है।
2. कम मजदूरों की आवश्यकता होती है।
3. चौकेबार विधि की अपेक्षा खेत का कम भाग मेड़ व नालियों के काम आता है।

सीमाएँ

1. अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में मृदा अपरदन की सम्भावना रहती है।
2. मेड़ों पर लवण एकत्रित होकर पौध वृद्धि पर विपरीत प्रभाव डाल सकते हैं।
3. बलुई मृदा हेतु उपयुक्त नहीं है।
4. पानी के दक्ष नियंत्रण हेतु कुशल मजदूर चाहिये।

अवपृष्टीय या अधोभूमि सिंचाई (Sub-Surface Irrigation)

कुछ स्थानों पर भूमि व स्थलाकृति की प्राकृतिक परिस्थितियाँ पौधों की जड़ों में जल की प्रयुक्ति भूमि की सतह के नीचे से करने के लिये अनुकूल होती है। इसमें धरातल के नीचे पर एक निश्चित गहराई पर कृत्रिम जल स्तर बनाए रख कर फसल को जल आपूर्ति की जाती है। जल खुली नालियों या रन्ध्रयुक्त पाइपों द्वारा की जाती है।

बौछारी सिंचाई विधि (Sprinkler Irrigation Method)

इस विधि में पानी को बौछार अथवा वर्षा के रूप में वितरित किया जाता है। इस सिंचाई प्रणाली में पम्प द्वारा मुख्य व शाखा पाइप लाइनों में पहुँचाया जाता है जहाँ से वे राइजर **(Riser)** के ऊपरी सिरे पर लगे घूर्णी बौछार यंत्र **(Rotating sprinkler head)** द्वारा फुहार के रूप में फसल के ऊपर गिरता है।

लाभ

1. बौछारी प्रणाली पृष्टीय विधियों की अपेक्षा सुगम व सरल है।
2. समस्त जमीन फसल उगाने के काम आती है जबकि पृष्टीय भूमि का कुछ भाग मेढ़ बनाने के काम आता है।
3. मेढ़ न होने से यंत्रीकरण सम्भव है।
4. हल्की व बलुई मृदाओं में जहाँ बार–बार पानी देना पड़ता है, बौछारी विधि अधिक उपयोगी है।
5. चूंकि खेत तक पानी पाइपों से पहुंचता है अतः रास्ते के जल ह्रास **(Conveyance loss)** नहीं होते हैं।
6. मृदा पर पपड़ी बनने की समस्या नहीं होती है।
7. फसलों का पाले से स्वतः बचाव हो जाता है।
8. सिंचाई के साथ उर्वरक भी दिया जा सकता है।
9. यह विधि पौधों को वातावरण में आर्द्रता बनाए रखने में सहायक होती है।

सीमाएँ

1. अधिक जल माँग वाली फसलों के लिये उपयुक्त नहीं है।
2. छोटे खेतों में अधिक लागत बैठती है।
3. अधिक वायु गति होने पर जल वितरण असमान होकर दक्षता घटती है।
4. पानी साफ नहीं होने की स्थिति में घूर्णी बौछार यंत्र अवरूद्ध हो सकती है।
5. लवणीय जल हेतु उपयुक्त विधि नहीं है।
6. आरम्भिक खर्च अधिक है।
7. पर्याप्त तकनीकी ज्ञान आवश्यक है।

बूँद–बूँद सिंचाई विधि (Drip Irrigation System)

इस विधि का विकास इज़राइल से हुआ है। यह विधि शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में जहाँ वर्षा कम होती है, मिट्टी बलुई है व वाष्पन–वाष्पोत्सर्जन द्वारा जल ह्रास अधिक होता है अत्यन्त उपयोगी है। ड्रिप सिंचाई द्वारा जल प्रत्येक पौधे की जड़ के पास बूँद–बूँद टपकता है। इससे जड़ क्षेत्र में संतृप्तावस्था बनी रहती है तथा वहाँ पानी की कमी नहीं रहती है। इस विधि द्वारा उद्यानों, सब्जियों, पंक्तियों में बोई जाने वाली फसलों जैसे गन्ना, कपास इत्यादि में सिंचाई की जाती है।

लाभ

1. पौधों की जड़ों में पर्याप्त नमी होने से अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है।
2. पौधों के बीच सूखा रहने से खरपतवार की समस्या नहीं होती है।
3. सिंचाई के साथ–साथ एक ही बार में उर्वरक भी दिया जा सकता है।
4. सिंचाई हेतु कम मानव श्रम चाहिये।
5. कीट–व्याधि की समस्या कम होती है क्योंकि पौधों के पास का वातावरण आर्द्र नहीं होता है।
6. बार–बार सिंचाई करने से लवणों का निक्षालण हो जाता है।
7. कम पानी की आवश्यकता होती है।
8. जल उपयोग दक्षता अधिक होती है।

सीमाएँ

1. प्रारम्भिक व्यय अधिक होता है।
2. कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होती है।

3. उत्सर्जक (Emitter) का छिद्र छोटा होने से मिट्टी के कणों, जीवांश पदार्थ के रेशे व लवण के कणों से बन्द हो सकते है।
4. अत्यधिक भारी मृदाओं की अन्तः स्पंदन दर कम होने से जल एकत्रित होने की समस्या हो सकती है।
5. प्लास्टिक से बनी पार्श्व नालिकाएं चूहे व अन्य जीव नष्ट कर सकते हैं।
6. वार्षिक फसलों में बार–बार लगाना व हटाना पड़ता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. सिंचाई निर्धारण वह प्रक्रिया है जिससे यह ज्ञात करते हैं कि फसल में सिंचाई कब की जाये, कितनी गहरी की जाये और किस विधि से की जाये।
2. फसलों में उपयुक्त समय पर सिंचाई निम्न आधार पर निर्धारित की जाती है –**(i)** पौधों के आधार पर, **(ii)** मृदा नमी के आधार पर, व **(iii)** मौसम के आधार तथा अन्य प्रचलित विधियों द्वारा।
3. पौधों के आधार पर पौधों की बाह्य स्थिति देखकर, पत्तियों में जल विभव मापकर, पत्तियों का तापमान ज्ञात कर व क्रान्तिक अवस्थाओं पर सिंचाई का निर्धारण करते हैं।
4. फसल की क्रान्तिक अवस्थाएँ सिंचाई निर्धारण का एक महत्वपूर्ण आधार है।
5. सिंचाई की प्रमुख चार विधियाँ हैं – पृष्ठीय, अधोभूमि, बौछारी व बूँद–बूँद।
6. पृष्ठीय विधियों में चौकेबार द्रोणी **(Check basin)** सर्वाधिक प्रचलित विधि है।
8. बौछारी व बूँद–बूँद सिंचाई विधियाँ कुशल श्रमिकों द्वारा प्रभावी होती है व इनमें सिंचाई दक्षता अधिक होती है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. क्षेत्र क्षमता पर जल की उपलब्धता होती है –
   (अ) 100 प्रतिशत (ब) 50 प्रतिशत
   (स) 0 प्रतिशत (द) उपरोक्त में से कोई नहीं
2. गेहूँ में सिंचाई की सबसे महत्वपूर्ण क्रान्तिक अवस्था है –
   (अ) फूल आते समय (ब) शीर्ष जड़ जमने पर
   (स) दूधिया अवस्था पर (द) दाना पकते समय
3. व्यावहारिक दृष्टि से किस विधि से सिंचाई निर्धारण सबसे सरल है –
   (अ) पत्तियों का तापमान माप कर
   (ब) फसलों की क्रान्तिक अवस्था आधार पर
   (स) पत्तियों में जल विभव आधार पर
   (द) मृदा नमी माप कर
4. निम्न में से सिंचाई की सबसे कम दक्ष विधि है –
   (अ) चौकेबार द्रोणी (ब) बौछारी
   (स) बूँद–बूँद (द) अनियंत्रित आप्लावन
5. किस सिंचाई विधि का विकास इज़राइल में हुआ है –
   (अ) बूँद–बूँद (ब) बौछारी
   (स) कूंड सिंचाई (द) बोर्डर पट्टी
6. निम्न में से किस सिंचाई विधि में रास्ते में जल ह्रास नहीं होता है –
   (अ) बौछारी (ब) बोर्डर पट्टी
   (स) चौकेबार द्रोणी (द) कूंड
7. यह सिंचाई विधि अधिक जल माँग वाली फसलों के लिए उपयुक्त नहीं है –
   (अ) बोर्डर पट्टी (ब) चौकेबार द्रोणी
   (स) कूंड विधि (द) बौछारी

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

8. गेहूँ की जल माँग कितनी है?
9. सिंचाई को परिभाषित कीजिए।
10. मक्का की सिंचाई की क्रान्तिक अवस्थाएं क्या हैं?
11. अनियंत्रित आप्लवन से क्या अभिप्राय है?
12. अवपृष्टीय सिंचाई क्या है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

13. निम्न फसलों में कितनी व कब–कब सिंचाई करें?
   (अ) गेहूँ (ब) सरसों
   (स) चना (द) मूँगफली
14. सिंचाई के लिए विभिन्न फसलों की क्रान्तिक अवस्थाएँ लिखिये।
15. सिंचाई के उद्देश्य क्या है?
16. चौकेबार द्रोणी सिंचाई विधि के लाभ व सीमाएँ क्या है?
17. सिंचाई की कूंड विधि के लाभ व सीमाएँ उल्लेखित कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

18. सिंचाई समय निर्धारण करने की पौधों व मृदा नमी आधारित विधियों का वर्णन कीजिये।
19. सिंचाई हेतु बौछारी व बूँद–बूँद विधियों को समझाइये तथा इनके लाभ व सीमाएँ उल्लेखित कीजिए।

उत्तरमाला

1. (अ) 2. (ब) 3. (ब) 4. (द) 5. (अ) 6. (अ) 7. (द)

अध्याय – 4
खरपतवार (Weed)

परिभाषा

खरपतवार वे पौधे हैं जो अनचाहे स्थान व अनचाहे समय पर उगते हैं **(Weeds are the plants growing out of place and out of time)**।

खरपतवारों की विशेषताएँ (Characteristics of weeds)

खरपतवारों में फसल के पौधों की अपेक्षा उगने, बढ़ने, विस्तृत क्षेत्र में फैलाव की क्षमता आदि अधिक पाई जाती है। जिनका मुख्य कारण खरपतवारों में निम्नलिखित विशेषताओं का पाया जाना है–

1. **बीज उत्पादन अधिक होना :** खरपतवारों में प्रति पौधा बीज संख्या अधिक होने से इनका प्रसार बहुत शीघ्रता से होता है।
2. **अधिक गहरी जड़ें होना :** खरपतवारों की जड़ें फसल के पौधों की अपेक्षा अधिक गहराई तक जाती हैं तथा गहराई पर जाकर पोषक तत्व व नमी का अवशोषण करती हैं।
3. **बीजों की अधिक जीवन क्षमता :** खरपतवार के बीजों की अंकुरण शक्ति फसल के बीजों की अपेक्षा अधिक होती है। इनकी जीवन क्षमता लम्बे समय तक मृदा में पड़े रहने के बावजूद बनी रहती हैं।
4. **फसल व खरपतवार के बीजों में समानता :** कुछ खरपतवारों के बीज आकार, आकृति, रंग में फसल के बीजों से इतने अधिक मिलते हैं कि इन्हें अलग से पहचान पाना अत्यन्त कठिन होता है। सत्यानाशी खरपतवार के बीज सरसों से, आकार व आकृति में अत्यधिक मिलते हैं।
5. **बीजों पर सुरक्षा आवरण :** बहुत से खरपतवार जैसे सत्यानाशी, गोखरू आदि पर कांटे, सख्त बाल ऐसे आवरण पाये जाते हैं जिससे मनुष्य व पशु इनके नजदीक नहीं जाते, इस तरह वे अपनी सुरक्षा कर लेते हैं।
6. **वानस्पतिक प्रजनन :** खरपतवारों को यदि बीज बनने से पहले नष्ट कर दे तो भी वे विभिन्न वानस्पतिक भागों द्वारा अपना प्रसारण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ मोथा–ट्यूबर्स द्वारा।
7. **प्रत्येक प्रकार की मृदा में वृद्धि करना :** खरपतवार विभिन्न प्रकार की मृदाओं अम्लीय, क्षारीय, लवणीय, जलमग्न या बंजर मृदाओं में भी अपनी वृद्धि कर लेते हैं।
8. **मनुष्य के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव :** बहुत से खरपतवार अपने कड़वे स्वाद व एलर्जिक प्रभाव के कारण मनुष्य के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव डालते हैं। पार्थेनियम (गाजर घास) के सम्पर्क में आने पर मनुष्यों को एलर्जी, चर्म रोग, एक्जिमा, दमा आदि जानलेवा बीमारियाँ हो जाती हैं।
9. **शीघ्र प्रकीर्णन :** खरपतवारों के बीज फसलों के बीजों से इतने हल्के होते हैं कि वायु द्वारा शीघ्र एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित हो जाते हैं। इसके अलावा खरपतवारों के बीजों पर पाये जाने वाले हुक, बाल, कांटे भी पशुओं द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित होकर प्रकीर्णन में सहायक होते हैं।
10. **कीट रोग प्रतिरोधक क्षमता की अधिकता :** खरपतवार के पौधों में कीट–रोग आक्रमण सहने की क्षमता फसल के पौधों से अधिक पाई जाती है।
11. **खरपतवार–फसल प्रतियोगिता :** खरपतवार के बीजों का अंकुरण व पौधों की बढ़वार फसल के पौधों की अपेक्षा शीघ्रता से होती है। ये फसल के पौधों से प्रकाश, नमी, पोषक तत्व व स्थान आदि के लिए संघर्ष करते हैं।
12. **प्रतिकूल जलवायु से अप्रभावित :** खरपतवार प्रतिकूल जलवायु दशाओं से अप्रभावित रहते हैं।
13. **खाद–पानी की न्यून आवश्यकता :** खरपतवार के पौधों को जल व खाद (पोषक तत्वों) की न्यून आवश्यकता रहती है।
14. **शीघ्र वृद्धि व शीघ्र परिपक्वता :** खरपतवार तेजी से बढ़ते हैं और शीघ्र परिपक्व हो जाते हैं। गेहूँसा (फैलेरिस माइनर) और जंगली चौलाई के पौधे शीघ्र बढ़ कर 60 से 70 दिन में बीज उत्पादन करके अपना जीवन चक्र पूर्ण कर लेते हैं।

खरपतवारों का वर्गीकरण (Classification of Weeds)

खरपतवारों का वर्गीकरण उनकी आयु, बीज पत्र, फसल–खरपतवार सम्बन्ध, पत्तियों की बनावट, मृदा व जलवायु के आधार पर किया जा सकता है।

1. जीवन चक्र के आधार पर खरपतवारों का वर्गीकरण : जीवन चक्र के आधार पर खरपतवारों को तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है :–

(अ) **एक वर्षीय खरपतवार (Annual weeds) :** ये खरपतवार एक वर्ष या उससे भी कम अवधि में अपना जीवन चक्र पूर्ण कर लेते हैं। इस वर्ग के खरपतवारों को पुनः दो उपवर्गों में विभाजित किया गया है –

(i) **खरीफ के खरपतवार :** इस वर्ग के खरपतवार वर्षा के आरम्भ में उगते हैं और अपना जीवन चक्र खरीफ की फसलों के साथ ही पूरा कर लेते हैं। जैसे– पत्थर चट्टा, जंगली चौलाई, लहसुवा आदि।

(ii) **रबी के खरपतवार :** इस वर्ग के खरपतवार रबी की फसलों के साथ सितम्बर या अक्टूबर माह में उगना प्रारम्भ कर देते हैं और अपना जीवन चक्र अप्रैल माह तक पूर्ण कर लेते हैं। जैसे– कृष्णनील, प्याजी, जंगली जई, बथुआ, गेहूँसा आदि।

(ब) **द्विवर्षीय खरपतवार (Biennial weeds) :** इस वर्ग के खरपतवार अपना जीवन चक्र दो वर्षों में पूरा करते हैं। प्रथम वर्ष में ये खरपतवार अपनी वानस्पतिक वृद्धि करते हैं, दूसरे वर्ष बीज उत्पादन करते हैं। जैसे– जंगली गाजर, जंगली गोभी।

(स) **बहुवर्षीय खरपतवार (Perennial weeds) :** इस वर्ग के खरपतवार कई वर्षों में अपना जीवन चक्र पूरा करते हैं। एक बार उग कर हर वर्ष वृद्धि करते रहते हैं। अधिकांशतः इनकी वृद्धि राइजोम, बल्ब, ट्यूबर्स आदि वानस्पतिक भागों द्वारा होती है। उपयुक्त जलवायु में ये बीज उत्पादन भी करते हैं। इन्हें पुनः दो उपवर्गों में वर्गीकृत किया गया है –

(i) **काष्ठिल खरपतवार (Woody weeds) :** इस उपवर्ग में बहुवर्षीय झाड़ियाँ आती हैं जैसे झरबेरी।

(ii) **शाकीय खरपतवार (Herbacious weeds) :** इस उपवर्ग में आने वाले खरपतवारों के तने व शाखायें मुलायम होते हैं। जैसे– मोथा, हिरणखुरी, अमरबेल।

2. **बीज पत्र के आधार पर वर्गीकरण :** बीज पत्रों के आधार पर खरपतवारों के दो उपवर्ग हैं–

(अ) **एक बीजपत्री खरपतवार (Monocot weeds) :** इन खरपतवारों के बीज एक पत्री होते हैं इसलिए इनके बीज दाल की भांति दो दालों में विभक्त नहीं होते। जैसे मोथा, कांस, दूब घास, प्याजी, गेहूँसा।

(ब) **द्विबीजपत्री खरपतवार (Dicot weeds) :** इस वर्ग के खरपतवारों के बीजों को दाल की भांति दो दालों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे– बथुआ, हिरणखुरी, मकोय, सत्यानाशी, जंगली चौलाई आदि।

3. **खरपतवार–फसल सम्बन्ध के आधार पर वर्गीकरण (On the basis of weed-crop association) :** इस वर्गीकरण के अनुसार खरपतवारों को निम्न वर्गों में विभाजित किया गया है –

(अ) **निरपेक्ष खरपतवार (Absolute weeds) :** इस वर्ग के अन्तर्गत वे सभी खरपतवार आते हैं जो उपज को कम कर देते हैं। इसमें एकवर्षीय, द्विवर्षीय व बहुवर्षीय सभी प्रकार के खरपतवार सम्मिलित हैं जैसे– कृष्णनील, मोथा, हिरणखुरी, गाजर घास आदि।

(ब) **सापेक्ष खरपतवार (Relative weeds) :** इस वर्ग में फसलों के वे पौधे जिनकी किसान खेत में बुआई नहीं करता है तथा वे स्वतः ही उग जाते हैं, सापेक्ष खरपतवार कहलाते हैं। जैसे गेहूँ के खेत में चना, सरसों, मटर का पौधा उग जाये तो इसे सापेक्ष खरपतवार कहते हैं। यह समस्या अशुद्ध बीज की बुआई से उत्पन्न होती है।

(स) **नकलची अथवा अनुकारी खरपतवार (Mimicry weeds) :** ये खरपतवार अपनी बाह्य आकारिकी में फसल के पौधों से इतना अधिक मिलते जुलते हैं कि इन्हें फसल के पौधों से अलग पहचान कर पाना भी कठिन होता है इसलिए इन्हें नकलची खरपतवार कहते हैं। जैसे– गेहूँ की फसल में गेहूँसा (गुल्ली डण्डा) तथा धान की फसल में सावा।

(द) **विशेष सूक्ष्म जलवायु के खरपतवार (Special micro-climate weeds) :** कुछ खरपतवारों को विशेष जलवायु परिस्थितियों की आवश्यकता वृद्धि व विकास के लिए होती है। जैसे कासनी खरपतवार ठण्डी व नम जलवायु में अपनी वृद्धि करता है।

(य) **अवांछित खरपतवार (Rogue weeds) :** जब फसल की अन्य किस्म का पौधा बिना बोये खेत में उग जाता है तो उसे अवांछित खरपतवार कहते हैं जैसे– गेहूँ की सोनालिका किस्म में लोक–1 के पौधे बिना बोये उग जायें तो लोक–1 किस्म का पौधा अवांछित खरपतवार कहलाएगा। ऐसे अनिश्चित किस्म के पौधों को उखाड़ने की क्रिया रोगिंग कहलाती है।

(र) **परजीवी खरपतवार (Parasitic weeds) :** कुछ खरपतवार फसल विशेष पर परजीवी होते हैं जैसे कि रिजके पर अमरबेल, तम्बाकू पर ओरोबेन्की व बाजरा में स्ट्राइगा।

4. **पत्तियों की बनावट के आधार पर वर्गीकरण :** इस आधार पर खरपतवारों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है –

(अ) **चौड़ी पत्ती वाले खरपतवार (Broad-leaved weeds):** इस श्रेणी के खरपतवारों की पत्तियाँ चौड़ी होती हैं। जैसे– बथुआ, कृष्णनील, हिरणखुरी, बायसुरी, मकोय, जंगली चौलाई, लहसुआ आदि।

(ब) **संकरी पत्ती वाले खरपतवार (Narrow-leaved weeds) :** इस वर्ग के खरपतवारों की पत्तियाँ संकरी होती हैं। जैसे– मोथा, दूब घास, कांस, गेंहूसा, जंगली जई आदि।

5. **मृदा व जलवायु के आधार पर वर्गीकरण :** इस श्रेणी में विशेष भूमि व जलवायु की स्थितियों में उगने वाले खरपतवार आते हैं। इन्हें तीन उपवर्गों में वर्गीकृत किया गया है–

(अ) **जलमग्न भूमियों के खरपतवार (Weeds of waterlogged soils) :** ये खरपतवार ऐसे क्षेत्रों में पाये जाते हैं जहाँ पर अधिकतर समय पानी भरा रहता है। जैसे– नदियों, तालाबों, नहरों व निचले खेतों में जहाँ पानी भरा रहता है, पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ– जलकुम्भी, जंगली धान आदि।

(ब) **शुष्क क्षेत्र के खरपतवार (Dryland weeds) :** ये खरपतवार जल की कमी वाले क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इन खरपतवारों की जड़ें गहरी, पत्तियाँ कम व मोटी, तने पर कांटे पाये जाते हैं जिसकी वजह से ये कम पानी में भी आसानी से वृद्धि करते हैं। जैसे–झरबेरी, नागफनी, जवासा, बायसुरी आदि।

(स) **कृषि क्षेत्र के खरपतवार (Weeds of cultivated land) :** इस वर्ग में वे सभी खरपतवार सम्मिलित है जो फसलों के साथ उगकर उनकी उपज काफी कम कर देते हैं। जैसे– बथुआ, प्याजी, कृष्णनील, हिरणखुरी, जंगली चौलाई आदि।

(द) **अकृषित क्षेत्र के खरपतवार (Weeds of non-agricultural areas) :** सड़कें, रेलमार्ग, गोदाम, औद्योगिक क्षेत्रों में उगने वाले खरपतवार जैसे–लेन्टाना केमरा, कांस, गाजर घास आदि।

6. **प्रजनन विधियों के आधार पर खरपतवारों का वर्गीकरण**

(अ) **बीज से उत्पन्न होने वाले के खरपतवार :** इनका प्रजनन केवल बीजों द्वारा ही होता है। उदाहरणार्थ– प्याजी, कृष्णनील, सत्यानाशी, गेहूंसा, जंगली जई, लहसुआ आदि।

(ब) **वानस्पतिक भाग से उत्पन्न होने वाले खरपतवार :** इस वर्ग के खरपतवार वानस्पतिक भागों द्वारा ही प्रजनन करते हैं। ये खरपतवार अपनी भूमिगत जड़ों, तनों, राइजोम, बल्ब, कन्द, पत्तियों द्वारा वृद्धि व जनन करते हैं। जैसे– दूब घास, मोथा आदि।

(स) **बीज व वानस्पतिक भागों द्वारा पैदा होने वाले खरपतवार :** इस वर्ग के खरपतवार बीज व वानस्पतिक अंगों से अपनी उत्पत्ति करते हैं।

खरपतवारों द्वारा हानियाँ (Losses caused by Weeds)

भारतीय कृषि में फसलों को कीट, रोग, खरपतवार, त्रुटि पूर्ण भण्डारण, चूहों आदि कारकों द्वारा भारी हानि पहुंचायी जा रही है। इसमें से सर्वाधिक 30–35 प्रतिशत हानि अकेले खरपतवारों द्वारा होती है।

खरपतवार फसलों के पौधों के साथ भोजन, जल, स्थान, प्रकाश आदि के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। इसके साथ–साथ ये फसलों के लिए हानिकारक रोग व कीटों को शरण देकर क्षति पहुँचाते हैं। खरपतवारों द्वारा मात्रात्मक हानि के साथ–साथ फसल उत्पादों की गुणवत्ता में भी कमी आ जाती है जिससे किसान को उसके उत्पाद (Product) का सही मूल्य भी बाजार में नहीं मिल पाता। खरपतवार फसल उत्पादन पर निम्न प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव डालकर हानि पहुँचाते हैं।

1. **फसल उत्पादन पर प्रभाव :** खरपतवार फसल प्रतियोगिता में अधिकांशतः खरपतवार फसलों की अपेक्षा अधिक प्रकाश, जल, पोषक तत्व आदि ग्रहण कर लेते हैं, जिससे उपज में भारी कमी आती है।
2. **फसल उत्पादों की गुणवत्ता में कमी :** खरपतवारों से केवल फसल की उपज में ही कमी नहीं आती बल्कि इनसे प्राप्त उपज की गुणवत्ता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जैसे सरसों में सत्यानाशी के बीज मिल जाने से सरसों के तेल में दुर्गन्ध आने लगती है। उसका प्रभाव जहरीला (Toxic) हो जाता है, जो मानव में ड्रोप्सी नामक रोग पैदा करता है।
3. **पशुधन उत्पादों की मात्रा व गुणवत्ता में कमी :** कई खरपतवार पशुओं व उनसे प्राप्त उत्पादों पर बुरा प्रभाव डालते हैं। जंगली प्याजी या जंगली लहसुन पशुओं द्वारा चर लेने से उनके दूध में दुर्गन्ध आने लगती है, जो दूध से तैयार पदार्थों जैसे– घी, मक्खन, पनीर आदि में भी बनी रहती है।
4. **मृदा नमी में कमी :** खरपतवार मृदा में नमी की मात्रा को अवशोषित करके फसलों को हानि पहुँचाते हैं।
5. **भूमि के मूल्य में कमी :** जिन मृदाओं में खरपतवार अधिक पाये जाते हैं, उनकी मृदा उत्पादकता में गिरावट आ जाती है। इन मृदाओं का उपजाऊपन नष्ट हो जाता है। इससे प्रभावित खेत से न केवल उपज कम मिलती है बल्कि प्राप्त उत्पादों का मूल्य भी कम प्राप्त होता है जिससे भूमि का मूल्य गिर जाता है।
6. **खरपतवार कीट व रोगों को शरण देते हैं :** कुछ खरपतवारों पर फसलों के रोगाणु व कीट शरण लेकर फसलों को क्षति पहुँचाते हैं।
7. **कृषि यंत्रों, मशीनों व पशुओं की क्षमता में ह्रास :** जिन क्षेत्रों में खरपतवारों का प्रकोप अधिक रहता है वहां इनकी रोकथाम के लिए खेत में बार–बार जुताइयाँ व निराई–गड़ाई आदि कर्षण क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। इससे बार–बार कृषि यंत्रों, मशीनों, पशुओं आदि से अधिकतम कार्य लेना पड़ता है। कृषि यंत्र व मशीनों में घिसावट होने से उनकी क्षमता शीघ्र कम हो जाती है। पशुओं की क्षमता से अधिक श्रम करवाने से उनके स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।
8. **सिंचाई जल की हानि :** खरपतवार नहर, तालाब व सिंचाई की नालियों में उगकर पानी के बहाव में अवरोध

उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त ये जल को अवशोषित कर लेते हैं।

9. **खरपतवार मनुष्यों के लिए घातक :** कुछ खरपतवार मनुष्य के लिए इतने घातक है कि इनके प्रभाव से मृत्यु तक हो सकती है। सरसों के बीज में सत्यानाशी के बीज मिल जाने से तेल में जहरीला प्रभाव **(Toxic effect)**हो जाता है। पार्थेनियम (गाजर घास) के पौधे के स्पर्श मात्र से मनुष्य की त्वचा में भयंकर जलन, खुजली व एलर्जी होने लगती है।

10. **पशु स्वास्थ्य के लिए घातक :** चरागाह व चारे की फसलों में उत्पन्न अनेक खरपतवार पशु स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हैं, बरू घास के कल्ले फूटते समय पशुओं द्वारा चर लेने पर जहरीला प्रभाव पड़ सकता है।

11. **किसान के जीवन स्तर पर प्रभाव :** खरपतवारग्रस्त क्षेत्रों में किसान को अपनी सारी ऊर्जा खरपतवार नियंत्रण के तरीकों के लिए यंत्र, मशीनें, शाकनाशी दवाइयाँ खरीदने एवं श्रमिकों की व्यवस्था पर लगानी पड़ती है जिसका सीधा प्रभाव किसान की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है।

12. **अन्य हानियाँ :** अकृषित भूमि से खरपतवार कृषि क्षेत्रों में फैल कर खेतों में फसलों को हानि पहुँचाते हैं। फार्म हाऊस, खाई आदि में पनपने वाले खरपतवार सांप, बिच्छु आदि जहरीले जन्तुओं का आश्रय स्थल बन जाते हैं।

खरपतवारों के लाभ (Benefits of Weeds)

1. **मृदा संरक्षण में सहायक :** खरपतवार मृदा संरक्षण में सहायक हैं। इनकी जड़ें मृदा कणों को बांध कर इकट्ठा रखती हैं। इससे मृदा संरक्षण में सहायता मिलती है।

2. **चारे के रूप में खरपतवारों का उपयोग :** विभिन्न खरपतवार जैसे दूब घास, बथुआ, सेंजी आदि पशुओं हेतु पौष्टिक चारे के रूप में कम मात्रा में काम लिये जाते हैं।

3. **खरपतवारों की औषधीय महत्ता :** अनेक खरपतवार औषधीय महत्व के होते हैं। आयुर्वेद में खरपतवारों के अनेक पौधों के चिकित्सीय प्रयोग का उल्लेख मिलता है। खरपतवारों से अनेक रोगों के उपचार हेतु दवाइयाँ बनाई जाती है।

4. **खरपतवारों का आर्थिक महत्व :** कांस खरपतवार का उपयोग सदियों से हम मकानों के छप्पर बनाने में करते आये हैं। लैमन घास की पत्तियों से निकाले तेल का प्रयोग आजकल सौन्दर्य प्रसाधनों में किया जाने लगा है। कांस के मजबूत तने (Culm) मूड्डे, फर्नीचर आदि तैयार करने के काम आते हैं।

5. **मृदा सुधार हेतु :** दलहनी खरपतवारों की जड़ों में पाई जाने वाली जीवाणु ग्रन्थियाँ मृदा में नाइट्रोजन स्थिरीकरण करती है। इससे मृदा की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। सैंजी, सत्यानाशी, अडूसा जैसे खरपतवारों का प्रयोग तो क्षारीय मृदा सुधार में भी किया जाता है।

6. **खरपतवारों का सजावट के रूप में प्रयोग :** कुछ खरपतवार जैसे लैन्टाना कैमरा (जरायन) का उपयोग सड़क किनारे व बगीचों में सजावटी रूप से बाड़ (Hedge) लगाने के रूप में किया जाता है।

7. **जैविक कीट–रोग नियंत्रण में :** कुछ खरपतवारों का उपयोग जैविक कीट रोग नियंत्रण में किया जाने लगा है जैसे हुल हुल खरपतवार के पौधे से आने वाली तीक्ष्ण गंध कीटों को दूर रखने में सहायक है।

8. **अन्य उपयोग :** बथुआ, जंगली चौलाई तथा लेहसुआ खरपतवारों का प्रयोग पौष्टिक शाक–सब्जी के रूप में किया जाता है। मोथा खरपतवार के ट्यूबर अगरबत्ती बनाने में काम आते हैं। कासनी खरपतवार के बीजों को कॉफी के बीजों के साथ पीस कर कॉफी का स्वाद बढ़ाया जाता है।

खरपतवार विस्तार (Weed Dispersal)

खरपतवारों के बीज व वानस्पतिक भागों का एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुगमता से व बिना किसी यत्न के पहुँचना उनके विस्तार का प्राकृतिक तरीका है। ऐसे प्राकृतिक तरीके से विस्तार के कारण खरपतवार प्रकृति में अपना वर्चस्व बनाए हुए है।

बीज द्वारा विस्तार

(अ) **वायु द्वारा :** कई खरपतवारों के बीज में संरचनात्मक रूपान्तरण पाए जाते हैं, जिससे वे एक स्थान से दूसरे स्थान तक वायु के साथ उड़ कर पहुँच जाते हैं।

(ब) **जल द्वारा :** जलीय खरपतवारों के बीज व पौधे के वानस्पतिक भाग पानी के वेग व धारा के साथ वितरित हो जाते हैं। उदाहरण – जलकुम्भी।

(स) **पशुओं व चिड़ियों द्वारा :** कई खरपतवारों के बीज पशुओं व चिड़ियाओं द्वारा ग्रहण कर लिये जाते हैं। ये बीज उनकी विष्ठा व बीठ के माध्यम से या उससे निर्मित खाद द्वारा नए स्थानों तक पहुँच जाते हैं।

(द) **मानव :** मानव की लापरवाही से खरपतवार बीज व वानस्पतिक भाग एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँच जाते हैं। उदाहरणार्थ – मशीन के पहियों की सफाई नहीं करने से उन पर चिपके हुए बीज नए खेतों तक पहुँच जाते हैं।

(य) **खाद :** बिना सड़ी हई खाद के प्रयोग से उनमें निहित खरपतवारों के बीज नए खेत में पहुँच जाते हैं।

खरपतवार गुणन (Weed Multiplication)

खरपतवार का गुणन अथवा प्रजनन मुख्यतः दो माध्यमों से होता है (i) बीज द्वारा व (ii) वानस्पतिक भाग द्वारा।

बीज द्वारा : अनेक एक व द्विवर्षीय खरपतवार जीवन चक्र में वानस्पतिक वृद्धि के उपरान्त प्रजननीय प्रावस्था में जाकर बीज का निर्माण करते हैं। यह बीजोत्पादन अल्प से लेकर प्रचुर मात्रा में होता है।

वानस्पतिक भाग द्वारा : खरपतवारों का वानस्पतिक गुणन तने या जड़ों के अंश/टुकड़े या उनके निम्न विशिष्ट रूपान्तरणों से होता है।

1. प्रकन्द व जड़ स्कन्ध (Rhizome and root stocks)
2. उपरि भूस्तारी (Runner)
3. अन्तःभूस्तारी (Sucker)
4. भूस्तारिका (Offset)
5. कन्द (Tuber)
6. शल्क कन्द (Bulb)
7. जड़ (Root)

इसके अतिरिक्त अमरबेल का गुणन उसके तार जैसे तने के टूटे हुए टुकड़े से हो जाता है जबकि गाजर घास की पुष्प–कलिकाओं **(Floral buds)**से भी नए पौधों का प्रजनन होता है।

खरपतवार नियंत्रण (Weed Control)

सर्वप्रथम खरपतवार नियंत्रण के मुख्य सिद्धान्तों को जानना आवश्यक है।

खरपतवार नियंत्रण के सिद्धान्त (Principles of Weed Control)

1. **खरपतवारों की प्रकृति (Nature of weeds) :** रेगिस्तानी खरपतवारों की रोकथाम के लिए यदि खेत में पानी भर दें तो वे नष्ट हो जायेंगे। जलमग्न भूमियों के खरपतवार नष्ट करने हेतु खेत को कुछ समय सूखा छोड़ दें या जल निकास कर दें तो जलीय खरपतवार नष्ट हो जायेंगे।
2. **खरपतवारों के जीवन चक्र (Life cycle of weeds) :** एक वर्षीय खरपतवारों को फूल आने या बीज बनने से पहले ही नष्ट करना रोकथाम में सहायक रहेगा अर्थात् अंकुरण होते ही खेत की जुताई कर देने से जड़ें भूमि में पुनःस्थापित नहीं हो पायेगी।
3. **सुषुप्तावस्था का ज्ञान (Knowledge of dormancy stage) :** कुछ खरपतवारों के बीजों की सुषुप्तावस्था लम्बी अवधि तक होती है।
4. **खरपतवारों की सहनशीलता (Susceptibility of weeds) :** चौड़ी पत्ती वाले खरपतवार 2, 4–डी प्रयोग से नष्ट हो जाते हैं किन्तु संकरी पत्ती वाले खरपतवार नष्ट नहीं होते। इसलिए इस शाकनाशी रसायन का प्रयोग दलहनी, तिलहनी आदि चौड़ी पत्ती वाली फसलों में नहीं किया जा सकता।
5. **जनन विधियाँ (Propagation methods) :** कुछ खरपतवार जो बीज द्वारा ही जनन करते हैं जैसे जंगली चौलाई, जवासा, कृष्णनील, सत्यानाशी, प्याजी आदि। अतः इनके पौधों को यदि बीज बनने से पूर्व ही नष्ट कर दें तो इन खरपतवारों की रोकथाम संभव है। जो खरपतवार वानस्पतिक अंगों से जनन करते हैं, उन्हें खेत की गहरी जुताई करके खुला छोड़ देने पर नियंत्रित किया जा सकता है। जैसे मोथा, दूब घास आदि।

उन्नत शस्य विधियों द्वारा खरपतवार नियंत्रण

उन्नत शस्य क्रियाओं को निम्न बिन्दुओं में रेखांकित किया जा सकता है।

1. **जातीय उपयुक्तता :** ऐसी जातियां उगनी चाहिए जो क्षेत्र की मृदा व जलवायु के अनुकूल हो। इससे फसल का अंकुरण बढ़वार अच्छी होगी तथा वह खरपतवारों से पहले निकलेगी। साथ ही, जब खरपतवार निकलेंगे तो इससे उनकी बढ़वार रोकने में सहायता मिलेगी।
2. **बोने की तिथि व पौधों की संख्या :** फसलों को सही समय पर बोने से बढ़वार सर्वाधिक होती है। देर से बोने पर बढ़वार कम हो जाती है, और खरपतवारों का प्रकोप अधिक हो जाता है। खरीफ में मानसून आगमन से कुछ समय पूर्व बुवाई कर देने से खरपतवारों का प्रकोप कम होता है।
3. **कटाई व चराई :** यह समस्या अधिकतर चरागाहों की है। कई बार अधिक चराई से वहाँ खरपतवार पुनः छा जाते हैं। अतः चरागाह में क्रमिक चराई ही की जानी चाहिए। साथ ही सही अवस्था में ही चराई की जानी चाहिए।
4. **फसल चक्र :** कुछ खरपतवार फसल विशेष में ही उगते हैं और यदि किसी खेत में लगातार वही फसल ली जाए तो उस खरपतवार को फैलने में सहायता मिलती है। अतः ऐसे खेतों में फसल चक्र में बदलाव कर खरपतवार नियंत्रण किया जा सकता है।
5. **मृदा जल सम्बन्ध :** फसल को उसके मृदा व जल सम्बन्धी आवश्यकता के अनुसार ही उगाना चाहिए। इससे वह अधिक ओजपूर्ण होती है और उसमें खरपतवारों से प्रतियोगिता करने की अधिक शक्ति पाई जाती है।
6. **अन्तराशस्य :** जिन फसलों में कतार से कतार की दूरी अधिक होती है तथा आरम्भिक बढ़वार भी धीरे हो, ऐसे खेतों में खरपतवार तीव्रता से बढ़ते हैं। ऐसी परिस्थिति में कतारों के बीच तेजी से बढ़ने वाली व कम समय में पकने वाली फसलों का अन्तरासस्यन कर खरपतवार की

समस्या को कम किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर मक्का व कपास के बीच दलहनी फसलें।

7. **मृदा उर्वरता :** यह सर्वविदित है कि पोषकों से युक्त मृदा में फसल व खरपतवार दोनों ही तेजी से बढ़वार करते हैं। यदि खरपतवारों को एक बार नष्ट कर दिया जाए तो फसल पोषकों के उपलब्ध होने के कारण तेजी से फैलती है व बढ़ती है और बाद में निकलने वाले खरपतवारों को दबा देती है।

8. **मृदा की पी.एच. :** कुछ खरपतवार अम्लीय तथा कुछ अन्य क्षारीय मृदा में भी उगने की क्षमता रखते हैं अतः बुआई पूर्व ऐसी मृदाओं का बुझे हुए चूने अथवा जिप्सम से उपचार कर पी.एच. मान को सुधारने का प्रयास किया जाना चाहिए जिससे फसल अच्छी बढ़वार कर सके।

9. **नवीन कर्षण क्रियाएँ :** शून्य व न्यून कर्षण क्रियाओं जैसी विधियों को अपनाकर गेहूं के क्षेत्रों में आईसोप्रोट्यूरोन रोधी गुल्ली डण्डा जैसे खरपतवारों को नियंत्रित किया जा सकता है।

10. **छाया करना :** कई फसलें अंकुरण के तुरन्त बाद तेजी से वृद्धि करती हैं जिससे कतारों के बीच की जगह भर जाती है और वहाँ खरपतवार नहीं निकल पाते। अगर वे निकलते भी हैं तो प्रकाश के अभाव में क्षीण व दुर्बल होते जाते हैं तथा फसल पर कुप्रभाव डालने में असमर्थ होते हैं।

भौतिक व यांत्रिक नियंत्रण

निम्न विधियों को अपना कर खरपतवारों को नियंत्रण में रखा जा सकता है।

1. **हाथ से उखाड़ना :** छोटे क्षेत्रफल पर खरपतवारों को नष्ट करने की यह उत्तम विधि है। इस विधि में अधिक समय लगता है। यह विधि अधिक घने पौधे तथा नर्सरी आदि के खरपतवार निकालने के लिए प्रयोग में लाई जाती है। इस विधि को एकवर्षीय खरपतवारों को समाप्त करने के लिए प्रयोग करते हैं।

2. **निराई करना :** इस विधि में खुरपी से खरपतवार की निराई की जाती है। इस छोटे क्षेत्रफल पर उद्यानों गृहवाटिका नर्सरी तथा छोटे खेतों के खरपतवारों को निकालने के लिए विशेष उपयुक्त है।

3. **गुड़ाई करना :** इस विधि से कुदाली, फावड़ा, हैण्ड हो तथा बैलों तथा ट्रेक्टर से चलने वाले हैरो या कल्टीवेटर का प्रयोग किया जाता है। इस क्रिया से अधिकतर एकवर्षीय खरपतवार भी आंशिक रूप से नष्ट हो जाते हैं, परन्तु पुनः उग जाते हैं। अतः बार–बार गुड़ाई करनी पड़ती है।

4. **कर्षण क्रिया :** सभी प्रकार के खरपतवारों को कर्षण द्वारा काफी हद तक नष्ट किया जा सकता है। इस बात के काफी प्रमाण प्राप्त है कि कर्षण का मुख्य उद्देश्य खरपतवारों को नष्ट करना ही है।

5. **छंटाई करना :** इस विधि का मुख्य उद्देश्य खरपतवार के पौधों का काटकर इनकी वृद्धि तथा बीजोत्पादन रोकना है। इनका प्रयोग बंजर भूमि, चारागाह, सड़क, बस्ती, नहर के किनारे उगे खरपतवारों के नियंत्रण हेतु किया जाता है। पौधों को बार–बार काटने से इनमें संचित भोज्य पदार्थ समाप्त हो जाता है जिससे पौधों की वृद्धि रूक जाती है।

6. **जलाना :** यह विधि बंजर भूमियों, अन्य अकृषित भूमियों के खरपतवारों को नष्ट करने के लिए उपयोगी है। इसमें आग की लपटों से भूमि की ऊपरी सतह पर पड़े अंकुरण शक्ति खो देते हैं।

7. **पानी भरना (जल पल्लवन) :** ऐसे स्थान जहाँ पर्याप्त मात्रा में पानी उपलब्ध हो वहाँ इस विधि का प्रयोग बहुवर्षीय खरपतवारों को नियन्त्रण करने के लिए किया जाता है। इस विधि का प्रयोग बंजर भूमियों के खरपतवार नष्ट करने के लिए किया जाता है।

8. **पलवार (Mulch) :** पलवार का उद्देश्य विभिन्न साधनों से भूमि को इस प्रकार ढक देना है कि भूमि के तल पर प्रकाश एवं वायु का प्रवेश अवरूद्ध हो जाये। अजीवित पदार्थों द्वारा दबा देने की क्रिया द्वारा खरपतवारों के पौधों तक सूर्य के प्रकाश को पहुँचने से रोका जाता है ताकि उनमें संश्लेषण की क्रिया न हो सके और भोज्य पदार्थों के अभाव में वे कमजोर होकर नष्ट हो जाएँ।

9. **मृदा सौरीकरण (Soil solarization) :** इस विधि में अप्रैल–मई के माह में ऐसा खेत जहाँ नमी हो, पारदर्शी प्लास्टिक की शीट से ढक दिया जाता है। इस प्लास्टिक के नीचे मृदा का तापमान सामान्यतः 8–10 डिग्री सेन्टीग्रेड बढ़ जाता है, जिससे कि कई खरपतवारों के बीज झुलस कर नष्ट हो जाते हैं।

रासायनिक नियंत्रण (Chemical control)

रसायनों का प्रयोग द्वितीय विश्व युद्ध 1945 के बाद ही शुरू हुआ जब 2,4–डी व एम.सी.पी.ए. (MCPA) अस्तित्व में आये।

परिभाषा : शाकनाशी रसायन (Herbicides) : वे रासायनिक पदार्थ जो खरपतवारों को नष्ट करने में या उनकी बढ़वार को रोकने में सहायक होते हैं, शाकनाशी रसायन कहलाते हैं।

(1) शाकनाशियों का वर्गीकरण (Classification of herbicides) : शाकनाशियों को उनके गुण व विशेषताओं व प्रभाव के आधार पर निम्न भागों में वर्गीकृत किया गया है –

(अ) वरणात्मक व अवरणात्मक शाकनाशी
(ब) मृदा सक्रिय व पत्र सक्रिय शाकनाशी
(स) सम्पर्क व स्थानान्तरित शाकनाशी

(द) मृदा जीवाणु नाशक व मृदा धूमक शाकनाशी

(अ) वरणात्मक व अवरणात्मक शाकनाशी (Selective & Non-selective herbicides)

वरणात्मक शाकनाशी : ये वे रसायन हैं जो किसी जाति विशेष के पौधों को ही नष्ट करते हैं परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य किसी पौधे को कोई हानि नहीं पहुँचाते। इनका प्रयोग फसलों के साथ उगे खरपतवारों को नष्ट करने में किया जा सकता है। जैसे 2,4–डी के प्रयोग से गेहूँ की फसल में चौड़ी पत्ती वाले सभी खरपतवार नष्ट हो जाते हैं, गेहूँ की फसल को कोई नुकसान नहीं पहुँचता।

अवरणात्मक शाकनाशी : इनका प्रयोग बंजर भूमियों, औद्योगिक परिसरों, सड़क व नहर किनारे उगे बहुवर्षीय खरतवार नष्ट करने के लिए किया जाता है। उदाहरण – डाइक्वाट, पैराक्वाट, ग्लाइफोसेट।

(ब) मृदा सक्रिय व पत्र सक्रिय शाकनाशी (Soil active and foliage active herbicides)

मृदा सक्रिय शाकनाशी : इन रसायनों का प्रयोग फसल की बुआई से पूर्व या खरपतवारों के अंकुरण अवस्था में ही मृदा में मिलाकर करते हैं। इसके लिए खेत की भली–भांति जुताइयाँ करके मृदा को भुरभुरा बना लेते हैं। इनका प्रभाव प्रयोग के 4–6 सप्ताह बाद तक बना रहता है। उदाहरण – एट्राजीन, एलाक्लोर, पेन्डिमिथेलिन, फ्लूक्लारेलिन।

पत्र सक्रिय शाकनाशी : इन रसायनों का प्रयोग सीधे पौधे पर पर्णीय छिड़काव के रूप में किया जाता है। उदाहरण – 2,4–डी, आईसोप्रोट्यूरोन, पिनोक्साडेन, सलफोसल्फ्यूरॉन, पेराक्वेट, ग्लाइफोसेट।

(स) सम्पर्क शाकनाशी व स्थानान्तरित शाकनाशी (Contact herbicides & translocated herbicides)

सम्पर्क शाकनाशी : इस प्रकार के शाकनाशी रसायन पौधे के उसी भाग पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं जो भाग इनके सम्पर्क में आता है। अतः इन शाकनाशियों के प्रयोग के समय ध्यान रखते हैं कि खरपतवार के सभी भागों (पत्ती, तना, शाखा) पर इनका छिड़काव हो जाये। उदाहरण – पैराक्वेट, डाइक्वेट।

स्थानान्तरित शाकनाशी : इन शाकनाशियों का प्रयोग पौधे के किसी भी भाग पर किया जावे तो प्रत्येक अंग में फैल कर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। पत्तियों पर छिड़कने से प्रभाव जड़ों तक होता है। उदाहरण – 2,4–डी, आइसोप्रोट्यूरोन, ग्लाइफोसेट।

(द) मृदा जीवाणुनाशक एवं मृदा धूमक शाकनाशी (Soil sterilants and fumigants)

मृदा जीवाणुनाशक : मृदा में वनस्पति के साथ–साथ सभी जीवाणुओं को नष्ट करते हैं। इनका प्रभाव मृदा में 4 माह से 24 माह तक बना रहता है। उदाहरण – डाइयूरॉन, सिमेजिन, एट्राजिन।

मृदा धूमक : इन शाकनाशियों की गैस या वाष्प मृदा में फैलकर वनस्पति को नष्ट करती है। इनका प्रभाव मृदा में एक माह तक बना रहता है। उदाहरण – कार्बन–डाई–सल्फाइड, मिथाइल ब्रोमाइड।

(2) शाकनाशी रसायन प्रयोग करने का समय : शाकनाशी रसायनों को फसलों में निम्न समयानुसार प्रयोग किया जाता है –

1. **बुआई या रोपाई पूर्व (Pre-sowing stage) :** फसल की बुआई या रोपाई से पहले शाकनाशी रसायन का प्रयोग इस विधि से करते हैं। खेत की भलीभांति जुताइयाँ करके मृदा को भुरभुरा बना लेते हैं। मृदा में नमी अवश्य होनी चाहिए जिससे शाकनाशी को भलीभांति मृदा में मिलाया जा सके। उदाहरण – दलहनी व तिलहनी फसलों में फ्लूक्लोरेलिन 1 कि.ग्रा. मात्रा बुआई से पहले 800–1000 लीटर पानी में घोलकर मृदा में प्रति हेक्टेयर छिड़काव करना।
2. **बुआई के बाद अंकुरण से पहले (Pre-emergence stage) :** इस विधि में फसल की बुआई के तुरंत बाद व फसल तथा खरपतवार दोनों के अंकुरण से पहले शाकनाशी रसायन खेत में प्रयोग करते हैं। उदाहरण – ज्वार, बाजरा, मक्का आदि फसलों हेतु एट्राजिन 0.5 कि. ग्रा. मात्रा प्रति हेक्टेयर व सभी तिलहनों व दलहनों में पेन्डिमिथेलिन 0.75 – 1.0 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से अंकुरण से पहले प्रयोग करें।
3. **अंकुरण के बाद प्रयोग (Post-emergence stage) :** वे शाकनाशी रसायन जो फसल व खरपतवार दोनों के उगने के बाद छिड़के जाते हैं। इनका प्रयोग उचित समय पर एवं फसल के अनुसार किया जाता है। उदाहरण – गेहूँ में आइसोप्रोट्यूरोन 1 कि.ग्रा. मात्रा गेहूँसा, जई, हेतु बुआई के 30–35 दिन बाद 600–800 लीटर पानी में मिलाकर प्रति हेक्टेयर छिड़काव करें।
4. **ले–बाई प्रयोग (Lay-by application) :** इस विधि का प्रयोग खड़ी फसल में आखिरी निराई–गुड़ाई के बाद करते हैं। उदाहरण – गेहूँ की फसल में 2,4–डी का प्रयोग।

(3) रासायनिक विधि से खरपतवार नियंत्रण के लाभ

(i) वर्षा ऋतु में लगातार या एक या दो दिन के अन्तर से वर्षा होने पर खेत में निराई–गुड़ाई कर पाना संभव नहीं होता ऐसे में रसायनों द्वारा खरपतवार नियंत्रण संभव है।

(ii) भौतिक या यांत्रिक विधि से खरपतवार नियंत्रण तभी संभव होता है जब खरपतवारों के 3–4 पत्तियाँ आ जायें,

जबकि रासायनिक विधि द्वारा अंकुरण की अवस्था में ही खरपतवार नियंत्रण संभव है।

(iii) फसलों में पाये जाने वाली नकलची (Mimicry) या अनुकारी खरपतवार जैसे गेहूँ में गेहूँसा, धान में जंगली धान को यांत्रिक विधि से निकालना आसान नहीं, जबकि रासायनिक विधि द्वारा नियंत्रण आसानी से संभव है।

(iv) शाकनाशी प्रयोग से बहुवर्षीय व काष्ठीय खरपतवारों को सरलता या सुगमतापूर्वक नष्ट किया जा सकता है।

(v) जिन क्षेत्रों में मृदा कटाव (Soil erosion) की समस्या अधिक है वहाँ रासायनिक विधि से खरपतवार नियंत्रण प्रभावशाली रहेगा।

(vi) यंत्रों द्वारा खरपतवार नियंत्रण के लिए फसलों को उचित फासले पर कतारों में बोना जरूरी है, जबकि रासायनिक विधि का प्रयोग छिटकवां ढंग से बोई गई फसलों पर भी कर सकते हैं।

(vii) असमतल खेतों में रासायनिक विधि से खरपतवार नियंत्रण यांत्रिक विधि की अपेक्षा सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

(viii) रासायनिक खरपतवार नियंत्रण में फसलों की जड़ों को हानि नहीं होती, जबकि यांत्रिक विधि से प्रायः निराई–गुड़ाई के समय जड़ें कटने का भय बना रहता है।

(ix) श्रमिकों की आवश्यकता अपेक्षाकृत कम पड़ती है।

(x) फसल उत्पादन लागत घट जाती है, जिससे किसान को प्रति इकाई क्षेत्रफल से अधिक लाभ प्राप्त होता है।

5. रासायनिक विधियों की सीमायें (Limitations of chemical methods)

(अ) किसान को शाकनाशी रसायन के प्रभाव व प्रयोग विधि सम्बन्धी तकनीकी जानकारी न होना।

शाकनाशी	फसल/सामान्य उपयोग	मात्रा (सक्रिय तत्व किग्रा./हे.)	समय
2,4–डी (ईथाइल एस्टर) 2,4-D (ethyl ester)	गेहूँ (चौड़ी पत्ती वाले खरपतवार हेतु)	0.50	बुआई से 30–35 दिन बाद
एलाक्लोर Alachlor	सोयाबीन, मक्का	2.0 2.5	रोपाई से 3–7 दिन में
एट्राज़ीन Atrazine	मक्का, गन्ना	0.50	अंकुरण पूर्व
ब्युटाक्लोर Butachlor	धान	1.0-1.5	रोपाई से 3–7 दिवस में
क्लोमाजोन Clomazone	सोयाबीन	1.0-1.5	अंकुरण पूर्व
डाइयूरोन Diuron	कपास	0.50-1.5	अंकुरण पूर्व
फ्लुक्लोरेलिन Fluchloralin	तिलहन, दलहन	0.75-1.00	बुआई पूर्व मृदा में मिला कर
ग्लाइफोसेट Glyphosate	अकृषि क्षेत्र/कुल वनस्पति नष्ट करने हेतु	0.3% घोल	खरपतवार अंकुरण उपरान्त
ईमेज़ीथापायर Imazethapyr	सोयाबीन, मूंगफली, उड़द, मूंग	0.10	बुआई से 15–20 दिन बाद
आइसोप्रोटयूरोन Isoproturon	गेहूँ (घासीय खरपतवार हेतु)	0.75-1.0	बुआई से 30–35 दिन बाद
मेटोलाक्लोर Metolachlor	तिलहन, दलहन	0.75-1.0	अंकुरण पूर्व
मेट्रीब्यूज़ीन Metribuzin	सोयाबीन, टमाटर	0.25-030	अंकुरण पूर्व/बुआई से 15–20 दिन बाद
मेटसल्फुरॉन Metsulfuron	गेहूँ (चौड़ी पत्ती वाले खरपतवार हेतु)	0.002-0.004	बुआई से 30–35 दिन बाद
ऑक्सीफ्लुरफेन Oxyfluorfen	आलू	0.15	अंकुरण पूर्व
पेराक्वेट Paraquat	अकृषि क्षेत्र/कुल वनस्पति नष्ट करने हेतु/रिजका	0.1-0.2% घोल	खरपतवार अंकुरण उपरान्त
पेंडीमिथेलिन Pendimethalin	तिलहन/दलहन/मसाला फसल/कपास	0.75-1.0	अंकुरण पूर्व
सल्फोसल्फुरोन Sulfosulfuron	गेहूँ (घासीय खरपतवार हेतु)	0.025-0.030	बुआई से 30–35 दिन बाद

(ब) हमारे देश में जलवायु, भूमि व वनस्पति की भिन्नता होने से केवल एक ही प्रकार के शाकनाशी रसायन द्वारा खरपतवार नियंत्रण संभव नहीं है।

(स) किसानों द्वारा मिश्रित शस्योत्पादन अपनाने से भी इसमें बाधा आती है।

(द) मृदा व फसलों पर होने वाले दुष्प्रभावों के कारण शाकनाशी रसायनों के प्रयोग में कमी आ रही है।

(य) कृषि जोतों का आकार छोटा होने से किसान द्वारा गृह श्रमिकों से निराई–गुड़ाई करवाकर खरपतवार नियंत्रण अधिक लाभकारी हो जाता है।

(र) रसायनों के गलत प्रयोग करते समय कोई स्वचालित सूचक **(Signal)** न होने से किसान को फसलों में इसके दुष्प्रभाव का तुरंत पता नहीं चलता, इससे जब कुप्रभाव को देखकर किसान शाकनाशी का प्रयोग रोकता है तब तक काफी हानि हो चुकी होती है।

भारतवर्ष में प्रयुक्त चुनिन्दा शाकनाशी व शाकनाशी मिश्रण

जैविक नियंत्रण

जैव नियंत्रण परजीवियों, परभक्षियों तथा रोगाणुओं की वह क्रिया है जो दूसरे जीवों की संख्या या घनत्व को उस औसत से कम कर देती है जो उनका अनुस्थिति में रहता है। इस प्रकार खरपतवारों के जैव नियंत्रण का उद्देश्य खरपतवारों की संख्या को परजीवियों की सहायता से इस सीमा तक कम करना है जिससे उनसे होने वाली हानि को रोका जा सकें। यह कार्य खरपतवारों में कीटों, पौधों तथा रोगाणुओं को उत्पन्न कराकर किया जाता है।

प्राकृतिक शत्रुओं (जैव अभिकर्ता) के प्रकार : खरपतवार के प्राकृतिक शत्रु अनेक प्रकार के होते हैं जिनमें से प्रमुख कीट हैं। कीटों का इस्तेमाल अनेक खरपतवारों के नियंत्रण हेतु व्यापक रूप से किया जाता है। ये कीट मुख्यतः लेपिडोप्टेरा, हेमीप्टेरा, कोलियोप्टेरा, डिप्टेरा, हाइमिनोप्टेरा और थाइसेनोप्टेरा जातियों के होते हैं। इन अभिकर्ताओं में ये गुण होने चाहिये :

1. मेजबान विशेष को छोड़कर ये अन्य पौधों पर आकृष्ट नहीं होना चाहिए।
2. इनका गुणन तीव्रता से होना चाहिये।
3. कम समय में अधिक से अधिक नुकसान पहुँचाना चाहिये तथा जहाँ तक सम्भव हो ये मेजबान पौधे के फूल व कलियों को नष्ट करने में योग्य होना चाहिये जिससे कि मेजबान पौधों का गुणन भी अवरूद्ध हो जाये।
4. नये स्थान पर शीघ्रता से जम जाना चाहिये।

जैव नियंत्रण की सफलता के उदाहरण

विश्व के कृषि इतिहास में जैव नियंत्रण के माध्यम से निम्न खरपतवारों को नियंत्रण करने में सफलता पाई है।जैसे कि– खरपतवार लेन्टाना केमेरा को जैव अभिकर्ता क्रोसीडोसीमा लेन्टाना से एवं खरपतवार पारथेनियम हिस्टीरोफोरस (गाजर घास) को जाइगोग्रामा बाइकोलोरटा से नियन्त्रित किया जाता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. खरपतवार वे पौधे हैं जो अनचाहे स्थान व अनचाहे समय पर उगते हैं।
2. खरपतवारों में कई विशेषताएँ होती हैं जिससे उनकी वृद्धि फसलों की अपेक्षा अधिक तेजी से होती है।
3. खरपतवारों को जीवन चक्र, बीज पत्र, फसल सम्बन्ध, पत्तियों की बनावट, मृदा व जलवायु व प्रजनन इत्यादि के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है।
4. खरपतवार फसल से पोषक तत्व, नमी, प्रकाश व स्थान के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। ये फसल की गुणवत्ता, पशु उत्पादों की मात्रा व गुणवत्ता, मनुष्य व पशु स्वास्थ्य इत्यादि पर विपरीत प्रभाव डालते हैं।
5. ये कीट व व्याधियों को शरण देने के अतिरिक्त सिंचाई में अवरोध उत्पन्न करते हैं।
6. खरपतवार नियंत्रण हेतु भौतिक व यांत्रिक विधियाँ जैसे कि हाथ से उखाड़ना, निराई–गुड़ाई, छंटाई, जलाना, जल पल्लवन पलवार, मृदा सौरीकरण इत्यादि विधियाँ अपनाई जा सकती है।
7. रसायनों (शाकनाशियों) से खरपतवारों का अच्छा नियंत्रण मिलता है। वरणात्मक शाकनाशियों द्वारा फसली क्षेत्रों में नियंत्रण हेतु अनेक शाकनाशी प्रयुक्त किये जाते हैं। अकृषि क्षेत्रों में अवरणात्मक शाकनाशी प्रयुक्त होते हैं।
8. फसली क्षेत्र में शाकनाशियों को बुआई पूर्व मृदा में मिला कर (Pre-plant incorporation), फसल की बुआई परन्तु अंकुरण पूर्व (Pre-emergence) व अंकुरण बाद उचित अवस्था पर (Post-emergence) दिया जाता है।
9. कुछ खास खरपतवारों को जैव–अभिकर्ता (Bio-agent) के प्रयोग से नियंत्रित किया जा सकता है।
10. भारतवर्ष में जलकुम्भी, गाजर घास जैसे खरपतवारों की जैविक विधि से नियंत्रित किये जाने में सफलता प्राप्त हुई है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. सरसों के तेल में किस खरपतवार की मिलावट से ड्रोप्सी नामक रोग होता है –
   (अ) अमरबेल (ब) मोथा
   (स) प्याजी (द) सत्यानाशी
2. निम्न में से किस शाकनाशी का उद्‌भव सर्वप्रथम हुआ था –
   (अ) 2, 4–डी (ब) एट्राजीन
   (स) आइसोप्रोट्यूरोन (द) पेन्डीमिथेलिन
3. निम्न में से किस खरपतवार का प्रजनन वानस्पतिक विधि द्वारा होता है –
   (अ) बथुआ (ब) लहसुआ
   (स) मोथा (द) कासनी
4. निम्न में से कौनसा जैव–अभिकर्ता गाजर घास नियंत्रण हेतु काम में आता है –
   (अ) *जाइगोग्रामा बाइकोलोरेटा*
   (ब) *नियोचिटियाना ब्रूशी*
   (स) *एगासिलस हाइग्रोफाइला*
   (द) *क्राइटोफेगस सालवीनी*
5. निम्न में से कौनसा शाकनाशी सोयाबीन में खरपतवार नियंत्रण हेतु प्रयुक्त किया जाता है –
   (अ) एट्राजीन (ब) आइसोप्रोट्यूरॉन
   (स) सल्फोसल्फ्यूरॉन (द) इमेजीथापायर
6. निम्न में से कौनसा खरपतवार द्विबीजपत्री है –
   (अ) *फेलेरिस माइनर* (ब) *एविना फटूआ*
   (स) *साइप्रस रोटुन्डस* (द) *एमेरेन्थस विरीडिस*

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

7. सापेक्ष खरपतवार (Relative weed) क्या होते हैं?
8. गेहूँ के पाँच चौड़ी पत्ती वाले खरपतवारों के नाम बताइये।
9. खरपतवार से मनुष्य स्वास्थ्य पर होने वाले दुष्परिणाम को सउदाहरण बताइये।
10. खरपतवारों से मनुष्य के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव के दो उदाहरण दीजिए।
11. खरपतवारों से पशु उत्पादों की गुणवत्ता में कमी के दो उदाहरण दीजिए।
12. दो अवरणात्मक शाकनाशियों के नाम लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

13. खरपतवारों के औषधीय उपयोग की सउदाहरण व्याख्या कीजिए।
14. पलवार (Mulch) द्वारा खरपतवार नियंत्रण कैसे किया जाता है?
15. सम्पर्क व स्थानान्तरित शाकनाशियों का विभेद सउदाहरण समझाईये।
16. खरपतवारों की बीज उत्पादन क्षमता व उनकी अंकुरण क्षमता पर टिप्पणी लिखिए।
17. खरपतवारों के वानस्पतिक गुणन पर टिप्पणी लिखिए।
18. खरपतवार–फसल सम्बन्ध के आधार पर खरपतवारों को वर्गीकृत कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

19. खरपतवारों का वर्गीकरण कैसे किया जाता है। विभिन्न वर्गीकरणों की सउदाहरण विवेचना कीजिए।
20. खरपतवार नियंत्रण हेतु विभिन्न भौतिक व यांत्रिक विधियों को समझाइये।
21. खरपतवारों से होने वाली हानियों का विस्तृत विवरण दीजिए।
22. रासायनिक विधियों द्वारा खरपतवार नियंत्रण के लाभ व सीमाओं को समझाइये।

उत्तरमाला

1. (द) 2. (अ) 3. (स) 4. (अ) 5. (द) 6. (द)

अध्याय – 5
5.1 शुष्क कृषि – परिभाषा, महत्व एवं सिद्धांत
(Dry farming- Definition, Importance and Principles)

भारतीय कृषि को मानसून का जुआ (Gamble with Monsoon) कहा जाता है। देश में खाद्यान्न उत्पादन एवं कृषि विकास वर्षा की मात्रा एवं वितरण पर निर्भर करती है। हमारे देश में कुल शुद्ध कृषि क्षेत्र का लगभग 58 प्रतिशत क्षेत्र वर्षा पर आधारित है। कुल खाद्यान्न उत्पादन का 40 प्रतिशत इन्ही क्षेत्रों से आता है तथा साथ ही दो तिहाई पशुधन इन क्षेत्रों पर निर्भर है। हैदराबाद स्थित केन्द्रीय बारानी कृषि अनुसंधान के अनुसंधान परिणाम बताते है कि वर्षा जल तथा अन्य संसाधनों की उपलब्धता की दृष्टि से इन क्षेत्रों में व्यापक क्षेत्रीय असमानता पाई जाती है। उन्नत कृषि तकनीकें अपनाकर बारानी फसलों की

सारणी 5.1.1 : राजस्थान के कृषि जलवायु खंड

क्र. सं.	कृषि जलवायु खंड	वार्षिक वर्षा मिमी.	राजस्थान के जिले	बोई जाने वाली मुख्य फसलें
1	I A शुष्क पश्चिमी मैदानी क्षेत्र	100–300	प. बाड़मेर, प. जोधपुर, चूरू का शुष्क क्षेत्र	खरीफ दालें, ग्वार, चना, गेहूँ, तिल, सरसों, बाजरा
2	I B सिंचित उत्तरी पश्चिमी मैदानी क्षेत्र	100–300	श्रीगंगानगर एवं हनुमानगढ़	जीरा, गेहूँ, गन्ना, ईसबगोल ग्वार, सरसों, बाजरा खरीफ दालें व धान
3	I C अति–शुष्क सिचिंत क्षेत्र	100–300	बीकानेर, जैसलमेर चूरू की चार तहसीले	कपास, बाजरा, ज्वार, खरीफ दालें, गेहूँ, सरसों, तिल
4	II A अंतर्वती मैदानी क्षेत्र	300–500	नागौर, झुंझुनू, सीकर, पूर्वी चूरू	बाजरा, तिल, सरसों, गेहूँ, ज्वार, खरीफ दालें
5	II B लूनी नदी का अंतर्वती मैदानी क्षेत्र	300–500	प. सिरोही, पू. जोधपुर, पाली, जालौर	गेहूँ, बाजरा, चना, सरसों, तोरिया, मक्का, गन्ना, मूंगफली, कपास
6	III A अर्द्ध शुष्क पूर्वी मैदानी क्षेत्र	500–600	अजमेर, जयपुर, टोंक एवं दौसा जिले का कुछ भाग	गेहूँ, बाजरा, मूंग, मूंगफली, चवला, सरसों, चना, जौ, ज्वार
7	III B बाढ़ संभाव्य पूर्वी मैदानी क्षेत्र	500–600	अलवर, भरतपुर, धौलपुर, द. सवाईमाधोपुर, दौसा व करौली की कुछ तहसीलें	तिल, बाजरा, गेहूँ, सरसों, चना, मक्का मूंगफली, जौ, ज्वार
8	IV A अर्द्ध आर्द्र द . मैदान एवं अरावली पहाडी क्षेत्र	500–700	भीलवाड़ा, राजसमन्द उदयपुर, चितौड़गढ़ व सिरोही का हिस्सा	मक्का, सोयाबीन, उड़द, ज्वार, गेहूँ, चना, सरसों
9	IV B आर्द्र दक्षिणी क्षेत्र	600–750	बांसवाड़ा, डूंगरपुर उदयपुर, प्रतापगढ के हिस्से	मक्का, धान, रबी, अरहर, सरसों, गन्ना, गेहूँ
10	V आर्द्र दक्षिणी पूर्वी मैदान	750 से ऊपर	बूंदी, कोटा, झालावाड़ व स . माधोपुर का हिस्सा	गेहूँ, सोयाबीन मक्का, धान, उड़द, सरसों,, तोरिया, कपास, गन्ना, अफीम

उत्पादकता 50–70 प्रतिशत तक बढ़ाई जा सकती है। भारत के लगभग 141 मिलियन हैक्टेयर शुद्ध कृषित क्षेत्र में 80 मिलियन हेक्टेयर बारानी या असिंचित है।

शुष्क खेती का तात्पर्य वर्षा द्वारा प्राप्त जल का सुनियोजित संरक्षण व उपयोग करके, उचित सस्य क्रियाओं को अपना कर शुष्क क्षेत्रों हेतु उपयुक्त किस्में व फसलें जो कम पानी चाहने वाली हों, कम अवधि वाली हों, की बुआई करके अधिकतम पैदावार प्राप्त करना है।

शुष्क खेती– शुष्क व अर्द्धशुष्क क्षेत्रों में जहाँ वाष्पीकरण की मात्रा (वर्षा, ओस, वर्षण, बर्फ) से प्राप्त जल की मात्रा से अधिक हो, जहाँ सिंचाई की सुविधा उपलब्ध न हो, में नमी संरक्षण एवं समुचित सस्य क्रियाओं द्वारा फसल उत्पादन करना शुष्क खेती है।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटनिका के आधार पर परिभाषा ''जहाँ फसल उत्पादन के लिए पानी की उपलब्धता मुख्य समस्या है, वहाँ बिना सिंचाई की खेती को शुष्क खेती कहते हैं।''

असिंचित खेती – असिंचित खेती या बारानी खेती से तात्पर्य बिना सिंचाई के फसलोत्पादन से है, यह प्रायः आर्द्र व अर्द्ध–आर्द्र जलवायु क्षेत्रों में की जाती है। इन क्षेत्रों मे वर्षा अधिक व वाष्पीकरण कम होता है।

क्षेत्रफल की दृष्टि से राजस्थान देश का सबसे बड़ा राज्य है जो कि भारत के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 10.4 प्रतिशत है। परन्तु राज्य में देश के उपलब्ध जल संसाधनों का मात्र एक प्रतिशत भाग ही उपलब्ध है। राज्य में कृषि योग्य भूमि का लगभग 70 प्रतिशत भाग वर्षा पर आधारित (बारानी) है। यहाँ फसल उत्पादन वर्षा पर ही निर्भर है। ऐसी परिस्थितियों में शुष्क खेती, अपनाना सर्वोत्तम विकल्प है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली ने राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान परियोजना के लिए राजस्थान की कृषि जलवायु को दस भागों में विभक्त किया है। सिंचाई की सम्पूर्ण क्षमता के उपयोग के पश्चात् भी देश के शुद्ध बुआई क्षेत्र का 40 प्रतिशत क्षेत्र बारानी ही रहेगा। बिना सिंचाई के वर्षा आधारित खेती को असिंचित या बारानी खेती कहते हैं। असिंचित खेती को बारानी नम कृषि तथा बारानी शुष्क कृषि असिंचित खेती या बारानी खेती दो भागों में बाँटा जा सकता है।

बारानी नम कृषि में वर्षा की मात्रा पर्याप्त होती है तथा वर्षा का वितरण भी फसल बढ़वार मौसम में उपयुक्त होता है इस प्रकार की कृषि में वर्षा के पानी का निकास एक मुख्य मुद्दा रहता है। जबकि शुष्क कृषि क्षेत्रों में वर्षा तथा वाष्पीकरण की तुलनात्मक मात्रा ऋणात्मक होती है।

राजस्थान के परिपेक्ष्य में शुष्क कृषि का महत्व

राज्य में 70 प्रतिशत क्षेत्रफल असिंचित होने से फसल–उत्पादन वर्षा पर ही निर्भर है। राज्य के पश्चिमी भाग में औसतन वर्षा 100 से 300 मिमी. तथा पूर्वी भाग में 500–1000 मिमी होती है। (देखें राजस्थान के कृषि जलवायु खंड)। राज्य की औसत वर्षा 575.1 मिमी. है। ऐसे में उन्नत शुष्क कृषि तकनीकें अपनाना किसान के लिए फायदेमंद हो सकता है। राजस्थान की निम्न परिस्थितियों के कारण शुष्क खेती को अपनाया जाना जरूरी है–

(1) जलवायु संबंधी कारण– हमारे राज्य में कुल वार्षिक वर्षा का 90 प्रतिशत से अधिक भाग मध्य जून से मध्य सितम्बर तक प्राप्त होता है। मानसून कालमात्र 40 से 80 दिन तक रहता है। वर्षा की अनियमितता के कारण किसान को फसल प्रबन्ध में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में तापक्रम मई तथा जून में 40° से 48° सेल्सियस हो जाता है। वायु की तेजगति से वातावरण की आर्द्रता कम हो जाती है। वाष्पीकरण तेजी से होता है। इसी कारण इन क्षेत्रों में कम अवधि वाली, कम जल माँग वाली, सूखा सहनशील फसलों से ही पैदावार प्राप्त कर सकते हैं। शुष्क कृषि तकनीक से ऐसी फसलों के चयन में मदद मिल सकती है।

(2) मृदा संबंधी कारण–राज्य के सर्वाधिक क्षेत्र में रेतीली मृदायें पाई जाती हैं। बीकानेर, जोधपुर, बाड़मेर, चूरू आदि जिलों में पाई जाने वाली इन मृदाओं की उर्वरा शक्ति बहुत कम है। इनमें कार्बनिक पदार्थ की मात्रा 0.5 प्रतिशत से भी कम पाई जाती है। मृदाओं की जलधारण क्षमता बहुत कम है। इसके अलावा शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्र की मृदाओं में अधिक वाष्पीकरण, उच्च तापक्रम व कम वर्षा होने से लवणीयता–क्षारीयता के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे में शुष्क कृषि तकनीक द्वारा नमी संरक्षण के उपाय, मल्च का प्रयोग, कार्बनिक खादों का प्रयोग आदि अपना कर फसल उत्पादन ले सकते हैं।

(3) फसल प्रबंधन संबंधी कारण– शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में किसान अभी जानकारी के अभाव में लंबी अवधि वाली फसलें व कम उपज देने वाली फसलों की खेती कर रहे हैं। किसान द्वारा पौध संरक्षण पर पर्याप्त ध्यान नहीं देने से कम उपज मिल रही है। नमी संरक्षण उपायों से किसानों को अवगत करवाया जाना आवश्यक है। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि किसानों को कम अवधि वाली, कम जल मांग वाली फसलों की जानकारी शुष्क कृषि तकनीक द्वारा देकर अधिक पैदावार दिलवा सकते हैं।

शुष्क कृषि के सिद्धांत (Principles of dry farming)

शुष्क कृषि तकनीक को अपनाने की आवश्यकता को देखते हुए हमें इसके सिद्धांतों की जानकारी होनी चाहिए। शुष्क कृषि की सफलता के लिए अग्रांकित सिद्धांतों की पालना की जानी चाहिए–

(अ) नमी संरक्षण का सिद्धांत – ऐसे प्रयास किये जाये जिससे कि वर्षा की प्रत्येक बूंद का मृदा में संरक्षण व फसल उत्पादन में उसका उपयोग किया जा सके। इस हेतु निम्न उपाय अपना सकते हैं–

(1) मृदा जलधारण क्षमता बढ़ाना – इस हेतु रबी की फसल कटते ही गहरी जुताई करनी चाहिए। साथ ही प्रत्येक तीन वर्ष में एक बार 8–10 टन कार्बनिक खाद प्रति हेक्टेयर की दर से प्रयोग करना चाहिए।

(2) मल्च का प्रयोग – वाष्पीकरण से होने वाली हानि को रोकने के लिए मृदा सतह को फसल अवशेष, सूखी पत्तियाँ, सूखी घास से ढक देनी चाहिए। इन पदार्थो को मल्च व इस क्रिया को मल्चिंग कहते हैं। वर्षा के बाद 'हो' या कुदाली द्वारा हल्की गुड़ाई करके मृदा की 5 सेमी. मोटी परत बनाते है। जिसे धूल पलवारना (Dust mulching) कहते हैं। इससे नमी संरक्षण में सहायता मिलती है।

(3) पौधों द्वारा वाष्पोत्सर्जन हानि को कम करना – वाष्पोत्सर्जन हानि कम करने के लिए वाष्पोत्सर्जन रसायनों का फसलों पर छिड़काव करते हैं। जो पत्तियों के पर्ण रन्ध्र बन्द करके वाष्पोत्सर्जन को रोकने में मदद करते हैं।

(ब) शुष्क कृषि में फसल प्रबंधन के सिद्धांत – शुष्क कृषि में फसल प्रबंध यथा फसलों के चयन, किस्मों के चयन, जुताई, बुआई, खाद–उर्वरक, खरपतवार नियंत्रण आदि में निम्न सिद्धांतो की पालना की जानी चाहिए–

(1) फसलों का चुनाव (Selection of crops)- शुष्क खेती के लिए सूखा सहने वाली, कम अवधि में पकने वाली फसलों का चयन किया जाना चाहिए। जैसे – ज्वार, बाजरा, अरण्डी, मोठ, उड़द, मूंग, कुल्थी, तिल, तारामीरा, कुसुम, चंवला आदि।

सारणी 5.1.2 : शुष्क खेती के लिए फसलों की किस्में

क्र.सं.			
1.	बाजरा	एम.एच.–169, आर.एच.बी.–173, 177	85–90 दिन
2	ज्वार	सी.एस.एच.–14, एस.पी.वी.–96	80–90 दिन
3	मक्का	संकुल अगेती– 76 डी–765, माही कंचन, पी.एम.–3, पी.एम.–9, पी.एस.एम.–3, पी.एम.–5	90–100 दिन 85–90 दिन
4	गेहूँ	डी.–134, मुक्ता, राज. 3777,0231,4083,4120,4079,4238	115–120 दिन
5	जौ	आर.डी.–31, आर.डी.– 2508,2624,2660	115 दिन
6	सोयाबीन	जे.एस.–335, एन.आर.सी.–37, जे.एस.– 9560, 20–29, 20–34	90–95 दिन
7	मूंगफली	जे.एल.–24, जी.जी.–2, टी.जी.–39, आर.जे.–425, टी.जी.– 37ए, जी.पी.बी. डी.–2, प्रताप मूंगफली–2	90–95 दिन
8	तिल	आर.टी.–127, आर टी.–46, आर टी.–346 टी.सी.–25	75–80 दिन 90–100 दिन
9	सरसों	आर.एच.–30, पूसा जय किसान (बायो–902) पूसा बोल्ड, दुर्गामणी, अरावली, पी.आर.– 15 क्रांन्ति	130–135 दिन
10	उड़द	टी.9, बरखा, पंत यू–31, प्रताप उड़द –1, आर.बी.यू.– 38, के.यू.– 963	85–90 दिन
11	मूंग	के.–851, पूसा बैसाखी, आर .एम. जी–62,268,344, एस.एम.एल.–668, आई. पी.एम.–02–3	60–80 दिन
12	मोठ	आर.एम.ओ.–40, 225,435,257, सी.जेड.एम.–2 जडिया, ज्वाला आई.पी.सी.एम.ओ.–880	62–65 दिन 80–90 दिन 90–100 दिन
13	चंवला	सी.–152, एफ.एस.–68, आर.सी.– 19, 101, आर.सी.पी.– 27	65–70 दिन
14	ग्वार	दुर्गापुरा जय, दुर्गापुरा सफेद आर.जी.सी.–936,1003,1055,1002,1017,1038,1031	100–115 दिन 85–90 दिन
15	चना	दोहद यलो, आर.एस. 10, 11, आर.एस.जी.–888, सी.एस.जे.डी.– 884, आर. एस.जी.–894, 973,902,991,974 आर.एस.जी. 2	90–105 दिन 130–135 दिन
16	अरहर	प्रभात, यू.पी.ए.एस.–120, आई.सी.पी.एल.–151,87,88039 टी.–21 . .	115–120 दिन 140–180 दिन

(2) किस्मों का चुनाव (Selection of varieties)- फसल विशेष के चयन के बाद उनकी ऐसी किस्मों का चुनाव करें जो कम समय में पककर तैयार हो जाती है तथा अधिक उपज भी देती हो।

(3) खेत की जुताई– खरीफ की फसलों के लिए गहरी जुताई करें, जिससे वर्षा का पानी अधिक से अधिक मात्रा में मृदा सोख सकें। वर्षा ऋतु में एक गहरी जुताई के बाद 2–3 जुताई

बक्खर या हैरो चलाकर खेत में नमी सुरक्षित कर लेनी चाहिए। रबी की फसलों के लिए गहरी जुताई उपयुक्त रहती है, जिससे नमी का वाष्पीकरण न होने पाये।

(4) बुआई (Sowing) - बारानी खेती की सफलता के लिए बुआई का समय, तरीका, बीज दर, पौध संख्या व बीज उपचार आदि पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

(अ) बुआई का समय (Time of sowing)- सही समय पर बुआई न करने से फसल की उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, जिसे बाद में किसी भी तरह पूरा कर पाना संभव नहीं। देरी से बुआई करने पर फसलों की बढ़वार के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाता, ऐसे में फसलों को पानी की उस समय कमी हो जाती है जब उनके लिए पानी की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। इस समय पानी न मिलने पर फसल की उपज कम हो जाती है।

उदाहरणार्थ – खरीफ खाद्यान्न फसलें मक्का, ज्वार, बाजरा, आदि की बुआई मानसून की वर्षा शुरू होते ही 25–30 जून तक कर दें। वर्षा में अधिक देरी होने पर खाद्यान्न फसलों की बुआई न करके दलहनी व तिलहनी फसलें बोई जायें। रबी की फसलों की बुआई यथा संभव सितम्बर अंत से शुरू कर दी जावें। गेहूँ व जौ की बुआई अक्टूबर से नवम्बर मध्य तक कर लें। चना और सरसों की बुवाई मध्य अक्टूबर तक कर देनी चाहिए।

(ब) बीज दर (Seed rate) – शुष्क कृषि में अंकुरण की समस्या होने से बीज दर सामान्य से 10–15 प्रतिशत अधिक रखनी चाहिए।

(स) पौध संख्या (Plant population)– शुष्क खेती में मृदाओं में नमी की कमी होने की वजह से पौधों की संख्या सिंचित क्षेत्रों की तुलना में कम रखी जाती है। पौधों की संख्या अधिक हो तो कमजोर व पास–पास उगे पौधों को खेत से निकाल देते है। पौधों में फूल आने से पहले सूखा पड़े तो पहले निचली पत्तियाँ हटा देते है। यदि सूखा अधिक हो तो कतार में एक के बाद एक पौधा हटा देते है। बहुत ज्यादा सूखा पड़ने पर एक कतार के बाद दूसरी कतार के सभी पौधों को हटा देते है।

(द) बीज उपचार (Seed treatment) – गेहूँ, जौ, सरसों आदि के बीज बुआई से पहले 8–10 घंटे पानी में भिगोकर बाद में छाया में सुखाकर बुआई करते हैं। बुआई से पूर्व बीजों को कवकनाशी रसायन जैसे कार्बेण्डाजिम या थायरम से उपचारित करें। अनाज वाली फसलों के बीजों को एजोटोबेक्टर व पी.एस.बी. से तथा दलहनी फसलों को राइजोबियम कल्चर व पी.एस.बी. से उपचारित करते हैं। वर्षा पोषित मक्का के बीजों को बुआई से पूर्व 0.1 प्रतिशत थायोयूरिया के घोल मे 6 घण्टे भिगोकर सुखाने पर बुआई करने से अंकुरण जल्दी होता है तथा सूखा सहन करने की क्षमता बढ़ती है।

(5) बुआई विधि (Sowing method) - फसलों की बुआई पंक्तियों में उनकी आवश्यकतानुसार अंतरण रखते हुए करते हैं।

(6) खाद व उर्वरक – शुष्क खेती में खाद–उर्वरक प्रयोग के समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए–

(i) खरीफ में नाइट्रोजन की आधी मात्रा, फॉस्फोरस व पोटेशियम की पूरी मात्रा बुआई के समय नायले से ऊर कर बीज से 3–4 सेमी. गहराई पर देते हैं। शेष नाइट्रोजन खड़ी फसल में फूल आने से पहले जब खेत में पर्याप्त नमी हो तब देनी चाहिए।

(ii) रबी की फसलों में सभी उर्वरकों की पूरी मात्रा एक ही बार बुआई के समय ऊर देते है।

(iii) तीन साल में एक बार जैविक खाद का प्रयोग अवश्य करें।

(iv) उर्वरकों की मात्रा किसी भी फसल के लिए सिंचित क्षेत्र की तुलना में शुष्क खेती में आधी ही देवें।

(v) फसलों के आधार पर सिफारिश किए गये उर्वरकों की मात्रा देवें जैसे–

सारणी – 5.1.3 फसलों में पोषक तत्वों की सिफारिशें

क्र.सं.	फसल का नाम	पोषक तत्वों की मात्रा (किग्रा प्रति हेक्टेयर)	
		नाइट्रोजन	फॉस्फोरस
1.	गेहूँ, जौ, सरसों	30	15
2.	मक्का, ज्वार	40	20
3	दलहनी फसलें	10	20

(7) खरपतवार नियंत्रण (Weed control) - खरीफ की फसलों में खरपतवारों का प्रकोप अधिक होता है। खरपतवारों के नियंत्रण के लिए उपयुक्तफसल चक्र अपना कर गर्मी की जुताई करके तथा समय–समय पर निराई–गुड़ाई आवश्यक होने पर खरपतवार नाशी की सिफारिश की गई मात्रा का उपयोग करें।

(8) मिश्रित फसलें (Mixed cropping) - प्रतिकूल मौसम या वातावरण होने पर फसल सुरक्षा हेतु एक ही खेत में एक ही समय एक से अधिक फसलें बोनी चाहिए ताकि एक फसल नहीं होने पर दूसरी फसल से कुछ उपज मिल सके। जैसे – (अ) मक्का की दो कतारों के बीच दो कतारें उड़द (ब) मूंगफली व तिल की मिलवाँ खेती 6:2 के अनुपात की कतारों मे करें। (स) बाजरा + तिल (द) बाजरा + ग्वार आदि। (य) ज्वार + चंवला (हरा चारा) दो–दो कतारों में।

नमी की कमी की दशा में खडी फसलों में यूरिया/डी.ए.पी. के 2 प्रतिशत घोल का छिड़काव से उपज में 10–15 प्रतिशत वृद्धि होती है।

5.2 सस्यावर्तन (फसल चक्र)– परिभाषा, महत्व एवं सिद्धांत (Crop Rotation: Definition, Importance & Principles)

फसल चक्र कृषि का एक महत्वपूर्ण अंग है जिसे बिना लागत के आदान की संज्ञा दी जाती है। फसल चक्र, फसलों में पोषण प्रबन्धन की विधि के रूप में ही नहीं बल्कि मृदा बाँझपन, मृत मृदा तथा रूग्ण मृदाओं को सुधारने की एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक विधि है।

खेत या इसके किसी भाग में फसलों को इस प्रकार अदल–बदल कर बुआई करने की प्रक्रिया को जिसमें मृदा की उत्पादकता को प्रभावित किये बिना अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके, फसल चक्र कहते हैं। यह फसल चक्र एक वर्ष या अधिक के हो सकते हैं। फसल विविधिकरण समय की माँग है तथा किसान की जोखिम कम करने एवं टिकाऊ उत्पादन के लिए बहुत आवश्यक है।

परिभाषा– ''किसी निश्चित क्षेत्र में निश्चित अवधि में फसलों को इस प्रकार हेर फेर कर बोना जिससे कि फसलों से अधिकतम पैदावार प्राप्त हो सके और भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट न हो, सस्यावर्तन (फसल चक्र) कहलाता है।''

सस्यावर्तन के सिद्धांत

प्रायः फसल चक्र एक वर्ष से लेकर तीन वर्ष तक का तैयार किया जाता है। फसल चक्र का नियोजन करते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि जिस क्षेत्र के लिए फसल चक्र तैयार किया जा रहा है वहाँ की जलवायु, भूमि व बाजार माँग कैसी है? इसके अतिरिक्त सिंचाई सुविधायें, यातायात सुविधा, किसान की घरेलू आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए सस्यावर्तन तैयार किया जाता है। फसल चक्र तैयार करते समय निम्नलिखित सिद्धांतो को ध्यान में रखना चाहिएः–

1. **गहरी जड़ वाली फसलों के बाद कम गहरी जड़ वाली फसलें बोनी चाहिए–** मूसला जड़ वाली फसलों की जड़े मृदा में अधिक गहराई पर जाकर अवमृदा से पोषकतत्व ग्रहण करती हैं। ऐसे में ऊपरी परत में अधिकांश पोषक तत्व ज्यों के त्यों ही रह जाते है। यदि अगले मौसम में गहरी जड़ वाली फसल पुनः बोई गई तो वे पुनः उसी गहराई से पोषक तत्व ग्रहण करेगी इससे मृदा स्तर पर पोषक तत्वों की कमी के साथ–साथ फसल से पैदावार भी कम प्राप्त होगी। इसकी बजाए उथली जड़ व गहरी जड़ वाली फसलों को हेर–फेर कर बोने से मृदा के विभिन्न स्तरों पर पोषक तत्वों में समानता बनी रहती है। **उदारहण–** कपास– गेहूँ, सोयाबीन– गेहूँ, अरहर–गेहूँ
2. **फलीदार फसलों के बाद बिना फलीदार फसलें बोनी चाहिए –** किसी भी सस्यावर्तन में फलीदार फसलों को सम्मिलित किया जाना अच्छे सस्यावर्तन की प्रमुख विशेषता है। फलीदार फसलों द्वारा मृदा में 30–120 किलोग्राम/हेक्टेयर नत्रजन स्थिरीकरण किया जाता है। दलहनी फसलें इनकी नत्रजन की कुल आवश्यकता का लगभग 75 प्रतिशत भाग नत्रजन स्थिरीकरण से पूरा कर सकती हैं। इन फसलों की कटाई के बाद मृदा में काफी मात्रा में नत्रजन (20–60 किलोग्राम नत्रजन/हे.) नत्रजन रह जाती है जिसका उपयोग बाद में बोई गई दूसरी अफलीदार (अनाज वाली) फसलें आसानी से कर लेती है। **उदाहरण –** ग्वार–गेहूँ, उड़द–रबी मक्का, सोयाबीन–गेहूँ, आदि।

सारणी : 5.2.4 भारतीय दशाओं में विभिन्न दलहनी फसलों द्वारा मृदा में नत्रजन स्थिरीकरण

क्र.सं.	नाम फसल	नत्रजन (किग्रा/हेक्टेयर)
1.	उड़द	42.9
2.	मूंग	38.6
3.	चंवला	56.3
4.	सनई	84.7
5.	मटर	66.5
6.	ग्वार	62.4

3. **अधिक खाद चाहने वाली फसलों के बाद कम खाद चाहने वाली फसलों को बोना चाहिए –** अधिक खाद चाहने वाली फसलों के बाद कम खाद चाहने वाली फसल बोने से दूसरी फसल को कम खाद देने की जरूरत पड़ती है साथ ही पिछली फसल को दी गई खाद का सदुपयोग हो जाता है। **उदारहण–** आलू–प्याज, गन्ना–गेहूँ, कपास–चना, मक्का–चना।
4. **अधिक जलमाँग वाली फसल के बाद कम जलमाँग वाली फसल बोई जानी चाहिए–** ऐसा करने से एक तो सिंचाई साधनों का अत्यधिक उपभोग नही करना पडेगा, दूसरे भूमि में लगातार अधिक पानी बना रहने से वायुसंचार तथा जीवाणु क्रियाओं में बाधा रहती है, उससे भी बचा जा सकता है। **उदारहण–** धान–चना, धान–सरसों।

5. **मृदा क्षरण को प्रोत्साहन देने वाली फसलों के बाद मृदा क्षरण अवरोधक फसलें बोनी चाहिए–** ऐसी फसलें जो दूर–दूर लाइनों में बोई जाती है, अधिक निराई–गुड़ाई चाहती है, मृदा क्षरण को बढ़ावा देती है अतः ऐसी हानि को रोकने के लिए मृदा क्षरण अवरोधक फसलें बोनी चाहिए। **उदारहण–** मक्का–बरसीम, कपास–चना, धान–चना।

6. **एक ही कुल की फसलें लगातार नहीं उगानी चाहिए–** लगातार एक ही वानस्पतिक कुल की फसलें बोने से फसलों में रोग, कीट व खरपतवारों का प्रकोप बढ़ता है। अच्छा फसल चक्र वही है जिसमें सम्मिलित फसलें अलग–अलग कुल की होती है। **उदारहण–** धान–गेहूँ, उड़द–सरसों।

7. **फसल चक्र किसान की घरेलू आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर बनाना चाहिए–** किसान को दैनिक जीवन में अनाज, दालें, तेल, वस्त्र आदि की आवश्यकता रहती है। इनकी पूर्ति के लिए किसान को उन्ही फसलों का चुनाव फसल चक्र हेतु करना चाहिए जो उक्त आवश्यकतायें पूरी कर सकें। **उदाहरणार्थ–** अनाज हेतु– धान, मक्का, बाजरा, गेहूँ, आदि दाल हेतु – मूंग, मोठ, उड़द, अरहर, चना आदि खाद्य तेल हेतु– मूंगफली, तिल, सरसों, सोयाबीन आदि।

8. **कृषि साधनों का वर्ष भर क्षमतापूर्ण ढंग से उपयोग–** किसान के पास उपलब्ध कृषि साधनों यथा सिंचाई साधन, खाद, बीज, उर्वरक तथा श्रमिकों का वर्ष भर पूरा–पूरा उपयोग होना चाहिए। फसल चक्र में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। **उदाहरण–** अरहर–गेहूँ–मूंग।

9. **फसल चक्र निकटवर्ती कृषि आधारित उद्योग को ध्यान में रख कर तैयार करना चाहिए–** फसल चक्र में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि निकटवर्ती क्षेत्र में किस तरह कृषि आधारित उद्योग है?जैसे शुगर–मिल होने पर गन्ना, कॉटन मिल होने पर कपास, दाल मिल हेतु दलहनी फसलों तथा तेल मिल हेतु तिलहनी फसलों का समावेश फसल चक्र में किया जाना चाहिए।

10. **लवणीय मृदाओं हेतु फसल चक्र में लवणीयता सहनशील फसल बोनी चाहिए–** अगर खेत का कुछ भाग क्षारीय व लवणीयता से ग्रस्त है तो फसल चक्र में लवणीयता सहनशील फसलें बोयी जानी चाहिए। **उदाहरण–** सनई, ढेंचा, कपास, सरसों, चुकन्दर आदि।

सस्यावर्तन (फसल चक्र) के लाभ–

1. **मृदा उर्वरता में वृद्धि :** फसल चक्र द्वारा मृदा से पोषक तत्वों व नमी का अवशोषण संतुलित रूप से होने के कारण उर्वरता बढ़ती है।

2. **मृदा की भौतिक व जैविक दशा में सुधार :** दलहनी फसलों के समावेश से मृदा की भौतिक दशा में सुधार होता है। दलहनी फसलों द्वारा नत्रजन स्थिरीकरण जीवाणुओं की क्रियाशीलता से मृदा की जैविक दशा भी सुधरती है।

3. **खरपतवार नियंत्रण में सहायता :** खेत में हर वर्ष बरसीम उगाने से कासनी खरपतवार व निरंतर गेहूँ बोने से गेहूँसा खरपतवार की मात्रा बढ़ जाती है। रबी मौसम में एक वर्ष गेहूँ व एक वर्ष बरसीम बोने से कासनी, गेहूँसा आदि खरपतवारों का नियंत्रण हो जाता है। बरसीम की बार–बार कटाई से गेहूँसा नष्ट हो जाता है।

4. **वर्षभर कृषि साधनों का पूर्ण उपयोग :** किसान के पास उपलब्ध कृषि साधनों यथा सिंचाई, खाद, उर्वरक श्रमिकों का वर्ष भर पूरा उपयोग हो जाता है। इससे प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी आती है।

5. **किसान की आर्थिक दशा में सुधार :** मृदा उर्वरता बढ़ने से मृदा उत्पादकता भी बढ़ती है जिससे प्रति हेक्टेयर अधिक उपज प्राप्त होती है। परिणाम स्वरूप किसान की आर्थिक दशा में सुधार होता है।

6. **किसान की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति :** उचित फसल चक्र अपनाने से किसान की दैनिक घरेलू आवश्यकताओं जैसे खाद्यान्न, दालें, तेल, सब्जियाँ आदि को पूरा करने में मदद मिलती है।

7. **पादप संरक्षण में सहायता :** फसल चक्र में एक ही कुल की फसलें निरन्तर न बोने से फसलों में कीट रोग नियंत्रण हो जाता है।

8. **उचित नियोजन :** जब किसान अपने फार्म (खेत) के लिए फसल चक्र तैयार करता है तो किसान को पहले से ही पता रहता है कि आगामी मौसम में कौन सी फसल बोनी है? उस फसल हेतु उन्नत बीज, खाद उर्वरक, श्रमिक आदि की व्यवस्था पहले से ही कर सकता है। उचित नियोजन से आय में वृद्धि होती है।

9. **मृदा क्षरण रोकने में सहायता :** मृदा क्षरण रोकने में सहायक फसलों का समावेश फसल चक्र में करने से भू–संरक्षण में सहायता मिलती है।

10. **फसल उत्पादों की गुणवत्ता में वृद्धि :** ऐसा देखा गया है कि सही फसल चक्र अपनाने से फसलों पर कीट, रोग, खरपतवारों के प्रकोप मे कमी आती है जिससे फसल उत्पादों की गुणवत्ता में सुधार होता है।

11. **मृदा विकार की कमी :** मृदा की भौतिक, रासायनिक, जैविक दशाओं में सुधार से मृदा विकार में कमी आती है।

12. **मृदा के सभी स्तरों में पोषक तत्व–** मृदा के सभी स्तरों में पोषक तत्वों का उचित संतुलन बना रहता है।

राजस्थान की कृषि जलवायु अनुसार उपयोगी फसल चक्र

(अ) एक वर्षीय फसल चक्र

1. बाजरा–सरसों
2. तिल–गेहूँ
3. मोठ–गेहूँ
4. ग्वार–गेहूँ
5. बाजरा–गेहूँ/मेथी/सरसों
6. अरहर–गेहूँ
7. बाजरा–गेहूँ
8. मूंगफली–गेहूँ/चना/जौ
9. उड़द–गेहूँ
10. सोयाबीन – गेहूँ
11. ज्वार/मूँगफली– गेहूँ/चना
12. धान/ज्वार/मक्का– गेहूँ

(ब) द्विवर्षीय फसल चक्र

1. ग्वार–गेहूँ–बाजरा–चना
2. मक्का–गेहूँ–उड़द–सरसों
3. कपास–गेहूँ–ग्वार–गेहूँ/सरसों

(स) त्रिवर्षीय फसल चक्र

1 मक्का–गन्ना–धान–गेहूँ
2 कपास–मेथी–गन्ना–धान

5.3 मिश्रित फसल– परिभाषा, प्रकार, सिद्धान्त एवं महत्व (Mixed Cropping: Definition, Types, Principles & Importance)

आमतौर पर किसान एक खेत में एक समय एक ही फसल की बुआई करते हैं लेकिन किसान दो या दो से अधिक फसलें भी एक ही खेत में एक ऋतु में उगाता है। हमारे देश में फसल उत्पादन मौसम की प्रतिकूल दशाओं यथा बाढ़, पाला आदि से प्रभावित रहता है। इसके अतिरिक्त कीट व रोगों द्वारा भी कई बार फसलों को भारी क्षति पहुँचती है। इन दशाओं में किसान फसल उत्पादन के प्रति निरन्तर आंशकित रहता है कि उसे अपेक्षित पैदावार मिलेगी या नहीं। ऐसे में मिश्रित फसलें उगाना किसान के लिये लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

मिश्रित फसल की अवधारणा हमारे देश के लिये कोई नवीन नहीं है। प्राचीन काल से मिश्रित खेती हमारी कृषि प्रणाली का एक अभिन्न अंग रहा है। हमारे पूर्वजों ने इसकी संकल्पना मौसम की विपरीत परिस्थियों में फसल सुरक्षा के दृष्टिकोण से की थी। सिन्धु घाटी की सभ्यता के प्रमुख स्थल कालीबंगा से प्राप्त जुताई की कूड़ों से पता चला है कि उस समय कई फसलों को एक साथ मिलाकर खेती की जाती है। मोहनजोदड़ों में गेहूँ, जौ, चना की फसलों की खेती एक साथ मिलाकर करने के प्रमाण मिले हैं।

परिभाषा –

''एक ही ऋतु में एक ही खेत में एक साथ दो या दो से अधिक फसलों को उगाना मिश्रित फसल कहलाती है।'' दो या दो से अधिक फसलें एक निश्चित दूरी पर पंक्ति में (अन्तःशस्य फसल

तालिका– 5.3.5 मिश्रित फसलोत्पादन एवं सह–फसली खेती में अन्तर

मिश्रित (Mixed Cropping)	फसलोत्पादन अन्तःशस्य (Inter Cropping)
1. मिश्रित फसलोत्पादन का मुख्य उद्देश्य मौसम की किन्ही भी विपरीत परिस्थितियों में (जैसे बाढ़, सूखा व पाले की स्थिति में) कम से कम एक फसल प्राप्त करना हैं।	1. सह–फसली खेती का मुख्य उद्देश्य मुख्य फसल की दो पंक्तियों के बीच की जगह का उपयोग करना है।
2. मिश्रित फसलोत्पादन में सभी फसलों को बराबरी का दर्जा एवं ध्यान दिया जाता है। कोई फसल प्रमुख अथवा गौण नहीं होती है।	2. इस विधि में मुख्य फसल पर अधिक ध्यान दिया जाता है।
3. लगभग सभी फसलें एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करती हैं।	3. यहाँ प्रमुख एवं गौण फसलों में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती है।
4. इसमें फसलों के पकने की अवधि लगभग बराबर होती है।	4. गौण फसल कम समय में पकने वाली होती है तथा इसको मुख्य फसल से काफी पहले काट ली जाती हैं।
5. फसलों को छिड़ककर बोते हैं अथवा बीज मिलाकर कतारों में बोते हैं लेकिन सभी फसलों की बुआई का समय एक ही होता है।	5. दोनों फसलें अलग–अलग कतारों में बोई जाती हैं। बुआई का समय एक भी हो सकता हैं अथवा मुख्य फसल को गौण फसल से पहले बोते हैं।

या सह फसली खेती) या बिना पंक्ति के (मिश्रित फसल) बोई जा सकती है।

मिश्रित फसल तथा अन्तःशस्य खेती में अन्तर तालिका–5.3.5 में दिया गया है।

प्रकार– मिश्रित फसलों के लिए सस्य मिश्रण निम्न प्रकार से किया जाता है:

1. **मिश्रित फसलें (Mixed Crops) –** इस सस्य मिश्रण में फसलों की बुआई व कटाई का समय एक सा रहता है। बुआई से पूर्व सभी बीजों को एक साथ मिलाकर अथवा पंक्तियों में बुआई कर देते हैं। उदाहरण – चना + सरसों, गेंहूँ + चना तथा मक्का + उड़द।
2. **अन्तःशस्य खेती –** इस विधि में दो या दो से अधिक फसलों की बुआई कतारों में की जाती है। इसमें मुख्य फसल (Base crop) की एक अथवा कई, इसी प्रकार सह–फसलों (Intercrop) की एक या ज्यादा कतारें लेना सह–पद्धतियाँ हैं, जो देश के विभिन्न भागों में अपनाई जा रही हैं। इन सबका उद्देश्य है– शुद्ध फसल की तुलना में सह–फसली पद्धति से अधिकतम उपज प्राप्त करना।

सफल अन्तःशस्य खेती के लिए मुख्य बातें:–

अन्तःशस्य खेती का मुख्य उद्देश्य प्रति इकाई क्षेत्र में अधिक उपज प्राप्त करना एवं उपलब्ध प्राप्त स्रोतों को प्रभावी तरीके से प्रयोग करना है। सफल अन्तःशस्य खेती के लिए कुछ मुख्य बातें निम्न हैं–

1. पोषक तत्वों की आवश्यकता अलग–अलग समय पर होनी चाहिए। मिश्रित फसलें परस्पर व्याप्त नहीं होनी चाहिए। जैसे– मक्का+उड़द/मूंग। मूंग की फसल की बुआई के 30–35 दिन बाद उपयुक्त पोषण चाहिए जबकि मक्का की फसल को 50 से 55 दिन बाद।
2. मिश्रित फसलों में प्रकाश के प्रति प्रतिस्पर्धा कम से कम होनी चाहिए।
3. मिश्रित फसलों में आपस में सामंजस्य होना चाहिए।
4. मिश्रित फसलों के पकने के समय में कम से कम 30 दिन का अंतर होना चाहिए।
5. मिश्रित फसलों में कार्बनडाइ–ऑक्साइड और जल के प्रति प्रतिस्पर्धा कम से कम होनी चाहिए।

अन्तःशस्य खेती के प्रकार:–

मुख्य प्रकारों का विवरण निम्न है–

(I) समान्तर सहफसली खेती (Parallel Intercropping) : दो फसलों को इस तरह साथ–साथ उगाना है, ताकि एक–दूसरे के संवर्धन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े तथा दोनों में शून्य प्रतिस्पर्धा (Zero competition) हो। साथ ही प्राकृतिक संसाधनों का समय और क्षेत्र के अनुरूप बेहतर ढंग से इस्तेमाल भी सुनिश्चित हो। इस पद्धति में ऐसी फसलें चुनी जाएँ कि जब तक मुख्य फसल पूर्ण बढ़वार पर आवे तब तक सह–फसल पककर कट जाए। उदाहरण के तौर पर कपास + उड़द/मक्का + उड़द, गन्ना + गेहूँ। इस विधि में एक समानान्तर फसल दूसरी फसल पर कोई स्पष्ट प्रतिस्पर्धात्मक प्रभाव डाले बिना पक सकती है। कुल मिलाकर ऐसा करने से समय व स्थान का सही सदुपयोग हो जाता है और अधिक पैदावार एवं लाभ मिलता है।

(ii) सहचर फसलें (Companion Crops) – इस अन्तःशस्य में ऐसी फसलों का चुनाव करते है। जिनकी उपज एकल फसल के समान ही प्राप्त होती है। उदाहरण– मक्का की दो पंक्तियों के बीच उड़द की दो पंक्तियाँ एवं गन्ना + आलू।

(iii) रक्षक फसलें (Guard Crops) – इस वर्ग में मुख्य फसल को खेत के मध्य में बो देते हैं। मुख्य फसल की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर 10–15 पंक्तियाँ गौण फसल की बो देते हैं। उदाहरण – गन्ने की फसल के चारों ओर सनई या सोयाबीन के चारो ओर मक्का की खेती करना।

(iv) सहायक अथवा वृद्धि कारक फसलें (Augmenting Crops) – इस सस्य मिश्रण में मुख्य फसल की उपज बढ़ाने के लिए अन्य गौण फसलें उसमें मिला दी जाती हैं तथा मिश्रण की कुल उपज, एकल फसलों की उपज से अधिक होती है। उदाहरण – बरसीम के साथ सरसों की बुआई करना। पहली कटाई के समय जब बरसीम छोटी होती है, सरसों की अच्छी वृद्धि हो चुकी होती है। चारे की अधिक मात्रा बरसीम की पहली कटाई में ही मिल जाती है।

वृद्धि कारक शस्य खेती मुख्य एवं गौण फसल की पौधों की संख्या के अनुसार दो प्रकार से की जा सकती है।

(अ) धनात्मक क्रम अन्तःशस्य (Additive Series Intercropping) : इसमें मुख्य फसल के प्रति इकाई क्षेत्र में पौधों की संख्या एकल फसल के समान ही रहती है तथा अन्तःशस्य फसल में पौधों की संख्या एकल फसल से कम रहती है। इसमें फसल ज्यामिति में बदलाव कर अन्तःफसल को समायोजित किया जाता है। जैसे गन्ने की 90 सेन्टीमीटर की दूरी पर बुआई की गई पंक्तियों के बीच आलू की एक पंक्ति लगाना। भारत में इस प्रकार की अन्तःशस्य खेती प्रचलित है।

(ब) प्रतिस्थापन क्रम अन्तःशस्य (Replacement Series Intercropping) : इस अन्तःशस्य में दोनों ही फसले मुख्य होती है और कोई फसल गौण फसल नहीं होती है। अतः एक फसल की पौध संख्या दूसरी अन्तःशस्य फसल की प्रतिस्थापन दर निर्भर करेगी। जैसे कि गेहूँ एवं सरसों की अन्तःशस्य खेती में गेहूँ की दस पंक्तियों के बाद सरसों की एक पंक्ति की बुआई करना।

(v) पट्टीदार सहफसली खेती (Strip Intercropping): पट्टी पर इंटरक्रॉपिंग (Intercropping on Strips) – फसलों की पट्टियों या कतारों में बुआई करते समय अलग–अलग, लेकिन निकटवर्ती खण्डों में भिन्न किस्मों की फसलों की बुआई की जाती है वास्तव में एक–जैसी फसल में भी ऐसे ही होता है, लेकिन ये खण्ड इतने पास होते हैं कि ये एक–दूसरी फसल को काफी प्रभावित कर सकते हैं यह व्यवहार उस स्थिति में अधिक उपयोग रहता है जहाँ ऊँचे कद की फसलों को हवा और छाया का रुख ध्यान में रखते हुये समकोण पर पट्टियों को बोया जाता है, उदाहरण के तौर पर चुकन्दर और सोयाबीन को छाया देने के लिए मक्का तथा टमाटर को छाया देने के लिए जई बोते है इस पद्धति में कम से कम एक फसल से तो अच्छे विकल्प की संभावना रहती है, जबकि एक जैसी (समान कद/ऊँचाई वाली) फसलों में स्थायी रूप से छाया रहा करती है।

(vi) अविराम अन्तःसस्य (Relay Intercropping) : रिले इंटरक्रॉपिंग (Relay intercropping) – इस पद्धति से वर्ष में कम से कम 4 फसलें ली जा सकती है। फसल बुआई के क्षेत्र में रिले दौड़ की तरह होड़ होती है जिसमें तेजी के साथ एक फसल के बाद दूसरी फसल उगाई जाती है अर्थात् पहली फसल की कटाई के तुरन्त बाद अथवा उस फसल के पकने के समय ही दूसरी फसलें बो देते हैं जैसे– बिहार, पूर्वी उ.प्र. एवं छत्तीसगढ़ क्षेत्र में धान पकने की खड़ी फसल में खेसारी की बुआई अथवा धान पकने की अवस्था पर चने की बुआई अथवा धान कटने के तुरंत बाद बरसीम की बुआई करना।

(vii) बहुस्तरीय या बहुमंजलीय अन्तःशस्य (Multi-tier or Multi-Storied Intercropping) : यह पद्धति प्राकृतिक रूप से उगने वाले पेड़–पौधों (वनों में) की तरह विभिन्न ऊँचाई वाली फसलों की तरह हैं, लेकिन इसमें फसलों को ऐसे व्यवस्थित करते हैं कि अनेक स्तरों का लाभ (हवा, प्रकाश, स्थान) का लिया जा सके, जैसे–नारियल के पूर्ण विकास में 4–7 वर्ष लगते हैं अतः नए नारियल के बगीचे अथवा पुराने नारियल के बाग में काली मिर्च, सुपारी (एरेकानट), लौंग, कहवा, अनन्नास आपस में अंतःवर्ती फसल पद्धति में लिया जाता है जिस पर अनुसंधान कार्य केन्द्रीय बागवानी फसल अनुसंधान संस्थान कासरगोड (केरल) में चल रहा है। नारियल के तने पर काली मिर्च के बेल 5–8 मीटर ऊँचाई तक चढ़ जाती है उसके नीचे कहवा और दालचीनी तथा सबसे नीचे अनन्नास लगाया जाता है। ताड़ अथवा सुपारी (एरेकानट) के पेड़ काफी ऊँचे निकल जाते हैं अतः इन्हें भी इस पद्धति में ले लिया जाता है। उड़ीसा में नारियल + केला + धान साथ–साथ बहु–मंजिली खेती के रूप में लेते हैं। विभिन्न प्रकार के शस्य मिश्रण के उदाहरण सारणी 5.3.6 में दिये जा रहे हैं।

सारणी 5.3.6 : विभिन्न प्रकार के सस्य मिश्रण

अदलहनी व दलहनी सस्य मिश्रण	अदलहनी फसलों का सस्य मिश्रण	असिंचित क्षेत्र के लिए सस्य मिश्रण
बाजरा + मूंग	गेहूँ + अलसी	बाजरा + मूंग
ज्वार + उड़द	गन्ना + गेहूँ	बाजरा + मोठ
बाजरा + मोठ	कपास + तिल	बाजरा + ग्वार
मक्का + सोयाबीन	जौं + सरसों	मोठ + तिल
ज्वार + चंवला	–	
मक्का + उड़द	–	गेहूँ + चना
गेहूँ + चना	–	गेहूँ + सरसों

मिश्रित फसल /अन्तःशस्य के सिद्धान्त (Principles of Mixed Cropping/ Intercropping)

मिश्रित फसल हेतु सस्य मिश्रण तैयार करते समय अग्रअंकित मुख्य सिद्धान्तों की पालना की जानी चाहिए–

1. मिश्रित फसल हेतु फसलों का चुनाव इस प्रकार करना चाहिए कि फसलें उस क्षेत्र की जलवायु, भूमि व सिंचाई आवश्यकता के अनुसार उपयुक्त हो।

2. अदलहनी फसलों के साथ दलहनी फसलों का मिश्रण किया जाना चाहिए। दलहनी फसल की जड़ों पर पाई जाने वाली ग्रन्थियों में वायु की नाइट्रोजन को भूमि में स्थिर करने वाले लाभदायक जीवाणु होते हैं। ये जीवाणु मृदा में नाइट्रोजन स्थिर करके मृदा में उर्वरा शक्ति को बढ़ाते हैं जिससे अदलहनी फसल से भी अधिक उपज प्राप्त होती है। जैसे – बाजरा + मूंग, बाजरा + मोठ, मक्का + उड़द।
3. सीधी बढ़ने वाली मुख्य फसलों के साथ, भूमि पर फैलने वाली फसलें बोयी जानी चाहिए। जैसे – मूंग, सोयाबीन, उड़द आदि भूमि पर अधिक फैलती हैं। गेहूँ, मक्का, ज्वार, जौ, सीधी बढ़ती हैं। फैलने वाली फसलें मृदा कटाव रोकने के साथ–साथ वाष्पीकरण द्वारा होने वाली जल हानि को भी रोकने में सहायक हैं। जैसे– ज्वार + चंवला, बाजरा + ग्वार।
4. एक ही प्रकार के कीट व रोगों की शरण देने वाली फसलों का चयन मिश्रित फसल के लिए नहीं करना चाहिए। जैसे – मक्का, बाजरा, ज्वार का तना छेदक तीनों फसलों को हानि पहुँचाता हैं। इस तरह का सस्य मिश्रण न करें।
5. गहरी जड़ वाली फसलों के साथ उथली जड़ वाली फसलें बोयी जानी चाहिए। इससे दोनों फसलें पोषक तत्व एवं नमी का अवशोषण मृदा की अलग–अलग गहराई से कर सकेंगी तथा दोनों फसलों में पोषक तत्वों के लिए प्रतियोगिता भी नहीं होगी। जैसे – मक्का + अरहर, मक्का + उड़द आदि।
6. मिश्रित फसल हेतु सस्य मिश्रण इस प्रकार का हो कि चुनी गई फसलों में प्रकाश, नमी व स्थान के लिए अधिक प्रतियोगिता न हो। जैसे– बाजरा + मोठ, चना + सरसों।
7. मिश्रित फसल हेतु मिश्रण में काम में ली जाने वाली फसलों की पोषक सम्बंधी आवश्यकतायें एक जैसी हों। जैसे – उड़द + तिल, मूंगफली + बाजरा, मक्का + कपास आदि।
8. हल्की मृदाओं (कम उर्वर मृदाओं) में दलहनी फसलों को सस्य मिश्रण में अवश्य स्थान देवें। राजस्थान के शुष्क मैदानी क्षेत्रों (बीकानेर, चुरू) में बाजरा के साथ मोठ या ग्वार का मिश्रण उपयुक्त है। साथ ही दक्षिण राजस्थान में मक्का के साथ उड़द का मिश्रण उपयुक्त है।

मिश्रित फसल का महत्व

1. **फसलों से अधिक पैदावार प्राप्ति–** अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि दलहनी व अनाज वाली दोनों फसलों को साथ मिलाकर बाने से दोनों फसलों से अधिक उपज प्राप्त होती है।
2. **प्रतिकूल मौसम, जलवायु दशाओं के विरूद्ध बीमा–** मौसम के प्रतिकूल प्रभाव से एक फसल क्षति ग्रस्त हो जाती है तो दूसरी फसल से कुछ उपज अवश्य मिल जायेगी। जैसे– गेहूँ + सरसों के मिश्रण में वर्षा के प्रभाव से सरसों की फसल को नुकसान होने पर कुछ गेहूँ की मिल जायेगी। इसी प्रकार सिंचाई जल की कमी होने पर गेहूँ की अपेक्षा सरसों की उपज अच्छी प्राप्त हो सकेगी।
3. **मृदा कटाव को रोकने में मदद–** सीधी बढ़ने वाली व फैल कर चलने वाली दोनों फसलें साथ–साथ बोने से मृदा कटाव में कमी आती है क्योंकि भूमि पर दोनों फसलें अधिकतम स्थान पर आवरण का कार्य करती है। वर्षा की बूंदो का सीधा प्रभाव मृदा पर नहीं पड़ता साथ ही पौधों की जड़ें मृदा को बांधकर भूसंरक्षण में सहायता करती हैं।
4. **खरपतवार नियंत्रण में सहायता–** दो या दो से अधिक फसलों का सस्य मिश्रण प्रयोग करने से मृदा वनस्पति से पूर्णत आच्छादित हो जाती हैं, इससे खरपतवारों को फैलने हेतु स्थान नहीं मिलता। मक्का + उड़द या ज्वार + चंवला बुआई करने पर भूमि वनस्पति से ढक जाती है तथा खरपतवार नियन्त्रण में सहायता मिलती है।
5. **कीट व रोग नियंत्रण में सहायता–** एक ही खेत में विभिन्न फसलें मिश्रित रूप से उगाने पर रोग व कीट का व्यापक प्रभाव किसी एक फसल पर होने की स्थिति में दूसरी फसलें बचाई जा सकती है। कपास + मोठ बुआई करने पर कपास में जड़ गलन रोग कम हुआ। चना + अलसी बुआई करने पर चने में उखटा में कमी देखी गई है। गेहूँ + चना या गेहूँ + सरसों बोने पर गेहूँ में रस्ट रोग के प्रभाव में कमी।
6. **सूर्य के प्रकाश का प्रभावी उपयोग–** मक्का, ज्वार, बाजरा आदि फसलें तीव्र प्रकाश में प्रकाश संश्लेषण द्वारा भोजन बनाने में सक्षम है, जबकि दलहनी फसलों को अपेक्षाकृत कम प्रकाश तीव्रता की आवश्यकता रहती है। मिश्रित फसलें बोने पर पूरा क्षेत्र वनस्पति से ढ़क जाता है। मक्का, ज्वार, बाजरा तीव्र प्रकाश का उपयोग कर लेते हैं इन्हीं फसलों की छाया से दलहनी फसलों को कम प्रकाश मिलने से इनमें किसी तरह की प्रतिस्पर्धा नहीं होगी तथा इस प्रकार दोनों तरह की फसलों से अधिक पैदावार प्राप्त होती है।
7. **भूमि का उचित उपयोग–** मिश्रित फसलें बोने से भूमि की बचत होती है। किसान जिन फसलों में पंक्ति से पंक्ति की दूरी अधिक होती है उन फसलों के मध्य फसल उगाकर भूमि का उचित उपयोग कर लेते है। जैसे – कपास + तिल, कपास + मूंग।

8. **कृषक की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति–** मिश्रित फसलें बोने से किसान को कम क्षेत्र से ही अनाज, दाल, तिलहन, मसाले वाली फसलों की उपज प्राप्त हो जाती है। इससे घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

9. **मृदा उर्वरता बनाये रखने में सहायक–** मिश्रित फसलें मृदा उर्वरता को बनाये रखने में सहायक हैं। मिश्रित फसल में इनकी जड़ों द्वारा विभिन्न गहराइयों से पोषक ग्रहण किये जाते है। साथ ही दलहनी फसलों को मिश्रण में स्थान देने पर मृदा में नाइट्रोजन स्थिरीकरण अधिक होता है। जिससे मृदा उर्वरा शक्ति बढ़ती है।

10. **पशुओं हेतु पौष्टिक चारे की प्राप्ति–** मिश्रित फसलों के चारे पशुओं के लिए अधिक पौष्टिक व स्वादिष्ट होते हैं जैसे – मक्का + लोबिया, बरसीम + सरसों, जई + मेथी।

मिश्रित फसलों से हानियाँ (Disadvantages of Mixed Cropping)

मिश्रित फसलें बोने से विभिन्न परिस्थितियों में कुछ हानियां भी होती है जो इस प्रकार है:–

1. मिश्रित फसलें बोने से खेत में निराई–गुडाई हेतु कृषि यंत्रों के प्रयोग में कठिनाई आती है।
2. मिश्रित फसलों में खरपतवारों के रासायनिक नियंत्रण करने में भी कठिनाई होती है। जैसे मक्का + उड़द में खरपतवारनाशी रसायन एट्राजिन प्रयोग करने से उड़द की फसल नष्ट हो जायेगी। गेहूँ + चना के खेत में 2,4 –डी खरपतवार नाशी का प्रयोग करने पर चने की फसल को हानि होगी।
3. मिश्रित फसलों के पकने का समय अलग–अलग होने पर फसल काटने में कठिनाई होती है। मिश्रित फसलों में मशीनों से कटाई कर पाना भी असंभव है।
4. मिश्रित फसल में कीट का प्रकोप होने पर उनकी रोकथाम के लिए कीटनाशी या कवकनाशी रसायनों का प्रयोग मे कठिनाई आती है।
5. मिश्रित फसलों द्वारा शुद्ध बीज उत्पादन कर पाना असंभव है।
6. फसलों के गुणों मे कमी आती है, कभी–कभी फसलों की उपज भी कम हो जाती है। फसल उत्पादन के गुणों में कमी आने से उत्पादन का बाजार मूल्य भी कम प्राप्त होता है।
7. कई बार फसलों में पोषक तत्व, प्रकाश, जल आदि हेतु प्रतिस्पर्धा बढ़ने से फसलों की उपज में कमी आ जाती है।

5.4 भू–परिष्करण : उद्देश्य, परिभाषा एवं प्रकार

खेती में भू–परिष्करण क्रियाओं का विशेष महत्व हैं। खेती में प्रथम कदम भू–परिष्करण का ही होता है जिसमें मिट्टी की दशाओं को बीज एवं पौध वृद्धि के अनुकूल बनाया जाता है। मृदा को तैयार करके भूमि में फसलों की वृद्धि के लिए अनुकूल भौतिक परिस्थितियाँ पैदा करने की क्रिया को भू–परिष्करण कहते हैं।

भूमि को खोदने तथा भुरभुरी करने का कार्य शुरू में मानव ने पत्थर व हड्डियों के औजार बनाकर शुरू किया था। जेथ्रोटूल ने सन् 1731 में भू– परिष्करण का वैज्ञानिक आधार दिया। उसकी यह अवधारण थी कि पौधे मिट्टी के बारीक कणों का अवशोषण करके बड़े होते हैं, इसलिये किसी प्रकार मिट्टी के कणों को बारीक बनाया जाये। उन्नीसवीं सदी में प्रीस्टले तथा लीबेग ने बताया कि भू–परिष्करण से मृदा में वायु संचार बढ़ता है। बाद में कई वैज्ञानिकों ने भू–परिष्करण द्वारा खरपतवारों को नष्ट करना भी बताया है।

18 वीं शताब्दी में मोल्ड बोर्ड हल, स्टील हल तथा बैल एवं घोड़ा चलित हल का विकास तथा डिस्क हैरों एवं कल्टीवेटर के विकास से भू–परिष्करण क्रियाओं का वैज्ञानिक महत्व प्रतिपादित किया। मृदा की भौतिक दशा को उसकी वपन योग्यता कहते हैं। मृदा की वपन योग्यता, मृदा समुच्चयन एवं उनका स्थायित्व, नमी, वायु संचार, अन्तःस्पन्दन, जल निकास, जल ग्रहण करने की क्षमता पर निर्भर करती है। भू–परिष्करण का मुख्य उद्देश्य मृदा की भौतिक दशा में सुधार लाना व उसकी वपन योग्यता (soil tilth) को बढ़ाना है। भू–परिष्करण द्वारा मिट्टी के ढेलों के आकार, मृदा में जैविक पदार्थ तथा पानी एवं वायु की मात्रा एवं वितरण तथा मृदा कणों का घनत्व एवं पेंकिग को प्रभावित कर खेत की उपयुक्त भौतिक दशा तैयार करते है।

उद्देश्य

भू–परिष्करण का मुख्य उद्देश्य है कि खेत या बीज क्यारी ऐसा तैयार हो कि बीज का अंकुरण, पौधों की वृद्धि तथा विकास ठीक से हो सके, खरपतवार नष्ट हो जाएँ तथा के पौधों के बढ़ने तथा फूलने–फलने में कोई बाधा न पहुँचे। भू–परिष्करण के उद्देश्यों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है।

1. **खरपतवार नष्ट करना –** अनेक तरह की आवांच्छित वनस्पति मृदा सतह पर रहने से नमी पोषक तत्वों की हानि होती है। कर्षण विधियों से खरपतवारों को नष्ट कर फसल को इनकी प्रतिबन्धता से बचाया जाता है।
2. **मृदा को ऊपर नीचे करना –** खेत में नीचे की मृदा ऊपर सतह पर ऊपर की नीचे चली जाती है, जिससे पौधों को अधिक पोषक तत्व मिलते हैं। गर्मी की जुताई करते समय मिट्टी पलटने वाले हल से ये क्रिया भारी भूमि में तीन वर्ष में एक बार करनी चाहिये।

3. **अव मृदा की कठोर सतह को तोड़ना** – काफी कर्षण कार्य करने से मृदा के नीचे कठोर सतह का निर्माण हो जाता हैं, जिससें पानी व हवा का आवागमन रूक जाता है। इस प्रकार की सख्त सतह को भू–परिष्करण के विशेष यन्त्रों द्वारा तोड़ा जाता है।
4. भू–परिष्करण से सतह पर पिसकर फसल के अवशेष मृदा के अन्दर दब कर सड़ने के बाद पोषक तत्वों में बदल जाते हैं। जिससे मृदा की उर्वरा शक्ति बढ़ती है।
5. **खड़ी फसलों में अन्तरशस्य क्रियाएँ करना** – खड़ी इसमें फसलों सिंचाई के बाद सतह पर पपड़ी व दरारों को तोड़ना, खरपतवार हटाना, नत्रजन को मृदा में मिलाना तथा मृदा की सतह पर पलटवार आदि करना आते हैं।
6. मृदा संरक्षण खेत में जल निकास की व्यवस्था डोलियों एवं नाली का निर्माण एवं पलवार तैयार कर मृदा अपरदन की गति को कम करना।
7. **कीट–पंतगो का नष्ट होना** – कर्षण क्रियाओं से मृदा के अन्दर छुपे हुये कीड़े मकोड़े सतह पर आ जाते है व परजीवी पशु–पक्षी इनका भक्षण कर लेते हैं तथा कुछ बाहर के वातावरण से नष्ट हो जाते हैं।
8. **मृदा में सूर्य का प्रकाश पहुँचाना** – मृदा के भुरभुरी होने पर हवा के साथ सूर्य का प्रकाश भी अन्दर घुस कर भूमि को गर्म करता है तथा लाभकारी सूक्ष्म जीवों को शक्ति व अवांछित जीवों को हानि पहुँचाता है।
9. **भूमि आकृति तैयार करना** – भूमि की सतह की आकृति को बदलकर मेड़ एवं कूंड बनाना, ऊँची उठी क्यारी तैयार करना सिंचाई एवं जल निकास की नालियाँ एवं डोलियाँ बनाने के कार्य फसल को उपयुक्त भौतिक दशा प्रदान के लिये किए जाते हैं।
10. पानी व हवा की उपयुक्त मात्रा होने से बहुत सी रासायनिक व जीव विद्या सम्बन्धी क्रियाएँ समान रूप से होती रहती है, जिससे जैवांश पदार्थ सड़कर पोषक तत्वों में बदल जाते हैं। वायु का लगातार भूमि में जाना व भूमि से गैसों का हवा में मिलना भी आवश्यक है। इससे वायुमण्डलीय ऑक्सीजन (O_2) मृदा में मिलती है व मृदा की कार्बन डाइ ऑक्साइड वायुमण्डल में आती है। पौधों की जड़ों के लिये ऑक्सीजन का लगातार बराबर मात्रा में मिलना आवश्यक है, अन्यता अधिक (CO_2) होने से जड़ो की श्वसन क्रिया में बाधा पहुँचेगी। जैवांश पदार्थो के सड़ने से भी अधिक (CO_2) इकट्ठी होती है व इसकी मात्रा 0.2 से 0.3 प्रतिशत तक हो जाती है। अतः इसकी मात्रा सीमित रखने के लिये लगातार वायु संचार होना आवश्यक है।

भू–परिष्करण के प्रकार

कर्षण की क्रियाएँ सभी स्थितियों में एक समान नहीं हो सकती। कर्षण क्रियाएँ पिछले मौसम में पैदा की गई फसल आगामी मौसम में पैदा की जाने वाली फसल, खरपतवारों की स्थिति, तथा मिट्टी के प्रकार एवं जलवायु पर निर्भर करती है।

मिट्टी की भौतिक दशा में बदलाव की मात्रा, प्रकार तथा क्रमिकों क्रियाओं के आधार पर खेत तैयार करने या क्यारी निर्माण के आधार पर परम्परागत रूप से भू–परिष्करण को दो भागों मे बांटा गया है।

परम्परागत रूप से कर्षण क्रिया सामान्यतः दो प्रकार की होती है :

(1) प्रारम्भिक भू–परिष्करण

(2) द्वितीयक भू–परिष्करण

1. **प्रारम्भिक भू–परिष्करण** – बीज बोने से पहले भूमि पर की जाने वाली क्रियाओं को प्रारम्भिक भू–परिष्करण कहते हैं। इन क्रियाओं को समय पर नही करें तो फसल उगाने के लिये मृदा की वपन योग्यता अच्छी नहीं रहेगी। प्रारम्भिक भू–परिष्करण में क्रमानुसार बहुत सी क्रियायें आती है, जैसे खेत की जुताई करना, ढेले तोड़ना, समतल करना, हैरो चलाना, खाद व उर्वरक मिलाने के लिये कल्टीवेटर चलाना संघनन के लिये पाटा चलाना तथा क्यारियाँ बनाना शामिल है। इसमें भारी कर्षण यन्त्रों का उपयोग किया जाता है।
2. **द्वितीयक भू–परिष्करण** – खेत में बीज की बुआई के बाद जो भी अन्तरशस्य क्रियायें की जाती है वे द्वितीयक भू–परिष्करण में आती हैं। अन्तरशस्य क्रियाओं में अंकुरण कम होने पर पौध रोपण करना, अधिक पौधों की संख्या होने पर पौध कम करना, खरपतवार निकालना, पलवार बनाना, उर्वरकों को मिलाना, मिट्टी चढ़ाना, दवाईयों का छिड़काव करना, फसलों को गिरने से बचाना, जड़ों की वृद्धि के लिये वायु संचार बढ़ाना, व अन्य महत्वपूर्ण शस्य क्रियाएँ शामिल हैं। द्वितीयक भू–परिष्करण में मुख्य रूप से हल्के कर्षण यन्त्रों का प्रयोग होता है।

आधुनिक भू–परिष्करण

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह माना जाता है कि कृषकों द्वारा अपनाया जाने वाला परम्परागत भू–परिष्करण टिकाऊ कृषि की कसौटियों पर खरा नहीं उतरता। इसके निम्नलिखित कारण हैं–

1. आधुनिक कृषि यन्त्रों जैसे कि ट्रैक्टर आदि से बार–बार एक ही गहराई पर जुताई करने से मृदा के अधों सतह में कड़ी पपड़ी–सी बन जाती है जिससे मृदा में जल का अन्तःश्रवण कम होता है तथा भूक्षरण की सम्भावना बढ़

जाती है।

2. अति भू–परिष्करण के कारण ज्यादा जैव ईधन (पेट्रोल, डीजल) से हानिकारक गैसे निकलती रहती हैं जिससे हमारा पर्यावरण दिनों–दिन प्रदूषित होता जा रहा है।
3. अति भू–परिष्करण के कारण मृदा में विद्यमान कार्बनिक पदार्थ जल्दी सड़–गल जाते है, जिससे मृदा में ह्यूमस का स्तर गिर जाता है तथा मृदा की पोषक तत्वों एवं जल धारण करने की क्षमता कम हो जाती है।
4. अति कर्षित भूमियों में मृदाक्षरण की सम्भावना और ज्यादा बढ़ जाती है।
5. अति–भूपरिष्करण में प्रर्याप्त समय, श्रम एवं धन खर्च होता है।
6. अति–भूपरिष्करण के कारण प्रक्षेत्र की सस्य सघनता कम हो जाती है।
7. अति–भूपरिष्करण के कारण खेती की लागत बढ़ जाती है।

टिकाऊ उत्पादन के लिए परम्परागत भू–परिष्करण की सभी क्रियाएँ आवश्यक नहीं हैं। इस परिकल्पना के सत्यापन के लिये घटती दर से भू–परिष्करण सम्बन्धी प्रयोग किये गये तथा उनके बिना उपज में क्षति के भू–परिष्करण की कुछ क्रियाओं को कुछ विशेष तकनीकों को अपनाकर कम कर सकते हैं, जिनको आधुनिक भू–परिष्करण के नाम से जाना जाता है।

''आधुनिक भू–परिष्करण का तात्पर्य उन भू–परिष्करण क्रियाओं से है जिनका क्रियान्वयन वर्तमान में विद्यमान भू–परिष्करण से उत्पन्न विकारों को दूर करने के लिए किया गया है।'' बढ़ती जनसंख्या की खाद्यान्न आपूर्ति के लिए फसलों की उत्पादकता बढ़ाने के साथ–साथ प्राकृतिक संसाधनों की गुणवत्ता बनाए रखना आवश्यक है। इस दिशा में भू–परिष्करण द्वारा फसल प्रबन्धन एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। 1960 के दशक में खरपतवार नासियों के फसल प्रबन्धन में उपयोग से सघन या परम्परागत भू–परिष्करण का सिद्धान्त अब न्यूनतम या जीरो भू–परिष्करण का रूप ले चुका है। इसके तहत् कम किया भू–परिष्करण एवं संरक्षण भू–परिष्करण, शून्य भू–परिष्करण को शामिल किया जाता है।

कम किया हुआ भू–परिष्करण – आधुनिक भू–परिष्करण की वह प्रणाली जिसमें प्राथमिक भू–परिष्करण की क्रियाओं का द्वितीयक भू–परिष्करण विधियों के तालमेल से किया जाता है। जिससे कि भू–परिष्करण की परम्परागत रूप से की जाने वाली क्रियाओं की संख्या कम हो जायें।

न्यूनतम भू–परिष्करण – आधुनिक भू–परिष्करण की वह प्रणाली जिसमें भू–परिष्करण की संख्या को उसी हद तक कम किया जाता है जिससे कि फसल की न्यूनतम भू–परिष्करण आवश्यकता पूरी हो जाये तथा उपज में कोई क्षति न आये न्यूनतम भू–परिष्करण कहलाता है। इसी प्रकार कम किया हुआ भू–परिष्करण के तहत् न्यूनतम भू–परिष्करण का (Minimum tillage) प्रतिपादन किया गया है।

शून्य भू–परिष्करण – भू–परिष्करण की वह प्रणाली जिसमें फसल की बुआई बिना क्यारी या खेत की तैयारी से सीधे ही मिट्टी में उचित गहराई पर पूर्व फसल के अवशेषों के बीच कर दी जाती है शून्य भू–परिष्करण कहलाता है।

संरक्षण भू–परिष्करण – वह भू–परिष्करण जो किसानों द्वारा कई वर्षों से परम्परा के रूप में फसलोत्पादन के लिए किया जा रहा है। इसे स्वच्छ भू–परिष्करण भी कहते है। इसमें प्रारम्भिक एवं द्वितीयक भू–परिष्करण क्रियाएँ शामिल है। इस प्रकार का विशेष उद्देश्यीय भू–परिष्करण जिसमें कर्षण क्रियाओं की तीव्रता परम्परागत भू–परिष्करण से कम होती है। इसमें फसल अवशेषों को भूमि में मिलाने या हटाने के बजाए भूमि की सतह पर ही बनाए रखते है तथा मृदा एवं जल संरक्षण का विशेष ध्यान रखा जाता है।

अमेरिका के The Conservation Technology Information Center (CTIC, 1993) के अनुसार संरक्षण भू–परिष्करण वह कर्षण एवं बुआई की पद्धति है जिसमें बुआई के पश्चात् कुल भूमि का 30 प्रतिशत भाग हमेशा पूर्व फसल अवशेषों से घिरा रहता है जिससे जल एवं वायु द्वारा मृदा अपरदन कम हो। इसी प्रकार जहाँ वायु अपरदन की समस्या होती है वहाँ कम से कम 1120 किलोग्राम/हेक्टेयर की दर से वायु अपरदन के क्रान्तिक समय भूमि पूर्व अवशेषों से घिरी हो।

संरक्षण भू–परिष्करण को निम्न चार उप भागों मे बाँटा गया है।

1. शून्य भू–परिष्करण (Zero Tillage, No Till, Slot Planting, Sod Planting, Direct drilling)
2. कम किया हुआ भू–परिष्करण (Reduced Tillage)
3. ठूंठ पलटवार भू–परिष्करण (Stubble Mulch Tillage)
4. डोली भू–परिष्करण (Ridge Tillage)

विशेष भू–परिष्करण

1. **ग्रीष्मकालीन कर्षण :** रबी की फसलों के कटने के बाद ग्रीष्म ऋतु में खेत मिट्टी पलटने वाले हल से जोत दिए जाते हैं। जुताई के बाद खेत को खुला छोड़ दिया जाता है। दोमट या चिकनी मिट्टी में ग्रीष्मकालीन जुताई लाभदायक होती है, क्योंकि इससे नमी धारण क्षमता बढ़ने के साथ–साथ मिट्टी में वायु का संचार सुचारू रूप से हो जाता है। मिट्टी की निचली सतह पर सूर्य की रोशनी, धूप, वर्षा का पानी तथा वायु का प्रवेश हो जाता है। ग्रीष्मकालीन गहरी जुताई करने से वर्षा जल का संरक्षण भूमि में अधिक होता है तथा भूमि कटाव संबंधी समस्या भी नियंत्रित होती है। हल्की तथा बलुई मिट्टी में ग्रीष्मकालीन जुताई लाभप्रद नहीं होती है। ऐसी जुताई से मृदा

अपरदन के साथ–साथ जल की हानि भी हो सकती है।

2. **गीला भू–परिष्करण :** यह कर्षण जलीय या अर्द्ध जलीय दशाओं में किया जाता है। जहाँ धान के खेतों में मिट्टी चिकनी या दोमट होती है, वहाँ लेव लगाने का काम किया जाता है। ऐसा करने से मिट्टी मुलायम हो जाती है। पोषक तत्वों, विशेषकर नाइट्रोजन का निक्षालन नहीं हो पाता है। नाइट्रोजन अमोनिया के रूप में मृदा कोलाइडों के साथ बंधी रह जाती है। इसके अतिरिक्त फास्फोरस, पोटैशियम तथा लोहा अधिक उपलब्ध स्थिति में आ जाते हैं। घास–पात मिट्टी में गल जाते हैं, परन्तु इस प्रकार की क्रिया सभी प्रकार की मृदाओं विशेषकर बहुत हलकी मृदा में नहीं की जा सकती है।

3. **मिट्टी दबाव (Soil Compaction) :** हल्की एवं बलुई मिट्टियों में मृदा कण बड़े आकार के होने के कारण जल धारण क्षमता कम होती है। इन मिट्टियों की मृदा दबाव क्रिया से घनत्व में वृद्धि कर मिट्टी को अधिक घनी बना दिया जाता है। इसके लिए ट्रेक्टर चलित रोलर का उपयोग किया जाता है।

4. **बुआई के लिए खेत की तैयारी या क्यारी बनाना :** खेत को आमतौर पर जुताई करके ढेलों को चूर कर, जमीन को समतल और ठोस बनाकर तथा हैरो चलाकर तैयार किया जाता है। जुताई की गहराई के अनुसार जुताई हल्की (5–6 सेमी.), मध्यम गहरी (15–20 सेमी.) तथा गहरी (25–30 सेमी.) हो सकती है।

जमीन की जुताई से मिट्टी प्रायः ढेलेदार, ऊँची–नीची तथा ढीली पड़ जाती है। मिट्टी ऐसी अवस्था में नहीं होती कि उस समय बीज बोया जाए। ऐसी स्थिति में हल के अलावा अन्य कर्षण यंत्रों का प्रयोग कर मिट्टी को बुआई योग्य बनाया जाता है। तात्पर्य यह है कि जुताई के बाद अच्छा खेत तैयार करना पड़ता है जो नीचे ठोस हो और ऊपर भुरभुरी बारीक मिट्टी हो। ऐसे खेत में पानी का प्रवेश सुगमतापूर्वक होता है।

भू–परिष्करण के यन्त्र

1. **देशी हल–** देशी हल भारत में प्राचीनकाल से प्रयोग मे लाया जा रहा है। इसका आकार विभिन्न प्रान्तों में बैलों की कद, काठी पर निर्भर करता है। यह जुताई, गुड़ाई, बुआई आदि कार्य कर सकता है। देशी हल से औसतन आठ घन्टे में 0.3 हेक्टेयर खेत जोता जा सकता है। देशी हल से जुताई करते समय दो कूड़ो के बीच में बिना जुता स्थान रह जाता है, क्योकि इसके कूड़ो का आकार V जैसा होता है।

2. **मिट्टी पलटने वाले हल–** ये हल मिट्टी को काट कर नीचे से ऊपर व ऊपर से नीचे कर देते है। इनको ग्रीष्म–ऋतु की जुताई, खेतो में मेड़ बनाना, गन्ने की नाली बनाना इत्यादि कार्यो के लिए प्रयोग में लाया जाता है। आठ घन्टे में इनसे 0.4 हेक्टेयर भूमि को जोता जा सकता है। इनका कूड़ L आकार का होता हैं। मिट्टी पलटने वाले हल कई प्रकार के होते है, जैसे मोल्ड बोर्ड हल, डिस्क हल, मेस्टन हल, पंजाब हल, शाबास हल, विक्ट्री हल आदि।

3. **हैरो –** जुताई के बाद मृदा को बीज बोने योग्य बनाने के लिए उचित योग्यता की आवश्यकता होती है। इसके लिए जुती हुई जमीन को खुर्द–बुर्द करना, ढेलों को तोड़ना पौधों के अवशेषों को मिट्टी में दबाना या हटाना, खरपतवारों को नष्ट करना तथा मृदा को समतल और सघन बनाना। ये सभी कार्य हैरो द्वारा किए जाते हैं। इसको जुताई से पहले, भूमि को समतल करने, खरपतवारों को नियन्त्रित करने व नमी को संरक्षण के काम भी लाया जा सकता है। अलग–अलग क्षेत्रों में मृदा की दशा व जलवायु के आधार पर भिन्न–भिन्न प्रकार के हैरो प्रयोग में लाये जाते हैं। जैसे – डिस्क हैरो, स्पाइकटूथ हैरो, स्प्रिंग हैरो, नाइफ हैरो, ब्लैड हैरो, रेक, ढेला तोड़क, पलवेराइजर व रोलर आदि।

4. **कल्टीवेटर–** बीज बोने के बाद की क्रियाओं को कल्टीवेटर द्वारा किया जाता है। इसमें मृदा को भुरभुरी बनाना, सतह पर बनी पपड़ी को तोड़ना, खरपतवारों को निकालना, पौधों के अधिक होने पर उनकी संख्या कम करना मिट्टी चढ़ाना, खाद एवं उर्वरकों को मिलना तथा जमीन के अन्दर वाली फसलों की बढ़वार के लिए मृदा की उचित भौतिक दशा बनाये रखना आदि।

कल्टीवेटर कई प्रकार के होते है जैसे – डकफुट टाइन, डिस्क कल्टीवेटर आदि। इनके अलावा अन्य यन्त्र भी भू–परिष्करण में मदद करते हैं जैसे – खुरपी, फावड़ा, कुदाली, पहिये वाला हो, इत्यादि।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में जहाँ वाष्पीकरण की क्षमता वर्षा, ओस, बर्फ से प्राप्त जल की मात्रा से अधिक हो, जहाँ सिंचाई की सुविधा उपलब्ध न हो, में नमी संरक्षण व समुचित सस्य क्रियायें अपना कर फसल उत्पादन करना 'शुष्क खेती' कहलाता है।
2. असिंचित खेती का तात्पर्य बिना सिंचाई के फसलोत्पादन से है, यह प्रायः आर्द्र व अर्द्ध–आर्द्र जलवायु क्षेत्रों में की जाती है। इन क्षेत्रों में वर्षा अधिक व वाष्पीकरण कम होता है।
3. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली ने राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान परियोजना के लिए राजस्थान को 10 कृषि जलवायवीय खंडों में विभक्त किया है।
4. राजस्थान के परिपेक्ष्य में शुष्क कृषि को यहाँ की जलवायु, मृदा व फसल प्रबंध संबंधी परिस्थितियों के कारण अपनाया जाना चाहिए।
5. सस्यावर्तन में उथली जड़ वाली फसलों के बाद गहरी जड़ वाली, फलीदार के बाद अफलीदार, अधिक खाद के बाद कम खाद चाहने वाली, अधिक जलमाँग वाली फसलों के बाद कम जलमाँग वाली, मृदा क्षरण को प्रोत्साहन देने वाली फसलों के बाद मृदा क्षरण को रोकने वाली फसलें बोनी चाहिए।
6. फसल चक्र किसान की घरेलू आवश्यकताओं एवं किसान से पास उपलब्ध साधनों से पूरे–पूरे उपयोग को ध्यान में रखकर बनाना चाहिए।
7. एक ही ऋतु में एक ही खेत में एक साथ दो या दो से अधिक फसलों को उगाना मिश्रित फसल कहलाती है।
8. मिश्रित फसल हेतु दलहनी + अदलहनी, सीधी बढ़ने वाली + फैलने वाली, गहरी जड़ वाली + उथली जड़ वाली फसलों की बुआई करनी चाहिए।
9. धनात्मक क्रम अन्तःशस्य में मुख्य फसल के प्रति इकाई क्षेत्र में पौधों की संख्या एकल फसल के समान ही रहती है।
10. समान कीट व रोगों को आरक्षण देने वाली फसलें एक साथ नहीं बोनी चाहिए।
11. मिश्रित फसलें बोने से अनेक लाभ हैं जैसे – मृदा उर्वरता में वृद्धि, फसल उत्पादन में वृद्धि एवं कीट रोग, खरपतवार नियंत्रण में सहायता, प्रतिकूल मौसम दशाओं में भी उपज मिलना, किसान की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति तथा पशुओं को स्वादिष्ट चारे की प्राप्ति होती हैं।
12. खेती में प्रथम कदम भू–परिष्करण का ही होता है जिसमें मिट्टी की दशाओं को बीज एवं पौध वृद्धि के अनुकूल बनाया जाता है।
13. भू–परिष्करण का मुख्य उद्देश्य मृदा की भौतिक दशा में सुधार लाना व उसकी वपन योग्यता (soil tilth) को बढ़ाना है।
14. बीज बोने से पहले भूमि पर की जाने वाली क्रियाओं को प्रारम्भिक भू–परिष्करण कहते हैं।
15. आधुनिक कृषि यन्त्रों जैसे कि ट्रैक्टर आदि से बार–बार एक ही गहराई पर जुताई करने से मृदा के अधों सतह में कड़ी पपड़ी–सी बन जाती हैं।
16. वह भू–परिष्करण जो किसानों द्वारा कई वर्षों से परम्परा के रूप में फसलोत्पादन के लिए किया जा रहा है। इसे स्वच्छ भू–परिष्करण भी कहते है।
17. संरक्षण भू–परिष्करण वह कर्षण एवं बुआई की पद्धति है जिसमें बुआई के पश्चात् कुल भूमि का 30 प्रतिशत भाग हमेशा पूर्व फसल अवशषों से घिरा रहता है जिससे जल एवं वायु द्वारा मृदा अपरदन कम हो।
18. जुताई की गहराई के अनुसार जुताई हल्की (5–6 सेमी.), मध्यम गहरी (15–20 सेमी.) तथा गहरी (25–30 सेमी) हो सकती है।
19. ग्रीष्मकालीन गहरी जुताई करने से वर्षा जल का संरक्षण भूमि में अधिक होता है तथा भूमि कटाव संबंधी समस्या भी नियंत्रित होती है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. हमारे देश में कुल शुद्ध कृषि कितना प्रतिशत क्षेत्र वर्षा पर आधारित है।
   (अ) 48 (ब) 58
   (स) 40 (द) 60
2. मृदा में नत्रजन स्थिरीकरण में सहायक फसल है।
   (अ) गेहूँ (ब) उड़द
   (स) मक्का (द) गन्ना
3. भू–परिष्करण का मुख्य उद्देश्य है।
   (अ) मृदा की भौतिक दशा सुधारना
   (ब) मिट्टी की जल धारण क्षमता बढ़ाना
   (स) मिट्टी जैव–अवशेषों को बढ़ाना
   (द) खेत में वायु संचार बढ़ाना
4. सामान्यतया / प्राथमिक भू–परिष्करण किया जाता है।
   (अ) बीज बुआई से पहले
   (ब) बीज अंकुरण के बाद
   (स) उपयुक्त नमी होने पर
   (द) कटाई के पश्चात्

5. गन्ने के खेत के चारों ओर सनई की फसल की कुछ पंक्तियाँ बोना कहलाता है–
(अ) मिश्रित फसलें (ब)रक्षक फसल
(स) सहचर फसलें (द) सहायक फसलें

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

6. शुष्क खेती के लिये बाजरा की दो किस्मों के नाम लिखिए।
7. शुष्क कृषि बीज दर सामान्य से कितने प्रतिशत अधिक रखी जाती है
8. कोई दो एक वर्षीय फसल चक्र लिखें।
9. कोई दो मृदा संरक्षण में सहायक फसलों के नाम लिखें।
10. भू–परिष्करण किसे कहते हैं?
11. भू–परिष्करण के प्रकार बताइये।
12. गहरी जुताई भूमि में किस गहराई तक की जाती है?
13. अनाज वाली व दलहनी फसलों के सस्य मिश्रण के दो उदाहरण दीजिए।
14. मृदा संरक्षण में सहायक दो फसलों का नाम लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

15. शुष्क कृषि में नमी संरक्षण के सिद्धान्त लिखिए।
16. फसल चक्र की परिभाषा बताइये।
17. फसल चक्र के कोई तीन लाभ बताइये।
18. मृदा वपन योग्यता किसे कहते हैं?
19. न्यूनतम भू–परिष्करण क्यों आवश्यक है?
20. संरक्षण भू–परिष्करण की परिभाषा लिखिए।
21. प्रतिस्थापन क्रम अन्तःशस्य फसल से क्या अभिप्राय है?
22. मिश्रित सस्य उत्पादन प्रतिकूल जलवायु दशा के विरूद्ध एक प्रकार का बीमा है। इसे उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
23. मिश्रित फसल एवं अन्तःशस्य खेती में अन्तर लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

24. शुष्क कृषि में फसल प्रबन्धन के सिद्धान्तों का सविस्तार वर्णन कीजिए।
25. फसल चक्र से क्या अभिप्राय है? इसके सिद्धान्तों को विस्तार से समझाइये।
26. भू–परिष्करण के मुख्य प्रकारों का वर्णन करिए।
27. आधुनिक भू–परिष्करण पर प्रकाश डालिए।
28. मिश्रित फसल (Mixed Cropping) से क्या अभिप्राय है? इसके सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला

1. (ब), 2. (ब), 3. (अ), 4. (अ) 5. (ब)

अध्याय–6
फसलोत्पादन (Crop Production)

6.1 अनाज वाली फसलें (Cereal Crops)
धान (Paddy)
वानस्पतिक नाम –ओराइजा सेटाइवा (*Oryja sativa* L.)
कुल – पोएसी (Poaceae)

महत्त्व (Importance) : धान भारत की खाधान्न फसलों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। इसके चावल में स्टार्च प्रचुर मात्रा में पाया जाता है जिसका कपड़ा उद्योग में अधिक प्रयोग होता हैं। इसमें कार्बोहाइड्रेट 77–79 प्रतिशत होता हैं। धान के पुआल का उपयोग कॉच एंव अन्य टूटने वाले सामान की पैकिंग करने में होता हैं। भारत में वैदिक काल से ही विभिन्न धार्मिक उत्सवों, पर्वों व कार्यों में चावल का प्रयोग होता आया हैं। धान की उत्पति के स्थान के बारे में भिन्न–भिन्न मत हैं कोई चीन, कोई भारत, कोई दक्षिण–पूर्वी एशिया मानते हैं।

राजस्थान में धान की खेती मुख्यतः कोटा, उदयपुर खण्ड तथा श्रीगंगानगर, हनुमानगढ जिलों में की जाती हैं।

जलवायु (Climate) : धान की फसल के लिए उष्ण तथा नम जलवायु की आवश्यकता होती है। धान की फसल 100 सेमी. वर्षा वाले क्षेत्रों से लेकर 200 सेमी. वर्षा वाले क्षेत्रों में आसानी से की जा सकती है। फसल की अच्छी बढ़वार के लिए 25° से 30° सेल्सियस और पकने के लिए 25° से 30° सेल्सियस तापमान अनुकूल रहता हैं।

मृदा (Soil) : धान की खेती के लिए अच्छी उर्वरता वाली समतल, अच्छे जल धारण क्षमता वाली मटियार, चिकनी मटियार दोमट, दोमट मृदाएँ उपयुक्त रहती हैं। काली मिट्टी धान के लिए सर्वाधिक उपयुक्त रहती हैं।

खेती की तैयारी (Field preparation) : धान की फसल के लिए खेत की तैयारी प्रायः दो प्रकार से की जाती है –

1. **खेत में सीधी बुआई के लिए–** धान की फसल के लिए खेत की एक जुताई मिट्ठी पलटने वाले हल से करके दो तीन बार हैरो/कल्टीवेटर या देशी हल से करें। बुआई से 15 दिन पूर्व सिंचाई कर दे ताकि सिंचाई के 5–7 दिन बाद खरपतवार उग जावें तब 2–3 बार हैरो चलाकर पाटा लगा कर भूमि समतल कर लेते हैं।
2. **रोपाई द्वारा–** इस प्रकार की खेती उन क्षेत्रों में की जाती है, जहाँ पानी की पर्याप्त मात्रा होती है और सिंचाई की समुचित व्यवस्था होती हैं। खेत में 20–25 टन गली सड़ी

गोबर की खाद प्रति हेक्टेयर की दर से खेत में बिखेर कर अच्छी तरह जुताई कर भूमि में मिला दें।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : राजस्थान में उगाई जाने वाली प्रचलित एवं विभिन्न स्थितियों में उपयुक्त उन्नत किस्में व उनकी विशेषताएँ निम्न हैं –

रोपाई हेतु उन्नत किस्में – रतना, जया, बी.के.79, कस्तूरी (आईईटी– 8580), बासमती 370, कावेरी, बासमती, माही, सुगंधा चम्बल।

सीधी बुआई हेतु किस्म – बाला, पूसा 2–21।

अन्य किस्में – पूसा 33, पूसा 44, गोविन्द, साकेत–4 आईआर–20, पूसा सुगन्ध– 2, 3, 4, 5 ।

संकर किस्में – पंत संकर धान –1, एचआरआई120, पूसा राईस, हाइब्रिड–10, (पीआरएच–10) पूसा नई दिल्ली द्वारा विकसित।

बीज दर (Seed rate) : धान की फसल के लिए बीज दर बुआई की विधि पर निर्भर करती हैं।

1. सीधे खेत में बुआई करने पर 80 से 100 किग्रा. बीज प्रति हैक्टेयर की आवश्यकता होती हैं।
2. रोपाई विधि से बुआई के लिए 40–50 किग्रा. बीज प्रति हैक्टेयर की आवश्यकता होती हैं।

बीजोपचार (Seed treatment) : थोथे बीजों को निकालने के लिए बीजों को 2 प्रतिशत नमक के घोल में डालकर अच्छी प्रकार हिलायें। ऊपर तैरते हल्के बीजों को निकाल देना चाहिए तथा पैंदे पर बैठे बीजों को साफ पानी से धोकर सुखाये। धान में जीवाणु अंगमारी से बचाव हेतु 25 ग्राम घुलनशील पादप फफूंद नाशी (2 प्रतिशत) कार्बेन्डाजिम 2.5 ग्रा./किग्रा. तथा डेढ़ ग्राम स्ट्रेप्टो साईक्लिन को 45 लीटर पानी में घोल बनाकर बीजों

को 12 घंटे तक भिगोकर रखे तथा अंकुरण क्षमता बढ़ाने एवं पौधे की बढ़वार तेज करने हेतु 1%सोडियम हाइपोक्लोराइड के घोल में 30–35 किग्रा. बीज को 12 घण्टे तक भिगोकर इस प्रकार बीजोपचार करने से बीजावरण पर लगी बीमारियों की रोकथाम होती हैं।

बुआई का समय (Time of sowing) : धान की बुआई/रोपाई मानसून की वर्षा शुरू होते ही कर देनी चाहिए। बुआई/रोपाई 15 जुलाई तक की जा सकती है।

बुआई की विधियाँ (Method of sowing) : धान की बुआई मुख्यतः दो प्रकार से की जाती हैं।

1. **खेत में सीधी बुआई विधियाँ** – धान की सीधी बुआई खेत में दो प्रकार से की जाती है।
   (अ) पंक्तियों में बुआई करके (ब) छिटकवाँ विधि

(अ) पंक्तियों में बुआई करके – देशी हल या सीडड्रिल द्वारा 20 सेमी. की दूरी पर कतारों में करनी चा

(i) लेह युक्त खेत में सीधी बुआई– लेह मृदा (Puddled soil) में 100 किलोग्राम अंकुरित बीजों को सीधे छिटककर खेत में बोया जाता है।

(ii) लेह रहित नीची मृदाओं में सीधी बुआई– इस विधि में शुष्क बीजों को छिटककर या कतारों में 20 सेमी. दूरी पर बोया जाता है।

2. **रोपाई विधि द्वारा** – इस विधि में लेह युक्त मृदा में नर्सरी में पौध तैयार करके रोपाई की जाती है, रोपाई के लिए कतार से कतार की दूरी 20 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10 सेमी. रखनी चाहिए। एक स्थान पर दो या तीन पौधे रोपने चाहिए, ओटोमेटिक पैडी प्लान्टर से रोपाई करना अच्छा रहता हैं।

नर्सरी तैयार करने की विधियाँ :

नर्सरी (पौध) तैयार करने के लिए सामान्यतः तीन विधियाँ काम में ली जाती हैं –

(1) गीली क्यारी विधि– इस विधि में खेत में पानी भरकर पडलर की सहायता से 2–3 जुताई की जाती है जिससे मृदा लेह युक्त हो जाये। एक–दो दिन बाद नर्सरी क्षेत्र को छोटे–छोटे भागों में बांटकर क्यारियाँ बनायी जाती है। एक हैक्टेयर क्षेत्रफल की धान की बुआई के लिए 8 x 1.25 मीटर आकार की 50 क्यारियों की आवश्यकता होती है। उर्वरक प्रबंध के लिए 250 ग्राम यूरिया तथा 500 ग्राम सिंगल सुपर फॉस्फेट प्रति 10 वर्गमीटर के हिसाब से देना चाहिए। इस विधि में अंकुरित बीज बोये जाते हैं जिसके लिए बीजों को साफ पानी में 24 घंटे तक भिगोते हैं। 24 घंटे बाद बीजों को निकालकर फर्श पर एकत्रित कर बोरी या कपड़े से ढक देते हैं। ताकि बीज गर्मी पाकर जल्दी अंकुरित हो जाये। अंकुरित बीजों को लेह किये गये खेत की मिट्टी के ऊपर समान रूप से छिटकर बोना चाहिए। 20–30 दिन पश्चात् पौधे रोपाई के लिए तैयार हो जाते हैं इस विधि में बीज की मात्रा पतली–मोटी किस्म के आधार पर 750 ग्राम से 1 किग्रा. तक प्रति क्यारी तक रखी जाती है।

(2) शुष्क क्यारी विधि– इसमें 2–3 जुताई करके मिट्टी को भुरभुरा बना लिया जाता है। क्यारियाँ गीली क्यारी विधि के आकार की बनाई जाती हैं। क्यारियों की ऊँचाई जमीन से ऊपर रखनी चाहिए ताकि अनावश्यक पानी बहकर नालियों (30 सेमी. चौड़ी) से बाहर निकल सके। क्यारियाँ बनाने के बाद बीज को 10 सेमी. की दूरी पर कतारों में बोना चाहिए। बरसात न होने के दौरान एक–दो दिन के अंतराल से हल्की सिंचाई करनी चाहिए। पौधे 25–30 दिन में रोपाई के लिए तैयार हो जाते हैं।

(3) डेपोग विधि– यह विधि अन्तर्राष्ट्रीय चावल अनुसंधान संस्थान (IRRI) मनीला, फिलीपीन्स द्वारा अनुमोदित की गई है। इस विधि में एक हेक्टेयर के लिए पौधे तैयार करने हेतु 25–30 वर्गमीटर क्षेत्र की आवश्यकता होती है। इसमें मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती। 3 किग्रा. प्रति वर्गमीटर के हिसाब से अंकुरित बीजों की लगभग 1.5 सेमी. मोटी परत को पोलीथीन की चादर, केले के पत्तों, जूट के बोरों अथवा सीमेन्ट के फर्श पर बिछाकर उनमें प्रतिदिन पानी देते रहते हैं। इस विधि से 11–13 दिनों में पौधे तैयार हो जाते हैं। पौधों के तैयार होने के लिए किसी भी उर्वरक या खाद की आवश्यकता नहीं होती है पौधे तैयार होने के बाद छोटे–छोटे पौधों को सावधानी पूर्वक अलग–अलग कर लिया जाता हैं।

नर्सरी में पौध संरक्षण :–

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : धान की अच्छी पैदावार के लिए प्रति हैक्टेयर 80 से 120 किग्रा. नाइट्रोजन 40 से 60 किग्रा. फॉस्फोरस एवं 30 से 40 किग्रा. पोटाश की आवश्यकता होती है।

धान की रोपाई के 7–10 दिन बाद खेत में नील हरित शैवाल (ब्लू ग्रीन एल्गी) 15 किग्रा. प्रति हैक्टेयर देने से 20 किग्रा. नाइट्रोजन की बचत होती है। जस्ते की कमी से फसल में खैरा नामक रोग हो जाता है। जस्ते की पूर्ति के लिए 0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट के घोल का छिड़काव करना चाहिए। अच्छी उपज के लिए रोपाई से 3–4 सप्ताह पूर्व 20–25 टन गोबर की सड़ी खाद प्रति हेक्टेयर की दर से खेत की तैयारी करते समय मिट्टी में मिला देना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : कुल जल आवश्यकता का करीब 40 प्रतिशत पौधे के स्थापित होने से कल्ले फूटने की क्रिया समाप्त होने तक, 50 प्रतिशत बाली निकलने से लेकर दानों में दूध भरने की क्रिया समाप्त होने तक तथा 10 प्रतिशत फसल के पककर तैयार होने में लगता है। फसल पकने से दो सप्ताह पहले खेत में भरे हुए पानी को निकाल देना चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : घास कुल के खरपतवारों की रोकथाम के लिए बुआई/रोपाई के 2–3 दिन के

अन्दर प्रेटीलाक्लोर 1250 मिली. का प्रति हेक्टेयर, बिसपायरिकवेट सोडियम 80 मिली. या फिनॉक्साप्रोकप पी ईथाइल 500 मिली. 25–35 दिन के अन्दर प्रति हेक्टेयर का छिड़काव करना चाहिए। चौड़ी पत्ती वाले खरपतवारों के लिए बुआई/रोपाई के 2–3 दिन के अन्दर पाइरोजोसल्फ्यूरान 200 ग्राम या 20–25 दिन के अन्दर क्लोरीम्यूरॉन इथाईल, मेटासल्फयूरान मिथाइल 20 ग्राम या 2–4–डी 1000 मिली. 25–35 दिन के अन्दर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करना चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) :

कीटों की रोकथाम– धान में तना छेदक व फुदका के नियंत्रण हेतु कार्बोफ्यूरॉन 3 प्रतिशत कण, 20 किग्रा. या फोरेट 10 प्रतिशत कण 15 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़कें। गंधी बग एवं थ्रिप्स के लिए एण्डोसल्फान 35 ई.सी. 500 मिली. को 600 लीटर पानी में मिलाकर रोपाई के 30–35 दिन बाद 2–3 सप्ताह के अन्तर पर आवश्यकतानुसार 2–3 बार छिड़काव करना चाहिए।

बीमारियों की रोकथाम – जीवाणु अंगमारी रोग की रोकथाम के लिए 25 ग्राम स्टेप्टोसाइक्लिन प्रति हेक्टेयर की दर से 500 लीटर पानी में घोलकर दवा का छिड़काव 10–15 दिन के अन्तराल पर दो बार करना चाहिए । ब्लास्ट एवं पत्ती धब्बा रोग का प्रकोप होते ही 1– 1.25 किग्रा. मेंन्कोजेब या 500 मिली कारटेजिन का घोल बनाकर छिड़काव करना चाहिए इसका छिड़काव 15 दिन बाद करें।

कटाई एवं मड़ाई (Harvesting and threshing) : जब दाने सख्त हो जाये तो धान की कटाई कर लेनी चाहिए। कटाई ठीक प्रकार से करने के लिए खेत से 10–15 दिन पूर्व पानी को बाहर निकाल देना चाहिए।

फसल की मढाई डंडों की सहायता से या शक्तिचालित मड़ाई यंत्र से करते है। धान के दानों को 14 प्रतिशत नमी रहने तक सुखाना चाहिए। धान की कुटाई करने पर चावल व छिलके का अनुपात 2:1 मिलता है।

उपज (Yield) : उन्नत किस्मों से 35–45 क्विन्टल धान असिंचित क्षेत्र में तथा 50–60 क्विन्टल उपज सिंचित क्षेत्र से प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है। सामान्यतः उपज 25–30 क्विन्टल प्रति हेक्टेयर होती है।

मक्का– (Maize) (Corn)

वानस्पतिक नाम - जिया मेज एल (*Zea mays L.*)

कुल - पोएसी (Poaceae)

महत्व (Importance) : मक्का एक मुख्य खाद्य फसल है मोटे अनाज की श्रेणी मे आता है इसे भुट्टे के रूप में खाया जाता है। मक्का कार्बोहाइड्रेट का अच्छा स्रोत है मक्का में कार्बोहाइड्रेट 76.8 प्रतिशत होता है। दानों को भून कर सत्तू के रूप में प्रयोग किया जाता है। मक्का की उत्पति अमेरिका तथा मेक्सिको मे हुआ। राजस्थान में उदयपुर, भीलवाड़ा, चितौड़गढ़, बांसवाड़ा, डूंगरगढ़, झालावाड़, श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़, भरतपुर जिलो में उगाई जाती है।

जलवायु (Climate) : मक्का उष्ण व आर्द्र जलवायु की फसल है इसके लिए आदर्श तापमान 24°–30° सेल्सियस होता है। पकते समय गर्म व शुष्क वातावरण उपयुक्त रहता है। पौधों की अच्छी बढ़वार के लिए 60 से 70 प्रतिशत आपेक्षिक आर्द्रता होनी चाहिए।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparition) : मक्का के लिए उचित जल निकास तथा बलुई दोमट व दोमट मृदा सर्वोतम रहती है। मृदा पीएच मान 6–8.5 उपयुक्त रहता है। मक्का के लिए खेत की तैयारी में पहली जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से व 2–3 जुताई हैरो या कल्टीवेटर कर पाटा लगाकर भुरभुरी बना लेते है।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties)

संकर किस्में –

शीघ्र पकने वाली (80–100 दिन में)	मध्यम व देर से पकने वाली (100–120 दिन में)
बायो 9637, बायो 9681, एच.क्यू.पी. एम–1, एच.क्यू. पी.एम.5, पी ई.एच़ एम़5, पी ई एच़ एम–1, प्रताप मक्का –1	डेक्कन 103, गंगा सफेद 2), गंगा–11, माही धवल
संकुल किस्में	**कम्पोजिट जातियाँ**
बस्सी सलेक्टेड, जी .एम.6, नवजोत, माही कंचन, प्रताप मक्का 3, प्रताप मक्का–5, अरावली मक्का	चन्दन सफेद मक्का 2, चन्दन मक्का–3, चन्दन मक्का–1

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : मक्का फसल के लिए संकर किस्में 20–25 किग्रा. संकुल किस्मे 18–20 किग्रा. बेबी कार्न 22–25 किग्रा. चारे के लिए 40–45 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त रहता है। मक्का का बीज 3 ग्राम थाइरम या कैप्टान से उपचारित करना चाहिए अथवा 3 ग्राम कार्बोन्डाजिम 50 डब्लू पी या 6–10 ग्राम ट्राइकोडर्मा से डाउनीमिल्डयू प्रकोप वाले क्षेत्र में बीज एपोन 35 एसडी 4 ग्राम या एप्रोन एक्स एक 35 ईएस 1–2 मिली. दवा से प्रति किलो ग्राम बीजदर से उपचारित करना चाहिए ।

बुआई का समय एवं बुआई की विधि (Time of sowing and sowing method) : मक्का की बुआई खरीफ मे जून से जूलाई तक, रबी में अक्टूबर से नवम्बर तक, जायद में फरवरी से मार्च तक की जाती है। मक्का के लिये कतार से कतार की दूरी 45–60 सेमी, पौधे से पौधे की दूरी 20–25 सेमी. तथा बीज की गहराई 5–6 सेमी. रखते हुए करनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : मक्का की फसल में अच्छी उपज लेने के लिए 15–20 टन गोबर की सड़ी खाद, 80–120 किलोग्राम नाइट्रोजन 50–60 किलो ग्राम फास्फोरस 20–30 किलो ग्राम पोटाश एवं 25 किग्रा जिंक सल्फेट प्रति हेक्टेयर की दर से प्रयोग करना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : राजस्थान में मक्का खेती वर्षा ऋतु में ली जाती हैं। वर्षा न होने पर प्रारम्भिक बढ़वार के समय, फूल आने के समय, दाना बनते समय एवं झडे (नरमंजरी) आते समय पानी की अधिक आवश्यकता होती है। जल निकास की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : इसके लिए पहली निराई गुडाई, बुआई के 20–25 दिन बाद, दूसरी 35–45 दिन बाद करनी चाहिए तथा खरपतवार नियंत्रण के लिए प्रति हेक्टेयर आधा किलो ग्राम एट्राजिन सक्रियतत्व 600 लीटर पानी में घोलकर बुआई के 48 घण्टे के अदर या अकुंरण से पहले छिड़काव करें।

पादप सरंक्षण (Plant protection) : कीट एवं उपचार–

1 दीमक – खड़ी फसल में प्रकोप होने पर सिंचाई जल के साथ क्लोरोपायरीफॉस 20 प्रतिशत ईसी 2.5 लीटर प्रति हेक्टेयर की दर से प्रयोग करें।

2. तना छेदक कीट एवं प्ररोह मक्खी– इन कीटों के नियंत्रण हेतु कोर्बोफ्यूरान 30 से 20 किग्रा. या फोरेट 10 सीजी 20 किग्रा. अथवा डाईमिथोएट 30 प्रतिशत ई.सी. 1 लीटर प्रति हेक्टेयर अथवा क्यूनालफॉस 25 ई.सी. 1.5 लीटर का घोल बना कर छिड़काव करें।

जैविक नियंत्रण–

20 लीटर गोमूत्र में 5 किग्रा. नीम की पत्ती 3 किग्रा. धतूरा की पत्ती और 500 ग्राम तम्बाकू की पत्ती 1 किग्रा. बेसरम की पत्ती 2 किग्रा. अकौआ (आक) की पत्ती 200 ग्र. अदरक (यदि अदरक नहीं मिले तो) 250 ग्राम लहसुन, 1 किग्रा. गुड़, 25 ग्राम हींग, 150 ग्राम लाल मिर्च डालकर 3 दिनों के लिए छाया में रख दें। इस घोल की 2ढाई गुनी मात्रा प्रति हेक्टेयर प्रयोग करें इसे दो बार में 7–10 दिनों के अन्तराल पर छिड़काव करें। प्रति 15 लीटर पानी में 3 लीटर घोल मिलाया जाता है छिड़काव पूरी तरह तर कर के करें।

रोग उपचार :–तुलासिता रोग –पत्तियों पर पीली धारियाँ पड जाती है रोकथाम के लिए जिंककार्बनेट या जीरम 80 प्रतिशत 2 किग्रा. बुआई से पूर्व बीज को रीडामिल एम.जेड़. 4 ग्राम प्रति किलो बीज की दर से उपचार करना चाहिए।

पत्ती धब्बा(झुलसा)– पत्तियों पर बड़े या अण्डाकार (भूरे रंग के धब्बे पड़ जाते है) उपचार – जिनेब या जिंक मैगनीज कार्बमेट 2 किग्रा. या जिरम 80 प्रतिशत 2 लीटर या प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करना चाहिए।

तना सड़न :– रोग के लक्षण दिखाई देते ही 15 ग्राम स्ट्रेप्टोसाइक्लीन या 60 ग्राम एग्रोमाइसीन तथा 500 ग्राम कोपर ओक्सीक्लोराईड प्रति हेक्टेयर की दर छिड़काव करने से लाभ होता है।

कटाई मढ़ाई (Harvesting and threshing) : मक्का की फसल अवधि पूर्ण होने के पश्चात चारे वाली फसल बोने के

60–65 दिन बाद दाने वाली देशी किस्म 75 से 85 दिन बाद संकर एवं संकुल किस्में 90 से 115 दिन बाद तथा दाने में लगभग 25 प्रतिशत की नमी होने पर कटाई करनी चाहिए । भुट्टों से दाने निकालने के लिए सेलर का उपयोग किया जाता है। अथवा साधारण थ्रेसर में सूखाकर मक्का की मढ़ाई की जाती है इसमें भुट्टे से छिलका निकालने की आवश्यकता नहीं होती, सीधे ही सूखे भुट्टे को थ्रेसर में डालकर मढ़ाई की जा सकती है, इससे दाने का कटाव नहीं होगा।

उपज (Yield) : उन्नत विधियों से खेती करने पर संकर किस्मों से 40–50 क्विंटल तथा संकुल किस्मों से 30–40 क्विंटल प्रति हेक्टेयर दर से दाने की उपज प्राप्त होती है। लगभग 30–40 क्विंटल सूखा चारा प्रति हेक्टेयर प्राप्त होता है।

ज्वार (Jwar/Sorghum)

वानस्पतिक नाम–सोरघम बाइकलर एल. (*Sorghum bicolor* L.)

कुल – पोएसी (Poaceae)

महत्व (Importance) : ज्वार एक प्रमुख खाद्यान है ज्वार को मोटा अनाज कहते हैं। ज्वार के दानों में 72.6 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट पाये जाते हैं। ज्वार के पौधे की पत्तियाँ छोटी अवस्था में एक ग्लूकोसाइड (घुरिन) पाया जाता है जिससे हाइड्रो सायनिक अम्ल पैदा होता है । इस अवस्था में चारा पशुओं को अधिक मात्रा में खिलाने पर पशुओं की मृत्यु हो सकती है। ज्वार की उत्पति स्थान कुछ विद्वान अफ्रीका और भारत, कुछ विद्वान अफ्रीका तथा एबीसीनिया मानते है। राजस्थान में ज्वार टोंक, पाली, अजमेर, कोटा, झालावाड़, जिलों मे उगाई जाती हैं।

जलवायु (Climate) : ज्वार गर्म जलवायु की फसल है ज्वार 32° से 35° सेल्सियस तापमान पर पौधों की वृद्धि अच्छी होती है इसलिए खरीफ और जायद की फसल के रूप में इसे उगाया जाता है। ज्वार 30–75 सें.मी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में सफलता पूर्वक उगाया जाता है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) :– ज्वार के लिए दोमट एवं बलुई दोमट भूमि अच्छी मानी जाती है उचित जल निकास वाली भारी मृदा में भी उसकी बुआई की जा सकती है। भूमि का पीएच.मान 6.5 से 7.5 तक उपयुक्त रहता है अंतिम जुताई के समय 25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण मिला दें। भारी मिट्टी एवं अधिक खरपतवार युक्त क्षेत्रों में गर्मी में एक गहरी जुताई करे ताकि वर्षा को जल अधिक मात्रा में सोखा का जा सके। वर्षा के साथ 2–3 जुताई देशी हल या हैरो से करे तथा पाटा लगा कर बुआई करते है।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : सी.एस. एच.–5, सी.एस.एच.–14, एस.पी.वी.–245, एस.पी.वी.–96, एस. पी.वी.–346 सी.एस.वी.–13, प्रताप ज्वार 1430 ।

बहु कटाई वाली किस्में : मीठी सुडान, (एस.एस.जी. 59–3) एम.पी. चरी, पूसा चरी–23, जवाहर चरी– 69 ।

एक कटाई वाली किस्में – सी.एस.वी.–15, सी.एस.वी. –20, राज चरी –1, पूसा चरी–6 ।

मुख्य अन्य किस्में– जवाहर ज्वार 741, एस.पी.वी.1022, सी.एस.वी–1 (स्वर्णा), सी.एस.वी–15 ।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treament) : ज्वार का अनाज के लिए 9–10 किग्रा. चारा व दाना के लिए 15–20 किग्रा. बहुकटाई चारे के लिए 30–40 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर काम लेना चाहिए। बीज को बोने से पूर्व थायरम 2.5–3 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करें।

बीज को 6–10 ग्राम ट्राइकोडर्मा से उपचारित कर सकते हैं बुआई पूर्व एजोस्पाइरिलम जीवाणु कल्चर से बीज उपचारित करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : बुवाई जून के अन्त में या वर्षा शुरू होते ही कर देनी चाहिए। गर्मियों में चारे हेतु मार्च में (सिंचाईयुक्त क्षेत्रों में) बुआई करनी चाहिए। चारे के लिये बुआई छिटकवाँ विधि से भी की जा सकती है लेकिन बुआई कतार में करने से अधिक उपज मिलती है। कतार से कतार की दूरी 45 सेमी. पौधे से पौधे की दूरी 12–15 सेंमी. गहराई 1.5–2 सेंमी. पर बुआई करनी चाहिए। चारे वाली किस्मों की कतार से कतार की दूरी 25–30 सेंमी. रखनी चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : ज्वार के लिए अच्छी सड़ी हुई गोबर की खाद या कम्पोस्ट 15–20 टन प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के 15–20 दिन पूर्व खेत में अच्छी तरह मिला दें। इसके अतिरिक्त 80 किग्रा नत्रजन तथा 40 किग्रा फास्फोरस प्रति हेक्टेयर देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : ज्वार की फसल के लिए बाजरा की तुलना में अधिक पानी की आवश्यकता होती हैं वर्षा ऋतु में बोई गई फसल में सिंचाई की आवश्यकता नही होती है। परन्तु लम्बे समय तक वर्षा न होने पर सिंचाई की जरूरत पड़ सकती है। ग्रीष्मकालीन फसल में 7–10 दिन के अन्तर पर सिंचाई करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : ज्वार की बुआई के 15–20 दिन बाद निराई गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देने चाहिए। गुड़ाई करते समय ध्यान रहे कि पौधे की जड़े न कट जायें। ज्वार की शुद्ध फसल में खरपतवार नष्ट करने हेतु आधा किग्रा. एट्राजिन बुआई के तुरन्त बाद 600 लीटर पानी में घोल कर छिड़काव करना चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : ज्वार की फसल में तना मक्खी और तना छेदक का प्रकोप होता है। इसकी रोकथाम के लिये बुआई के समय बीज के साथ 15 किग्रा. प्रति हेक्टेयर फोरेट 10 प्रतिशत या कार्बोफ्युरान 3 जी दानों कों डालना चाहिए फफूंद से होने वाली बीमारियों की रोकथाम के लिए मैन्कोजेब 0.2 प्रतिशत का घोल बनाकर छिड़काव करें।

कटाई / मढ़ाई (Harvesting and threshing) : चारे के लिये ज्वार की बुआई के 45–50 दिन बाद ही काटना चाहिए। बहु कटाई वाली किस्म की पहली कटाई 50–55 दिन बाद अगली कटाइयाँ 30–35 दिन के अन्तर पर करनी चाहिए। दाने की फसल में दाने पकने पर सिट्टों के हरे दाने सफेद या पीले रंग में बदल जाते हैं। दानों में जब नमी घटकर 25 प्रतिशत रह जावे तब कटाई कर लेनी चाहिए। पौधों से सिट्टे (बाली) अलग करने के बाद पौधो को सुखाकर कडवी (सूखा चारा) के रूप में रखा जाता है व मढ़ाई बैलों या शक्ति चालित ट्रैक्टर या थ्रेसर की सहायता से की जाती है।

उपज (Yield) : ज्वार की देशी किस्मों से 10–15 क्विंटल दाना, 100–150 क्विटल कड़वी। उन्नत व संकर किस्मों से 30–35 क्विंटल दाना तथा 80–100 क्विंटल कडवी प्रति हेक्टेयर उपज प्रात होती है हरे चारे की उपज 300–400 क्विंटल प्रति हेक्टेयर होती है।

बाजरा (Pearl millet)

वानस्पतिक नाम–पेनीसेटम टाइफोइड्स एल.
(*Pennisetum typhoides* L.)
या
पेंनीसेटम ग्लूकम एल.
(*Pennisetum glaucum* L.)
कुल . पोएसी (Poaceae)

महत्व (Importance) : बाजरा मोटे अनाज वाली खाधान्न फसलों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है इसकी खेती दाना व चारा दोनों के लिए की जाती है। बाजरा के दाने को चावल की तरह पकाकर या आटे की रोटी बनाकर खाने मे उपयोग किया जाता है बाजरे के दाने की पौष्टिक गुणवत्ता ज्वार से अधिक होती है इसमें लगभग 73 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट्स पाई जाती है। कुछ विद्वान बाजरा का उत्पति स्थान अफ्रीका, तो कुछ भारत मानते है। राजस्थान में बाडमेर, नागौर, सीकर, बीकानेर, झुंझुनू, जयपुर, जिलों में उगाया जाता है।

जलवायु (Climate) : इसकी बढवार के लिए नम तथा ऊष्ण मौसम अधिक उपयुक्त रहता है। फसल में फूल आते समय व दाना बनते समय व पकते समय स्वच्छ आकाश व तेज धूप की आवश्यकता होती है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : बाजरा के लिए जल निकास युक्त बलुई दोमट व दोमट मृदा जिसमें जलधारण क्षमता अच्छी हो उपयुक्त रहती है साधारणतया इसकी खेती सभी तरह की मृदाओं मे की जा सकती है लेकिन हल्की मिट्टी में इसकी खेती बड़े पैमाने पर होती है बाजरा का खेत तैयार करने के लिए गर्मी में गहरी जुताई करे एवं वर्षा होते ही 2–3 जुताई देशी हल या कल्टीवेटर से करके पाटा लगाकर मृदा भुरभुरी व समतल कर लेते हैं। भूमिगत कीटो को नष्ट करने के लिए 12 किग्रा. कार्बोफ्यूरान 3 प्रतिशत या क्यूनालफास 5 प्रतिशत की दर से बुआई के समय मिट्टी में मिला देना चाहिए।

उन्नत शील किस्में (Improved varieties) : आर. एच.बी.–121, एच.एच.बी–67, एच.एच.बी–60, जी.एच.बी–538, आर.एच.बी. 90, पूसा–605, आर.एच.बी.177, आर.एच.बी 173।

अन्य किस्में:– जी.एच.बी. 719, जी.एच.बी.–744, एच.एच.बी. 94, एच.एच.बी. 719, आई.सी.टी. 8203(संकुल), एम.एच.169 (पूसा–23)।

चारे के लिए – राज बाजरा चरी–2, जायद बाजरा ।

बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : दाने के लिए 4–5 किग्रा. प्रति हेक्टेयर एवं हरे चारे के लिए 10–12 किग्रा. प्रति हेक्टेयर बीज पर्याप्त रहता है। बीजों को 20 प्रतिशत नमक के घोल से उपचारित कर तत्पश्चात 3 ग्राम थाइरम से प्रति किलो बीज की दर से उपचारित करें। दीमक प्रकोप होने पर 4 मिली. क्लोरोपायरीफॉस 20 ईसी से प्रति किलो बीज उपचारित करे। क्षारीय व लवणीय मिट्टी में बुआई करनी हो तो बीज को 1 प्रतिशत सोडियमसल्फेट में 12 घन्टे तक भिगोकर साफ पानी से धोकर छाया मे सुखने के बाद कवक नाशी से उपचारित करके बोयें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method): बाजरा की बुआई असिंचित क्षेत्र मे वर्षा आने पर, सिंचित क्षेत्र मे समय पर बुआई जून मध्य से जुलाई तृतीय सप्ताह तक, वर्षा समय पर न हो तो अच्छी उपज के लिए फसल कतार में बोना चाहिए कतार से कतार की दूरी 40–45 सेमी. वर्षा वाले क्षेत्र में 60 सेंमी., मिश्रित फसल में 30 सेंमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. व गहराई 2–5 सेमी. पर बुआई करनी चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) :

1. बुआई से 4 सप्ताह पूर्व 10–15 टन गोबर की सड़ी हुई खाद प्रति हेक्टेयर की दर से भूमि में मिला दें।
2. असिंचित क्षेत्र में 30 किग्रा. नत्रजन 20 किग्रा. फॉस्फोरस बुआई के समय प्रयोग करें।
3. सिंचित क्षेत्र मे बुआई के समय 30 किग्रा. नत्रजन एंव 40 किग्रा. फास्फोरस 25 किग्रा. जिंक सल्फेट का उपयाग करें तथा 30 किग्रा. नत्रजन 35–40 दिन बाद सिट्टे बनते समय पर्याप्त नमी की अवस्था में छिड़क कर देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : बाजरा की फसल खरीफ मे वर्षा द्वारा ली जाती है समय पर वर्षा होने पर सिंचाई की आवश्यकता नही पड़ती यदि वर्षा नही होतो फुटान के समय, सिट्टे बनते समय भूमि में नमी की कमी नही होनी चाहिए अर्थात सिंचाई कर देनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : बुआई के 20–30 दिन बाद निराई गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देना चाहिए तथा कमजोर पौधों को निकाल कर पौधों से पौधों की दूरी 10–15 से. मी. कर देनी चाहिए आवश्यकता होने पर 15–20 दिन बाद दूसरी निराई गुड़ाई कर देनी चाहिए खरपतवार नियंत्रण के लिये प्रति हेक्टेयर आधा किग्रा. एट्राजीन सक्रिय तत्व 600 लीटर पानी मे घोल बनाकर छिडकाव करें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कीट–कातरा, हरातेला, गन्धी बग के नियत्रण के लिए क्यूनालफास 1.5 प्रतिशत या मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत चूर्ण का 25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से भुरकाव करना चाहिए। सफेद लट के लिए 1 किग्रा. बीज को 3 ग्राम कार्बोफ्यूरान (3 प्रतिशत) या क्यूनालफॉस (5 प्रतिशत) कण मिलाकर बुआई करें।

रोग–जोगिया (ग्रीन ईयर) या हरित बालरोग :–

1. रोग रोधी किस्में बोयें
2. रोग ग्रस्त पौधो को निकाल कर नष्ट कर देना चाहिए।
3. फसल बुआई के 21 दिन बाद मैन्कोजेब 2 ग्राम प्रति लीटर की दर से छिड़के (इस रोग में सिट्टे के स्थान पर पत्तियों का गुच्छा बन जाता है)
4. फसल चक्र अपनाना चाहिए।

अरगट (चेपा, गूंदिया) : इस रोग में सिट्टे पर गोंद जैसा चिपचिपा सा पदार्थ उत्पन्न होता है रोग से बचाने हेतु सिट्टे निकलते समय 2 ग्राम जाइनेब या मैन्कोजेब प्रति लीटर पानी में घोल कर दो तीन दिन के अन्तर पर 2–3 छिड़काव करने से प्रकोप कम होता है रोग ग्रस्त पौधों को उखाड कर नष्ट कर देना चाहिए। नमक के 20 प्रतिशत घोल में बीज को डुबोकर बुआई करनी चाहिए।

कटाई मढ़ाई (Harvesting and threshing) : फसल अक्टूबर के पहले सप्ताह तक पक कर तैयार हो जाती है। खडी फसल में हसिंया से सिट्टे को काटना चाहिए, कई क्षेत्रो में पहले फसल काट ली जाती है फिर सिट्टे तोड़ लिए जाते हैं जब दानों में नमी की मात्रा 20 प्रतिशत हो तभी सिट्टे पौधे से अलग करने चाहिए। सिट्टो को सुखा कर मढ़ाई बैलो द्वारा या शक्ति चालित थ्रेसर से कर लेते हैं।

उपज (Yield) : उन्नत विधियों से बाजरा की खेती करने की औसत 15–20 क्विटंल प्रति हेक्टेयर दर दाने की उपज तथा 50–60 क्विंटल सुखा चारा प्रति हेक्टेयर तथा चारे की फसल से 250–300 क्विंटल हरा चारा प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त होती है ।

गेहूँ – (Wheat)

वानस्पतिक नाम–ट्रिटिकम एस्टिवम एल. (*Triticum aestivum* L.)

या

ट्रटिकम वल्गेयर एल. (*Triticum vulgare* L.)

कुल – पोएसी (Poaceae)

महत्व (Importance) : गेहूँ मुख्य खाद्यान्न फसल है जो धान के बाद दूसरे स्थान पर आता है। पौष्टिकता की दृष्टि से भी गेहूँ का महत्वपूर्ण स्थान है गेहूँ के दाने में 62–71 प्रतिशत कार्बोहाईड्रेट्स, गेहूँ का उपयोग मुख्यतः पीस कर (आटा) रोटी, चपाती, डब्बल रोटी, बिस्कुट, सूजी दलिया, मैदा, सेवैया, पेस्ट्री आदि बनाने में किया जाता है। गेहूँ के दाने चोकर व भूसे को पौष्टिक पशु आहार के रूप में काम में लिया जाता है। गेहूँ की उत्पति मध्य एशिया से लेकर दक्षिण – पूर्वी यूरोप तक मानते है। राजस्थान में श्रीगंगानगर, हनुमानगढ, जयपुर, कोटा, अलवर, भरतपुर, चितौड़गढ़ एवं सवाईमाधोपुर प्रमुख उत्पादक जिले है।

जलवायु (Climate) : गेहूँ शीतोष्ण जलवायु की फसल है। गेहूँ के अकुरण के लिए न्यूनतम तापमान 3.5°–5.5° सेल्सियस इष्टतम तापमान 20°–25° सेल्सियस अधिकतम तापमान 35° सेल्सियस है। पौधे को ठण्डा मौसम अनुकूल रहता है। अधिकतम तापमान होने के करण फसल समय से पहले ही पक जाती है। उपज कम हो जाती है। फसल पकने के लिये इष्टतम औसत तापमान 14°–15° सेल्सियस रहता है। उचित पौधे वृद्धि एवं बढ़वार के लिए 50–60 प्रतिशत तक आर्द्रता उपयुक्त पायी गयी है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : गेहूँ के लिए अच्छे जल निकासयुक्त मृदा बलुई दोमट एवं दोमट मृदा सर्वोत्तम है। गेहूँ के लिए उत्तम संरचना वाली व पर्याप्त जल धारण करने वाली ऐसी मृदा जिनका पीएच मान 6–8.5 हो अच्छी रहती हैं। अधिक अम्लीय व अधिक क्षारीय लवणीय मृदा उपयुक्त नहीं रहती है।

गेहूँ के लिये खारीफ की फसल काटने के बाद मिट्टी पलटने वाले हल से गहरी (20–25 सेमी.) जुताई करनी चाहिए। यदि नमी कम हो तो सिंचाई के बाद गहरी जुताई करनी चाहिए। इसके बाद 3–4 जुताई देशी हल या कल्टीवेटर चलाकर मिट्टी को भुरभुरी बना देना चाहिए। दीमक व अन्य भूमिगत कीटों के नियंत्रण हेतू एण्डोसल्फान 4 प्रतिशत या क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण 25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के पूर्व अन्तिम जुताई के समय खेत में मिला देना चाहिए।

उन्नतशील किस्मे (Improved varieties) : राज. 1482, राज. 3077, राज. 3765, एच.डी. 2329, एच.डी. 2687, राज. 3777, पी.बी.डब्ल्यु 373, डब्ल्यु एच 147, राज. 4083, राज. 4120, लोक–1 ।

अन्य उन्नतशील किस्में : राज. 1555, एच. डी. 2009 (अर्जुन), एच.आई. 8498, जी.डब्ल्यु. 173, जी.डब्ल्यु. 273, एच.डी. 2967, एच.आई. 1077, एच.आई. 1544, एच.आई. 8381, खारचिया 65, एच.आई. 617(सुजाता) आदि।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : गेहूँ की बीज की मात्रा बुआई की विधि पर निर्भर करती हैं। सामान्य बुआई में 100 किग्रा., देर से बुआई असिंचित लवणीय व क्षारीय क्षेत्र पेटा काश्त के 125 किग्रा., छिटकवॉ विधि से 125–150 किग्रा., डिवलर विधि से 30–40 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है। ईयर कोल व टुण्डु रोग के लिए रोग ग्रस्त बीज को 20 प्रतिशत नमक के घोल में डुबोयें प्रतिकिलो बीज 2.5 ग्राम थायरम या 2 ग्राम कार्बेन्डाजिम 50 डब्ल्यू पी या 2–2.5 ग्राम मैन्कोजेब या 6–10 ग्राम ट्राईकोडर्मा से बीज उपचारित करें । इसके बाद प्रति किलो बीज 5 मिली. क्लोरेपायरीफॉस 50 ईसी से उपचारित करें लवणीय मृदा या खारे पानी वाले क्षेत्र में बीज को सोडियम सल्फेट के 3 प्रतिशत घोल (1.5 किग्रा.) सोडियम सल्फेट का 50 लीटर पानी में घोल बना कर 24 घण्टे डुबोना चाहिए। बाद में साफ पानी से धोकर छाया में सुखाकर प्रयोग करना चाहिए और अन्त में प्रति हेक्टेयर खेत के बीजों के लिए पी.एस.बी. व एजोटोबैक्टर प्रत्येक का 600 ग्रा. कल्चर लेकर गुड़ के पानी में घोल बनाकर उपचारित करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : गेहूँ की असिंचित बुआई 15 अक्टुबर से 15 नवम्बर तक, अगेती सिंचित 25 अक्टुबर से 7 नवम्बर, समय पर बुआई नवम्बर के प्रथम सप्ताह से तीसरे सप्ताह तक, पिछेती बुआई नवम्बर अन्तिम सप्ताह से दिसम्बर प्रथम सप्ताह तक करें। गेहूँ की बुआई कतारों में की जाती है। कतार से कतार की दूरी 20–22.5 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10–12 सेमी. रखते हुए 3–5 सेमी. गहराई पर बुआई कर देनी चाहिए। बुआई ट्रैक्टर चालित ओटोमैटिक सीडड्रिल से करने पर बीज समान रूप से गिरता है। उन्नतशील किस्मों के कम बीज को अधिक क्षेत्र में बोने के लिए डिबलर से भी की जाती है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : गेहूँ की अच्छी उपज लेने के लिए बुआई के 4–6 सप्ताह पूर्व 15–20 टन गोबर की खाद प्रति हेक्टेयर मिट्टी में मिला दें। यदि हो सके तो तीन साल में एक बार हरी खाद का प्रयोग अवश्य करें। अच्छी उपज के लिए 100–120 किग्रा. नाइट्रोजन 30–40 किग्रा. फास्फोरस 30 किग्रा. पोटाश प्रति हेक्टेयर प्रयोग करें नाइट्रोजन की आधी मात्रा नाइट्रोजन, फॉस्फोरस व पोटाश की पूरी मात्रा बुआई के पूर्व अन्तिम जुताई के समय पर कर दें।

सिंचाई (Irrigation) : सिंचाई की संख्या उस स्थान की जलवायु, मृदा संरचना, फसल की सघनता व बढवार पर निर्भर करती है। सामान्यतः गेंहूँ की फसल का भारी मृदा मे 4–6 और हल्की मृदा में 6–8 और सिंचाइयों की आवश्यकता होती है गेहूँ की फसल में निम्न अवस्थाओं पर सिंचाई करना उपयुक्त पाया गया हैं।

सिंचाई की क्रांतिक अवस्थाएँ (Critical Stages) :

प्रथम सिंचाई बुआई के 20–25 दिन शीर्ष जड़ जमाव के समय
द्वितीय सिंचाई बुआई के 40–45 दिन बाद फुटान के समय

तृतीय सिंचाई बुआई के 60–65 दिन बाद गाँठ बनते सम
चौथी सिंचाई बुआई के 80–85 दिन बाद बाली बनते समय
पाँचवी सिंचाई बुआई के 100–105 दिन बाद दूधिया अवस्था में
छठी सिंचाई बुआई के 115–120 दिन बाद दाना पकते समय

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : गेंहूँ की प्रथम सिंचाई के बाद 25–30 दिन पर एक निराई गुड़ाई अवश्य करें खरपतवारों को नष्ट करने के लिए बोनी किस्मों मे बुआई के 25–30 दिन के बीच प्रति हेक्टेयर आधा किलो 2–4 डी एस्टर 750 लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें, एच डी 2009 में 2 –4 डी प्रयोग न करें। गेहूँ मे बुआई के 30–35 दिन बाद मेटसल्फेयुरान मिथाइल खरपतवार नाशी का 4 ग्राम (सक्रिय तत्व) या कारफेन्टाजोन (घुलनशील तत्व) की 20 ग्राम मात्रा प्रति हेक्टेयर 600 लीटर पानी मे घोलकर छिड़काव करे गुली डंडा (फेलेरीसमाईनर) जगंली जई का प्रकोप को वहाँ की फसल बुआई के 30–35 दिन बाद आईसोप्रोटयूरान हल्की मिट्टी हेतु 800 ग्राम तथा भारी मिट्टी में 1200 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर का पानी में घोल बनाकर एक साथ छिड़काव करें।

पादप सरंक्षण (Plant protection) :

1. पाले से बचाने की आवश्यकता हो तो 0.1 प्रतिशत (पानी में एक मिली.) गंधक तेजाब का छिड़काव करना।
2. दीमक के लिये क्लोरपायरीफॉस 20 ईसी 2400 मिली. प्रति हेक्टेयर की दर से सिंचाई के साथ प्रयोग करे।
3. तना छेदक मक्खी एवं थ्रिप्स मकड़ी (माईट) मोयला व तेला–अंकुरण के समय तना छेदक का प्रकोप होने पर मानोक्रोटोफॉस (36 प्रतिशत एस एल) 1200 मिली. या मिथाइल डिमेटॉन 25 ईसी 1200 मिली. प्रति हेक्टेयर पानी में मिलाकर छिड़काव करें। मकड़ी, मोयला, तेला के लिए मिथाईल डेमेटॉन 25 ईसी या डाइमिथोएट 30 ईसी 1200 मिली प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें आवश्यकता अनुसार 15 दिन बाद पुनः छिड़काव करें।
4. सैन्यकीट चने वाली लट, पायरिला, फली बीटल, ग्रास हॉपर के रोकथाम के लिए मिथाइल पैराथियान (2 प्रतिशत) चूर्ण 24 किग्रा. प्रति हेक्टेयर छिड़काव करें।
5. चूहों की रोकथाम के लिए एक भाग जिंक फास्फाइड को 47भाग आटे और दो भाग तिल या मूंगफली के तेल में मिलाकर विशेष चुगा तैयार कर आबाद बिलों के पास रखे या आधा ग्राम एल्यूमिनियम फास्फॉइड की गोलियाँ प्रति बिल की दर से डालकर बिल बन्द करे।

झुलसा रोग एवं पत्ती धब्बा रोग – गेहूँ की फसल को झुलसा व पत्ती धब्बा रोग से बचाने के लिये जनवरी के प्रथम सप्ताह में मैन्कोजेब 2 ग्राम प्रति लीटर पानी में घोल बनाकर 15 दिन के अन्तर पर 3–4 बार छिड़काव करें ।

रोली रोग –रोली रोग की रोकथाम हेतु 25 किग्रा. गन्धक चूर्ण का प्रति हेक्टेयर की दर से 15 दिन के अन्तर पर 2–3 बार सुबह या शाम के समय भुरकाव करें। रोली रोधी किस्में बोये। मैन्कोजेब 3 ग्राम प्रति लीटर का घोल बना कर छिड़काव करें ।

अनावृत रोग व पत्ती कण्डवा रोग : रोग दिखाई देते ही रोगग्रस्त पौधो को उखाड़कर नष्ट कर दें मई और जून में बीज का सौर उपचार करें या बीज को बुआई से पूर्व 2 ग्राम बीटाबेक्स प्रति किलो की दर से उपचारित करें।

ईयर कोकल एवं टुण्डू रोग : इस रोग में गेहूँ के दाने की जगह कोकल बन जाता है जिनमें कृमि के हजारों अण्डे होते है टुण्डु रोग साथ होने से पत्तियों व बालियों में एक पीले रंग का गोंद जैसा चिपचिपा पदार्थ निकलता है इसे रोकने के लिए बीज को नमक के 20 प्रतिशत घोल से उपचारित कर साफ पानी से धोकर छाया मे सुखा कर बोना चाहिए ऊपर तैरते कचरे को निकालकर जला दें।

कटाई एवं मड़ाई (Harvesting and threshing) : गेहूँ की फसल पकने के तुरन्त बाद मार्च–अप्रेल में कटाई कर लेनी चाहिए अन्यथा बलियों से दाना झड़ने या टूटने या पशु–पक्षियों से हानि होने की सम्भावना रहती है जब दानों मे 20 प्रतिशत नमी हो व पौधे की पत्तियाँ पीली हो जाती है तब कटाई कर लेनी चाहिए कटाई के बाद फसल को 5–6 दिनों तक धूप में सूखाकर मड़ाई कर लेनी चाहिए थ्रेसर से मड़ाई करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि दानों में नमी अधिक न हो।

उपज (Yield) : उन्नतशील व बोनी किस्मों से 50–60 क्विंटल तक उपज प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है। देशी किस्मों से व असिंचित क्षेत्र से 15–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त होती है।

जौ –(Barley)
वानस्पतिक नाम–होर्डियम वल्गेयर एल.
(*Hordeum vulgare* L.)
कुल – पोएसी (Poaceae)

महत्त्व (Importance) : जौ रबी ऋतु मे उगाई जाने वाली खाद्यान्न की प्रमुख फसल है इसका प्रयोग मानव आहार एवं पशुओ के दाने व चारे के लिए किया जाता है हमारे देश मे जौ का प्रयोग रोटी बनाकर तथा चने अथवा गेहूँ के साथ मिलाकर रोटी के रूप में किया जाता है। जौ का प्रयोग अनेक औद्योगिक पदार्थ, माल्ट, शराब, बीयर, पेपर, फाइबर पेपर, फाइबर बोर्ड आदि के लिए किये जाते है जौ के दाने मे 64–78 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट्स, जौ का उत्पति स्थान दक्षिण पूर्वी एशिया में चीन तिब्बत और नेपाल का क्षेत्र है। राजस्थान में जौ की खेती थोड़ी बहुत सभी जिलों में की जाती है लेकिन अजेमर, जयपुर, दौसा, झुन्झुनू, अलवर, भरतपुर व सवाईमाधोपुर मुख्य जिले हैं।

जलवायु (Climate) : जौ शीतोष्ण जलवायु की फसल हैं। इसके लिए ठण्डी और नम जलवायु की आवश्यकता होती हैं। यह सूखा सहन करने वाली है, इसलिए 60–100 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों मे उगाया जा सकता है। जौ के अच्छे अंकुरण 25°–30° सेल्सियस पौधे वृद्धि के लिए 12°–15° सेल्सियस और परिपक्वता के समय 30° सेल्सियस तापमान की आवश्यकता होती है बालियाँ बनते समय अधिक आर्द्रता हो तो रोग एवं व्याधियो का प्रकोप बढ़ता है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : जौ की खेती के लिए बलुई दोमट एवं दोमट मृदा उपयुक्त रहती हैं। जौ की खेती हल्की लवणीय क्षारीय भूमि में की जा सकती हैं। सूखे एवं क्षारीय दशाओं में जौ ही एक मात्र फसल जिसे सफलता पूर्वक उगाया जा सकता है। जौ के लिए खरीफ की फसल कटने के बाद मिट्टी पलटने वाले हल से एक जुताई करनी चाहिए। सिंचित क्षेत्र मे पलेवा कर दो –तीन जुताइयाँ देशी हल या हैरो से करके खेत तैयार किया जाता हैं। जुताई के बाद पाटा चलाकर मिट्टी को भुरभुरी बना लेना चाहिए। भूमिगत कीटों की रोकथाम के लिए प्रति हेक्टेयर 25 किलोग्राम एण्डोसल्फान 4 प्रतिशत या क्युनालफॉस 1.5 प्रतिशत का चूर्ण मिट्टी में मिला देना चाहिए।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : बीएल. 2, ज्योति, आर.डी. 31, आर.डी. 57, आर.डी.103, आर.डी. 387 (राजकिरण), आर.डी. 2552, आर.डी. 208, आर.डी. 2660, आर. डी. 2592, आर.डी. 2624, आर.डी. 2715।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : सामान्य व सिंचित क्षेत्र के लिये 100 किग्रा. दर से बुआई असिंचित क्षेत्र लवणीय क्षेत्र के लिये 125 किग्रा. प्रति हेक्टेयर बीज पर्याप्त रहता है। बुआई से पूर्व बीज को प्रति किलो बीज की दर से 2.5 ग्राम थाइरम या 2.5 ग्राम मेन्कोजेब या 2 ग्राम कार्बेन्डाजिम 50 डब्ल्यू.पी. या 6–10 ग्राम ट्राईकोडर्मा या 5 मिली. क्लोरोपायरीफास 20 ई.सी. से उपचारित करके बोना चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : जौ की फसल की बुआई असिंचित क्षेत्र में अक्टूबर से, सामान्य एवं सिंचित क्षेत्र में 15 अक्टूबर से 15 नवम्बर तक एवं पिछेती बुआई 15 नवम्बर से 5 दिसम्बर तक कर देनी चाहिए। जौ की फसल की बुआई कतारों में कतार से कतार की दूरी 22.5 सेमी तथा देर से बोई गई फसल में 25 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10–11.25 सेमी. की दूरी पर 5–6 सेमी. गहराई पर बीज की बुआई करनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : जौ की अधिक उपज लेने के लिये प्रति हेक्टेयर 8–10 टन गोबर की सड़ी हुई खाद 4–5 सप्ताह पूर्व भूमि में मिला दें तथा 40–60 किग्रा. नत्रजन 30–40 किग्रा. फास्फोरस एवं 20–30 किग्रा. पोटाश एवं 25 किग्रा. जिंक सल्फेट प्रति हेक्टेयर देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation): जौ की फसल सामान्यतः हल्की एवं दोमट मिट्टी में 4–5 सिंचाइयों और भारी मिट्टी में 2–3 सिंचाइयों की आवश्यकता पड़ती है। बुआई के 25–30 दिन बाद पहली सिंचाई दें इसके बाद आवश्यकतानुसार सिंचाई करते रहें। फूल आने एवं दाने की दूधिया अवस्था में पानी की कमी नहीं होनी चाहिए अन्यथा उपज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। नहरी क्षेत्र में प्रथम सिंचाई 25–30 दिन बाद दूसरी 65–70 दिन बाद एवं तीसरी 100–110 दिन बाद करें।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : प्रथम सिचांई के बाद 1 बार 30–35 दिन पर निराई गुड़ाई कर देनी चाहिए। खरपतवारों का रासायनिक नियंत्रण गेंहूँ की फसल के समान करना चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : जौ की फसल में पादप संरक्षण गेहूँ की फसल की तरह ही करना चाहिए जौ की फसल के रोगों एवं कीटों की समानता गेहूँ की फसल की तरह ही होती है।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : जौ की फसल की कटाई मार्च अप्रेल में जब फसल के पौधे एवं बालियाँ सूख कर पीली या भूरी पड़ जाये तो कटाई कर लेनी चाहिए। अधिक पकने पर बालियाँ गिरने की आशंका अधिक हो जाती है। फसल की कटाई करने के बाद अच्छी प्रकार सूखा कर थ्रेसर द्वारा दाने को भूसे से अलग कर देना चाहिए।

उपज (Yield) : उन्नत विधि से खेती करने पर एक हेक्टेयर में 35–40 क्विंटल दाने की एवं 50–55 क्विंटल भूसे की उपज प्राप्त की जा सकती हैं। असिंचित क्षेत्र में 15–20 क्विंटल दाना व 25–30 क्विंटल भूसा प्रति हेक्टेयर प्राप्त होता है ।

6.2 दलहनी फसलें (Pulse Crops)

उड़द – (Black gram or Urd bean)
वानस्पतिक नाम –विग्ना मुंगो एल. (*Vigna mungo* L.)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : उड़द दाल के लिए उगाया जाता है दलहनी फसल होने के कारण वायुमण्डलीय नाइट्रोजन को मृदा में संचयन करने की क्षमता होती हैं। उड़द को पीसकर पापड़, विभिन्न व्यंजन भी बनाये जाते हैं। उड़द में 24 प्रतिशत प्रोटीन होती हैं। इसका चारा पशुओं के लिए पौष्टिक होता हैं। उड़द का उत्पति स्थान भारत वर्ष माना जाता है राजस्थान में इसकी खेती कोटा, उदयपुर खण्ड, सवाई माधोपुर, अलवर, भरतपुर जिलों में की जाती हैं।

जलवायु (Climate) : उड़द उष्ण कटिबन्धीय पौधा है, इसे आर्द्र एवं गर्म जलवायु की आवश्यकता होती है राजस्थान में इसकी खेती मुख्यतया वर्षा ऋतु में की जाती है 40–60 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्र उड़द खेती के लिए उपयुक्त माने जाते हैं। पौधों की वृद्विके लिए 21^{0}–30^{0} सेल्सियस तापमान उपयुक्त मान जाता है।

मृदा (Soil) : उड़द की खेती के लिए अच्छे जल निकासयुक्त सभी प्रकार की मृदाएँ उपयुक्त हैं, लेकिन अच्छी उपज के लिए दोमट., चिकनी दोमट मृदा सर्वोतम रहती है, जिसका पी.एच. मान 7–8 के मध्य हो।

भूमि की तैयारी (Field preparation) : एक जुताई मिट्टी पलटलने वाले हल से तथा दो जुताई देशी हल से या हैरो से करके पाटा लगा कर खेत तैयार किया जाना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : कृष्णा, टी–9, पन्तयू–19, पन्तयू–30, बरखा, जवाहर उड़द–2, एल. बी. जी. 20।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : उड़द की शुद्ध फसल के लिए 15–20 किग्रा तथा मिश्रित फसल के लिए 8–10 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर की दर से आवश्यकता होती है। बुआई से पूर्व प्रति किलो बीज 3 ग्राम थायरम या 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम से उपचारित करने के बाद अन्य दलहनों की तरह राइजोबियम कल्चर से उपचारित करके बुआई करनी चाहिए ।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : फसल वर्षा प्रारम्भ होने पर 15 जून से 15 जुलाई के मध्य कर देनी चाहिए। उड़द की फसल की बुआई पंक्तियों में पक्ति से पंक्ति की दूरी 30 सेमी व पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. पर एवं बीज को 4–5 सेमी. गहराई पर बोते हैं।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : उड़द दलहनी फसल है इसके लिए नाइट्रोजन 20 किग्रा., फास्फोरस 60 किग्रा. व पोटाश 30 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से दी जाती है।

सिंचाई (Irrigation) : उड़द की फसल को कम पानी की आवश्यकता होती है। समय पर वर्षा न होने पर 2 सिंचाई की आवश्यकता होती है। विशेष कर पुष्पावस्था एवं दाने बनते समय खेत में उचित नमी होना अति आवश्यक हैं।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : फसल से खरपतवारों को नष्ट करने के लिए 15–30 दिन के बीच एक दो निराई गुडाई करनी चाहिए जिससे वायु संचार होने से पौधों की ग्रंथियों में कियाशील जीवाणुओं द्वारा वायु मण्डलीय नत्रजन एकत्रित करने में सहायता मिलती है । रासायनिक नियंत्रण हेतु खेत तैयार करते समय बुआई से पूर्व पेण्डीमिथलीन 3 लीटर या एलाक्लोर (लासो) 2 लीटर को 500 लीटर पानी में मिलाकर बोने के बाद व अंकुरण से पूर्ण भूमि में फ्लेटफेन नोजल युक्त पम्प से मिलायें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : उड़द की फसल में पादप संरक्षण मूंग की फसल के समान ही होता है

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : उड़द की फसल किस्म के अनुसार 80–100 दिन में पक कर तैयार हो जाती है। जब 70–80 प्रतिशत फलियां पक जाती है तो कटाई कर ली जाती है। कटाई हँसिया/दाँतली से की जाती हैं। फसल को 6–7 दिन तक सुखाकर मढ़ाई कर लेते हैं। मढ़ाई थ्रेसर से करते हैं।

उपज (Yield) : उन्नत विधि से खेती करने पर 8–10 क्विंटल उपज प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती हैं।

मूंग *(Greengram or Mungbean)*

वानस्पतिक नाम –विगना रेडियेटा एल. *(Vigna radiata L.)*

कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : राजस्थान में खरीफ की दालों में मूंग सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। मूंग का उपयोग दाल के अलावा नमकीन, मिष्ठान, पापड़, बड़ी, आदि बनाने में किया जाता हैं। मूंग की फसल पशुओं के लिए हरा चारा तथा हरी खाद के लिए भी उगाई जाती है। दलहनी फसल होने के कारण यह राइजोबियम जीवाणुओं द्वारा वायुमण्डलीय नाइट्रोजन को मृदा में सिंचित करने की क्षमता रखती है जिससे मृदा की गुणवत्ता बढ़ती है। मूंग में 23 प्रतिशत प्रोटीन होती है। मूंग की दाल बहुत हल्की व शीघ्र पचने वाली होती है।मूंग की उत्पति स्थान भारत वर्ष है। राजस्थान में मूंग की खेती जोधपुर, बीकानेर, गंगानगर, हनुमानगढ़, भीलवाड़ा आदि जिलों में अधिक होती है।

जलवायु (Climate): राजस्थान में मूंग की फसल वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में उगाई जाती है। यह शुष्क व गर्म जलवायु की फसल है। मूंग की खेती 20–40 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले स्थानों पर सफलतापूर्वक की जा सकती है। मूंग की फसल के लिए अधिक वर्षा हानिकारक है। मूंग के लिए 25°–35° सेल्सियस तापमान उपयुक्त रहता हैं।

मृदा (Soil) : मूंग की फसल राजस्थान की सभी प्रकार की मृदाओं में उगाई जाती है लेकिन अच्छी फसल के लिए जल निकासयुक्त दोमट मृदा सर्वोत्तम होती हैं।

खेती की तैयारी (Field preparation) : ग्रीष्म कालीन फसल बोने के लिए गेहूँ की कटाई के बाद सिंचाई कर के एक–दो जुताई कर के खेत तैयार किया जाता है पाटा लगकर मिट्टी भुरभुरी व समतल कर बुआई की जाती है खरीफ में मूंग की खेती के लिए वर्षा होते ही एक–दो जुताई करके बुआई की जाती है।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : के. 851, एम. यू.एम–2, आर.एम.जी. 62, आर.एम.जी. 268, आर.एम.जी 344 (धनु), एम.एल.267, एम.एल 131, गंगा–1, पूसा बैसाखी।

बीज दर (Seed rate) : मूंग की शुद्ध फसल बोने के लिए 15–20 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती हैं मिश्रित फसल में बीज दर 8–10 किग्रा. प्रति हेक्टेयर प्रयोग की जाती हैं।

बीज उपचार (Seed treatment) : बुआई से पूर्व प्रति कि.ग्रा. बीज को 3 ग्राम थाइरम या 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम से उपचारित करने के बाद राइजोबियम कलचर से उपचारित करें। सभी दलहनी फसलों के बीजों को राइजोबियम से उपचारित करने पर पैदावार अधिक मिलती है इसके लिए एक लीटर पानी में 250 ग्राम गुड़ गर्म करके घोल बनाएं तथा घोल के ठण्डा होने पर इसमें 600 ग्राम कल्चर मिलावें इस मिश्रण में बीज इस प्रकार मिलावें कि सभी बीजों पर इसकी परत एक सार चढ़ जाये। इसके बाद बीजों को छाया में सुखाकर शीघ्र बोने के काम में लेवें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : मूंग की बुआई 15 जुलाई से 30 जुलाई तक की जा सकती हैं जायद में मूंग की बुआई फरवरी मध्य से मार्च मध्य तक करना उपयुक्त रहता है। कतार से कतार की दूरी 30 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10 सेमी. तक रखनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : मूंग दलहनी फसल है इसके लिए 15–20 किग्रा. नाइट्रोजन, 30–40 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर बुआई से पूर्व नायले से कर देवें तभी 250 किग्रा. जिप्सम प्रति हेक्टेयर बुआई से पूर्व देने से उपज में वृद्धि होती हैं।

सिंचाई (Irrigation) : जायद मूंग में आवश्यकतानुसार 8–10 दिन के अंतराल पर सिंचाई करनी चाहिए। फली बनते समय व दाना बनते समय पानी की कमी नहीं रहनी चाहिए। खरीफ की फसल में सिंचाई वर्षा पर निर्भर करती है।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : खरपतवार निकालने के लिए 30 दिन कि फसल में निराई व गुड़ाई कर देनी चाहिए।

रासायनिक खतरवार नियत्रंण हेतु 1 किग्रा. फ्लूक्लोरेलिन को 100 लीटर पानी में घोल कर प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई से पहले छिड़काव कर भूमि मे अच्छी तरह मिला देना चाहिए।

पादप संरक्षरण (Plant protection) : मोयला, सफेद मक्खी, फली छदेक,पत्ती बीटल के लिए मोनोक्रोटोफोस 36 डब्ल्यू.ई.सी. या मिथाइलडेमाटोन 25 ई.सी. 1.25 लीटर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें। आवश्यक होने पर 15 दिन के अन्दर दोबारा छिड़काव कर देना चाहिए।

रोग–चित्ती जीवाणु रोग : इसके रोकथाम के लिए एग्रोमाइसीन 200 ग्राम या स्ट्रेप्टोसाइकिलीन 50 ग्राम को 500 लीटर पानी में घोल बनाकर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें।

पीत शिरा मोजेक : यह रोग एक मक्खी के कारण होता है। इसके लिए मिथाइलडेमाटोन 0.25 प्रतिशत व मेलाथीयान 0. 1 प्रतिशत का घोल बनाकर छिड़काव करना चाहिए।

तना झुलसा रोग : बुआई के 30–35 दिन के बाद 2 किग्रा. मेन्कोजेब प्रति हेक्टेयर कि दर से 500 लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करना चाहिए।

सरकोस्पोरा पत्ती धब्बा रोग : इसके नियत्रंण के लिए कार्बेंडाजिम 2 ग्राम या केप्टान 3 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित कर बोना चाहिए, तथा फसल में 1 ग्राम प्रति लीटर पानी में घोल बना कर छिड़काव करना चाहिए।

पीलिया : इसके नियंत्रण हेतु गंधक का तेजाब या 0.5 प्रतिशत फेरस सल्फेट का छिड़काव करना चाहिए।

छाछिया रोग/चूर्णी फफूंद : इस रोग में पत्तियों के ऊपर सफेद गोलाकार चूर्ण जैसे धब्बे होते हैं। पत्ती छोटी रह कर पीली पड़ जाती हैं। नियंत्रण हेतु प्रति हेक्टेयर 2.5 किग्रा. घुलन शील गंधक या कैराथेन एक लीटर का पहला छिड़काव रोग के लक्षण दिखाई देने पर एंव दूसरा छिड़काव 10–15 दिन के अन्तर पर करें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : मूंग की फलियाँ जब पीली, काली पड़ने लगे तथा सूख जायें तो कटाई कर लेनी चाहिए, अधिक सूखने पर फलियाँ चटकने का डर रहता है। ग्रीष्म ऋतु की फसल की फलियाँ 2–3 बार पूरी तोड़ ली जाती है उसके बाद फर्श पर सुखाकर मढ़ाई कर दाना अलग कर लेना चाहिए या थ्रेसर द्वारा या डंडे द्वारा भी अलग किया जा सकता है ।

उपज (Yield) : मूंग की उपज 8–10 क्विंटल प्रति हेक्टेयर होती हैं। अच्छी तरह सुखाकर (8–10 प्रतिशत नमी) एवं स्वच्छ भण्डार गृह में रखना चाहिए।

मोठ (Moth bean)

वानस्पतिक नाम–विग्ना एकोनिटीफोलिया (जैक) (*Vigna aconitifolia*) (Jacq)

कुल– फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : खरीफ की दलहनी फसल है मोठ का पौधा मृदा कटाव को रोकने वाला होता हैं। मोठ की हरी फलियों की पौष्टिक सब्जी बनती है। तथा हरे पौधे चारे के रूप में काम आते है। मोठ का सूखा चारा स्वाद की दृष्टि से पशुओं द्वारा बहुत पसन्द किया जाता है। इसमें 18 से 22.5 प्रतिशत प्रोटीन पाया जाता है। मोठ सेवनी बीकानेरी भुजिया अपने स्वाद के लिए देश विदेश में प्रसिद्ध है। मोठ की दाल व दाल से बनी 'बड़ी' भोजन के रूप में काम ली जाती है। मोठ का उत्पति स्थान भारत है। राजस्थान में चूरू, बीकानेर, नागौर, जोधपुर और बाड़मेर मोठ उगाने वाले मुख्य जिले हैं।

जलवायु (Climate) : मोठ की फसल के लिए गर्म और शुष्क मौसम की आवश्यकता होती है इसमें सूखा सहन करने की क्षमता होने के कारण यह देश में कम वर्षा वाले क्षेत्रों में उगाई जाती हैं। मोठ फसल की बढ़वार व विकास के लिए औसतन 25^{0}–30^{0} से.ग्रे. तापमान उपयुक्त समझा जाता हैं।

मृदा (Soil) : मोठ की खेती के लिए बलुई दोमट, दोमट भूमि सर्वोतम होती है। भूमि में जल निकास की उचित व्यवस्था होनी चाहिए ।

भूमि की तैयारी (Field preparation) : मोठ की खेती के लिए पहली जताई मिट्ठी पलटने वाले हल से या तवेदार हैरो चलाकर करनी चाहिए फिर एक क्रास जुताई हैरो एवं एक जुताई कल्टीवेटर से कर पाटा लगाकर भूमि समतल कर लेना चाहिए ।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : आर.एम. ओ–40, आर.एम.ओ–225 (मरू वरदान), काजरी मोठ–1, काजरी मोठ–3, आर.एम.ओ–257, आर.एम.ओ–423, आर.एम. ओ–435 (मरू बहार), विकास, ज्वाला, जडिया ।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : मोठ की शुद्ध फसल के लिए 10 किग्रा. बीज प्रति हैक्टेयर चाहिए। मिश्रित फसल कें 4–5 किग्रा. प्रति हेक्टेयर। बीज बुआई से पूर्व स्टेप्टोसाइक्लिन 100 पी.पी.एम. पानी के घोल में 1 घण्टे तक भिगोने के बाद केप्टाफ 75 एसडी 2 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर सें उपचारित करना चाहिए तथा बुआई पूर्व 0. 5 ग्राम थायोयूरिया प्रतिलीटर पानी घोल में या 5 ग्राम थायोयुरिया + 1 मिली. डी.एम.एस.ओ. प्रति 10 लीटर पानी में घोल बनाकर 4–5 घण्टे भिगोकर (सुखायें) इसके बाद राइजोबियम कल्चर से मूंग की तरह बीजोपचार कर बुआई करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : मोठ की बुआई मानसून की वर्षा शुरू होने से लेकर 15 अगस्त तक की जा सकती हैं। बुआई कतारो मे करनी चाहिए। कतार से कतार की दूरी 45 सेमी. एवं पौधे से पौधे की दूरी 15–20 सेमी. रखनी चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : मोठ दलहनी फसल है। 10 किग्रा नाइट्रोजन एवं 30 किग्रा फास्फॉरस बुआई के समय देना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : मोठ के लिये अधिक पानी की आवश्यकता नही है। वर्षा न होने पर 1–2 हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए।

अत्तरा कृषि (Inter cropping) : मोठ की फसल 30 दिन की होने तक निराई गुड़ाई कर देनी चाहिए। मोठ की शुद्ध फसल में खरपतवार नियत्रंण हेतु बुआई से पूर्व 1 किग्रा. फ्लूक्लोरेलिन 1000 लीटर पानी में मिलाकर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव कर मिट्टी में अच्छी प्रकार मिला देवें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कातरा कीट एंव चित्ती जीवाणु रोग, पीत शिरा मौजेक रोग, सूखा जड़ गलन रोग की रोकथाम के उपाय मूंग की फसल की तरह ही है।

कटाई व मढ़ाई (Harvesting and threshing) : मोठ की फसल अक्टूबर या नवम्बर के प्रथम सप्ताह में पक कर तैयार हो जाती है। फलियाँ फसल पकने पर भूरी तथा पौधा पीला पड़ जाये तो फसल काट लेनी चाहिए। अच्छी तरह सूखने के बाद थ्रेसर से दाने अलग कर लिये जाते हैं।

उपज (Yield) : मोठ की उन्नत खेती करने पर 6–8 क्विंटल दाने एंव 8–10 क्विंटल सूखा चारा प्रति हेक्टेयर उपज होती है।

अरहर – (Pigeon pea) (Red gram)
वानस्पतिक नाम–कैजानस केजान एल.
(Cajanus cajan L.)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : दलहनी फसलों में अरहर का चने के बाद दूसरा स्थान है। अरहर की दीर्घकालीन प्रजातियों से 200 किग्रा. तक वायुमण्डलीय नाईट्रोजन का स्थीरकरण कर मृदा उर्वरक एवं उत्पादकता में वृद्धि करती है। अरहर में 20–21 प्रतिशत तक प्रोटीन पाई जाती है। अरहर की उत्पति कुछ विद्वानों के अनुसार शरत तथा कुछ विद्वानों के अनुसार अफ्रीका में नील नदी का उपरी शग है। राजस्थान में इसकी खेती मुख्यतः बांसवाड़ा, झालावाड़, धौलपुर, उदयपुर, चितौड़गढ़ व कोटा जिलों में होती है।

जलवायु (Climate) : आर्द्र एवं शुष्क दोनों प्रकार की गर्म जलवायु वाले क्षेत्रों में अरहर की खेती की जा सकती है। अरहर की खेती के लिये 75 से 100सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्र श्रेष्ठ हैं। पौधों पर फूल आते समय व फलियाँ बनते समय तेज धूप की आवश्यकता होती है। फसल पकते समय पाला पड़ना व तेज धूप वर्षा हानिकारक हैं।

मृदा व भूमि की तैयारी (Soil and field preparation) : अरहर के लिये जल निकास युक्त दोमट या चिकनी दोमट एवं कपास की काली मिट्टी उपयुक्त है। मृदा का पी एच मान 6.5 से 7.5 तक होना चाहिए। एक गहरी जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से करते हैं, तत्पश्चात दो से तीन जुताई हैरो या

कल्टीवेटर या देशी हल से करते हैं।

उन्नत किस्में (Improved Varieties) : शीघ्र पकने वाली किस्में पूसा 120, पुसा 855, पुसा 33, पुसा अगेती, प्रभात, आजाद, दुर्गा (आई.सी.पी.एल.–84031), प्रगति(आई.पी.एफ. –87), जाग्रती (आई.पी.एफ.–151) ।

मध्यम समय में पकने वाली किस्में : टाईप–21, जवाहर अरहर –4, आशा (आई.सी.पी.एल.– 87119) ।

देर से पकने वाली किस्में : बहार, पुसा–9 ।

हाइब्रिड किस्में : पी.पी.एच– 4, आई,सी.पी.एच.–8 ।

बीज एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : अरहर में बीज किस्म एवं बुआई कें समय पर निर्भर करती है। अरहर की शुद्ध फसल के लिये 15 किग्रा. व मिश्रित के लिये 6–8 किग्रा. प्रति हेक्टेयर बीज की आवश्यकता होती है। कवक जनित रोगों के लिए ट्राइकोडर्मा 4 ग्राम प्रति किलो बीज की दर से उपचारित करते हैं। तत्पश्चात 4–5 मिली. क्लोरपायरीफॉस से प्रति किलो बीज को उपचारित करते है।

बीजो को राइजोबियम कल्चर से उपचारित करना : मूंग की फसल की तरह करें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कीट नियंत्रण – फल मक्खी, फली छेदक, पत्ती लपेटक हेतु क्युनालफॉस या इन्डोसल्फाकन 35 इसी 20 मिली., मोनोक्रोट्रोफॉस 30 WSC 11 मिली,. प्रति 10 लीटर पानी में घोलकर 1000 लीटर घोल प्रति हेक्टेयर का छिड़काव करना चाहिए।

रोग नियंत्रण : उखटा रोग व झुलसा कवक जनित रोग है, इसमें पौधे की जड़े काली पड जाती हैं। इसके लिये रोग प्रतिरोधी किस्म आशा , वी.एस.एम.आर. 175, वी.एस.एम.आर. 736 का चयन करना चाहिए। मौजेक में वाहक कीट नियंत्रण के लिये मेटासिस्टोक्स का छिड़काव करें।

कटाई मढ़ाई (Harvesting and threshing) : शीघ्र पकने वाली किस्मों की नवम्बर–दिसम्बर व देर से पकने वाली किस्मों की मार्च अप्रैल में कटाई की जाती है। कटाई हंसिये या गंडासे से 10 सेमी. उँचाई से की जाती हैं। फसल को एक सप्ताह सुखाकर पुलमैन थ्रैसर द्वारा या डण्डे से पिटाई करके दानों को भूसे से अलग कर लेते हैं।

उपज (Yield) : उन्नत विधि से खेती करने पर 15–20 क्विंटल दाना व 50–60क्विंटल लकड़ी प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती हैं।

चंवला (लोबिया) (Cow pea)
वानस्पतिक नाम – विग्ना अंगुईकुलटा एल.
(Vigna unguiculata L.)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : राजस्थान में चंवला की खेती दाने, हरी सब्जी खाद व हरे चारे के लिये की जाती है। इसके दानों में लगभग 23 प्रतिशत प्रोटीन होती है। इसकी उत्पति स्थान मध्य अफ्रीका मानते हैं। राजस्थान में चंवला की खेती अलवर, भरतपुर, जयपुर, श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़, झालावाड़, झुंझुनू, आदि जिलों में होती है।

जलवायु (Climate) : चंवला ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु में उगाई जाने वाली फसल हैं। चंवला में सूखा व गर्मी सहन करने की क्षमता अधिक होती हैं। 70–100 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले स्थान पर आसानी से उगाया जा सकता है। इसके लिये 31° से 37° सेल्सियस तापमान उपयुक्त रहता है।

मृदा एंव भूमि की तैयारी (Soil and field preparation) : इसके लिये जल निकास युक्त दोमट एंव हल्की दोमट उपयुक्त रहती है। वर्षा होते ही 1–2 जुताई कर पाटा चलाकर खेत तैयार कर लेते हैं।

उन्नत किस्में (Improved varieties) :– आर.एस.–9, सी.152, एफ.एस 68, आ.सी.19, जे.सी.5, एफ.टी.सी.27, आर.सी. 101, जेसी.10 ।

बीज दर एंव बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : चंवला की शुद्ध फसल 15–20 किग्रा. मिश्रित के लिये 8–10 किग्रा. चारे के लिये (ग्रीष्मकालीन) 25–30 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त है। बीज का बुआई से पूर्व 3 ग्राम थाइरम या कैप्टान प्रति किलो बीज की दर से उपचारित करना

चाहिए तत्पश्चात राइजोबियम शाकाणु (कल्चर) से बीज उपचारित कर बोना चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : चंवला की बुआई मानसुन की वर्षा शुरू होने से लेकर 30 जुलाई तक की जा सकती है। पंक्ति से पंक्ति की दुरी 30 सेमी. तथा पौधे से पौधे कि दूरी 10 सेमी. रखना चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : इसके लिये 30–40 किग्रा. फास्फोरस, 15–20 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के समय नायले से देना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : वर्षा न होने पर 15–20 दिन के अन्तर पर 2 सिंचाई कर पुष्पावस्था व फलियाँ बनते समय पानी की कमी नही हो। ग्रीष्मकालीन फसल में आवश्यकतानुसार 8–10 दिन के अन्तर पर सिंचाई की जानी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : दाने वाली फसलों की निराई–गुड़ाई 25–30 दिन बाद कर देनी चाहिए। हरे चारे वाली फसल में निराई–गुड़ाई की कोई विशेष आवश्यकता नही होती है। खरपतवारों का रासायनिक नियंत्रण मूंग व मोठ की तरह करना चाहिए ।

पादप सरंक्षण (Plant protection) : चंवला की फसल मे मोयला का प्रकोप होने पर मैलाथियान (50 ईसी) 1 लीटर या फास्कोमिडोन 250 मिली. या 1 लीटर डाइमिथोएट 100 लीटर पानी मे घोलकर छिड़काव करें।

शुष्क मूल विगलन रोग : इस रोग मे पत्तिया पीली पड़ जाती है। रोकथाम के लिए क्विंटोजीन 8 कि.ग्रा प्रति हेक्टेयर का प्रयोग करें।

छछिया रोग/चुर्णी फूफंद : इसमें पत्तियाँ पर सफेद चूर्ण के धब्बें दिखाई देते हैं। रोग के निवारण हेतु 2.5 कि.ग्रा घुलनशील गंधक या केरेथान 1 लीटर घोल का छिड़काव रोग के लक्षण दिखाई देने पर कर देना चाहिए।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : चंवला की फसल किस्मानुसार 70–100 दिनो मे पककर तैयार होती हैं। फलियों कों झड़कर गिरने से होने वाली हानि को रोकने के लिए फलियों के पूरी तरह पकने पर झड़ने से पूर्व अर्थात 70–80 प्रतिशत फलियाँ पकने पर हंसियें या दँताली से कटाई कर लेनी चाहिए और 8–10 दिन खलियान में सुखाकर डण्डे से पीटकर या थ्रसेर से दानो को अलग कर लेना चाहिए।

उपज (Yield) : वर्षा कालीन फसल से 5–8 क्विंटल, खरीफ फसल से 8–10 क्विंटल प्रति हेक्टेयर दाना तथा 100–150 क्विंटल हरा चारा प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त होती है।

चना – (Gram or chick pea)

वानस्पतिक नाम –साइसर ऐरेटिनम एल. (*Cicer arietinum* L.)

कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : चना रबी ऋतु मे उगायी जाने वाली भारतीय महत्वपूर्ण दलहन फसल है। विश्व के कुल उत्पादन का 70 प्रतिशत भारत में होता हैं। चने में 21 प्रतिशत प्रोटीन होता है। चने का उपयोग इसके दाने, दाने से बनी दाल के रूप में खाने के लिए किया जाता है। चने के दानों को पीस कर बेसन बनाया जाता है जिससे अनेक प्रकार के व्यंजन व मिठाइयाँ बनाई जाती हैं। डीकेन्डोल के अनुसार चने का जन्म स्थान भारतवर्ष है, राजस्थान में चने की खेती जयपुर, सीकर, अजमेर, भरतपुर, अलवर, झंझुनू, श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़, बीकानेर सहित राज्य के सभी जिलों में की जाती है ।

जलवायु (Climate) : चना ठण्डी शुष्क जलवायु की फसल है। चना की खेती 65–95 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रो में की जाती है फसल में फूल आते समय वर्षा से भारी नुकसान होता है। सर्दी दीर्घ अवधि तक रहे उचित है, अधिक ठण्ड बढ़वार व पकते समय हानि कारक रहती है। फसल पकते समय उच्चताप की आवश्यकता है ।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : चने की खेती के लिए हल्की दोमट या दोमट मिट्टी अच्छी होती है। भूमि में जल निकास कि उचित व्यवस्था होनी चाहिए। भूमि अधिक क्षारीय नही (मृदा पी.एच.मान 7–8.5 तक) होनी चाहिए। फसल को दीमक व कटवर्म के प्रकोप से बचाने के लिए अन्तिम जुताई के समय क्यूनॉलफॉस (1.5 प्रतिशत) मिथाइल पैराथियान (2 प्रतिशत) 25 किग्रा. मात्रा को प्रति हेक्टेयर की दर से मिट्टी में अच्छी तरह मिला देना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : आर.एस. 10, आर.एस. 11, बी.जी. 209 (पूसा 209), जी.एन.जी. 663 (बरदान), जी.एन.जी. 469 (सम्राट), बी.जी.362, जी.एन.जी. 1292, प्रताप चना–1 इत्यादि।

बीजदर एंव बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : चने की देशी किस्में की बुआई हेतु 60–80 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती हैं।

बीजोपचार :

1. जिन क्षेत्रों में दीमक व भूमिगत कीटों का प्रकोप होता है वहाँ बीजों को क्लोरपायरीफॉस 20 ई.सी 800 मिली. का पानी में घोल बानकर 100 किग्रा. बीज की दर से बीज उपचार करना चाहिए।
2. जड़गलन व उखटा रोग रोकथाम हेतु बीजों को 6–10 ग्राम ट्राडकोडर्मा या कार्बेण्डाजिम 2 ग्राम या कार्बेण्डाजिम 1.5 ग्राम प्रति किग्रा. बीज दर से बीज को उपचारित करना चाहिए।
3. बीजो का शाकाणु संवर्ध या पी.एस.बी. कल्चर से उपचारित करने से उपज में वृद्धि होती है एवं जड़ों में वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का संचयन होने से मृदा की उर्वरता बढ़ती है। इसके लिए 250 ग्राम गुड़ को 1 लीटर पानी में गर्म कर घोल ठण्डा होने पर उसमे 3 पैकट (750 ग्राम) राइजोबियम कल्चर व फॉस्फोरस घुलनशील जीवाणु को अच्छी प्रकार मिलाकर उसमे बीज उपचारित करना चाहिए उपचारित बीज को छाया में सुखाकर शीघ्र बुआई कर देनी चाहिए।

बुआई का समय एंव बुआई की विधि (Time of sowing and method) : असिंचित क्षेत्र में चने की बुआई अक्टूबर के प्रथम सप्ताह में कर देनी चाहिए। सिंचित क्षेत्र में चने की बुआई 30 अक्टूबर तक अवश्य कर देनी चाहिए। पंक्ति से पंक्ति की दूरी असिंचित 30 सेंमी. व सिंचित में 45 सेंमी. रखनी चाहिए, तथा बीज की गहराई 5–7 सेंमी. रखकर बुआई कर देनी चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : अच्छी उपज के लिए 2.5–3 टन गोबर की खाद या कम्पोस्ट भूमि तैयारी के समय बुआई से 15–20 दिन पूर्व अन्तिम जुताई पर भली प्रकार से मिला देना चाहिए। दलहनी फसल होने कारण नाइट्रोजन की कम आवश्यकता होती है। चने के पौधे की जड़ों में पाई जाने वाली ग्रन्थियों में उपस्थित जीवाणु वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का जड़ों में स्थिरीकरण कर नाइट्रोजन की काफी मात्रा में पूर्ति कर लेते हैं, लेकिन प्रारम्भिक अवस्था में जड़ विकास के लिए 20 किग्रा. नाइट्रोजन, 40 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के समय खेत में ऊर कर देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : चने की अधिकतर खेती बारानी क्षेत्रों में संचित नमी में की जाती है। यदि सिंचाई की सुविधा हो तो नमी की कमी होने पर या वर्षा के अभाव में एक दो सिंचाई की जा सकती है पहली सिचाई 40–50 दिन बाद तथा दूसरी सिंचाई फलियाँ आने पर करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : चने में निराई गुड़ाई करने से भूमि में वायु संचार बढता हैं, प्रथम निराई गुड़ाई बुआई के 25–30 दिन बाद करनी चाहिए आवश्यकता होने पर दूसरी निराई–गुड़ाई पहली निराई गुड़ाई के 20–25 दिन बाद करनी चाहिए।रासायनिक खरपतवार नियंत्रण हेतु बुआई से पूर्व आधा किग्रा. फ्लूक्लोरेलिन 750 लीटर पानी में घोलकर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करके भूमि में अच्छी तरह मिलाकर चने की बुआई करें।

पौधों की चुटाई : चने के पौधे जब 20–25 सेंमी. ऊँचे हो जाये हो तो उनकी शीर्ष शाखाएँ तोड़ने से शाखाएँ अधिक निकलती है, तथा फूल व फल अधिक लगते हैं। इससे पैदावार में वृद्धि होती है।

पादप संरक्षण (Plant protection) :

कीट एंव रोग नियंत्रण :

दीमक, कटवर्म एंव वायर वर्म : इनके नियंत्रण हेतु मिथाइल पेराथियान 2 प्रतिशत या क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण की 25 किग्रा. मात्रा को प्रति हेक्टेयर की दर से भुरकाव सांयकाल करना चाहिए।

फली छेदक : इसके नियंत्रण हेतु फूल आने से पूर्व तथा फली लगने के बाद एण्डोसल्फान 4 प्रतिशत या क्युनालफॉस 1.5 प्रतिशत या मिथाइल पैराथियॉन 2 प्रतिशत चूर्ण की 25 किग्रा. मात्रा की प्रति हेक्टेयर की दर से बुरकनी चाहिए।

झुलसा रोग (ब्लाईट) : इसके लिए मैन्कोजेब फंफूदनाशी की 1 किग्रा. या घुलनशील गंधक 1 किग्रा या कॉपरआक्सी क्लोराइड की 1.30 किग्रा. मात्रा को 500 लीटर पानी में बनाकर छिडकाव करना चाहिये। 10 दिनों के अन्तराल पर 2–3 छिड़काव करने चाहिए।

उखटा रोग (विल्ट) : रोगरोधी किस्मे जैसे आर.एस.जी. 888ए, सी 235, बीजी 256 आदि की बुआई करनी चाहिए।

पाले से बचाव : इससे बचाने के लिए गंधक के तेजाब की 0.1 प्रतिशत मात्रा यानी एक लीटर गंधक के तेजाब को 1000 लीटर पानी में घोलकर छिडकाव करना चाहिए। खेत के चारो ओर धूआँ कर देना लाभदायक रहता है।

कटाई व मढ़ाई (Harvesting and threshing) : जब फसल पक कर तैयार हो जाती है तो हँसिये से फसल की कटाई कर ली जाती है। फसल को एक सप्ताह तक सुखाकर थ्रैसर या ट्रैक्टर से मढ़ाई कर दाने अलग कर लेते हैं। दानों को तेज हवा या बिनोवर चलाकर साफ कर लेते हैं।

उपज (Yield) : असिंचित क्षेत्रों में 8–12 क्विंटल व सिंचित क्षेत्रो में 15–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर होती है।

6.3 तिलहनी फसलें (Oil Seed Crops)

मूंगफली – (Groundnut)

वानस्पतिक नाम –अरेकिस हाइपोजिया एल. *(Arachis hypogea L.)*

कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : मूंगफली तिलहनी फसलों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। मूंगफली का उपयोग कई प्रकार से किया जाता है जैसे तेल, बीज, घरेलू उपयोग एवं निर्यात। यह खाद्य तेल का बहुत ही अच्छा स्रोत हैं। दानों में 48–55 प्रतिशत तेल, 27 प्रतिशत प्रोटीन व 10–21 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट पायी जाती है। इसके तेल का उपयोग सौन्दर्य प्रसाधनों, साबुन क्रीम आदि में किया जाता है। मूंगफली का उत्पत्ति स्थान अधिकांश विद्वानों के अनुसार (दक्षिणी अमेरिका है कुछ विद्वान ब्राजील को मानते हैं। राजस्थान में मूंगफली की खेती चित्तौड़गढ़, सवाई माधोपुर, जयुपर, टोंक, बीकानेर, सीकर, झुंझुनू आदि जिलों में की जाती हैं। राजस्थान में 8 लाख टन उत्पादन, क्षेत्रफल 4.14 लाख हेक्टेयर।

जलवायु (Climate) : मूंगफली उष्णकटिबंधीय जलवायु का पौधा होने के कारण इसे लम्बे एवं गर्म मौसम की आवश्यकता होती है। उत्तरी भारत व राजस्थान में मूंगफली की खेती खरीफ ऋतु में की जाती है। मूंगफली को 50–100 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में उगाया जा सकता है। इसकी वृद्धि के समय 27^{0}–30^{0} सेल्सियस तथा प्रजनन के लिए 24^{0}–27^{0} सेल्सियस तापमान उपयुक्त होता है। राजस्थान में कम वर्षा वाले क्षेत्रों में सिंचित फसल के रूप उगाई जाती है। फूल आने के बाद पौधों को पर्याप्त नमी व प्रकाश मिलते रहना चाहिए।

मृदा (Soil) : मूंगफली के लिए अच्छे जल निकास युक्त बलुई, बलुई दोमट मृदा श्रेष्ठ रहती है। मृदा का पी.एच. मान 6–8.5 होना चाहिए ।

खेत की तैयारी (Field preparation) : मूंगफली जमीन के अन्दर लगती है। इसलिए बोने से पहले 2–3 बार अच्छी गहरी जुताई करनी चाहिए और पाटा चलाकर मिट्टी भुरभुरी कर लेनी चाहिए भूमिगत कीटो को नष्ट करने के लिए अन्तिम जुताई के समय 25 किग्रा. मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत या क्युनालफॉस 1.5 प्रतिशत प्रति हेक्टेयर प्रयोग करना चाहिए ।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : मूंगफली के आकार प्रकार के अनुसार किस्मों को तीन वर्गो मे बाँट सकते हैं–

I. **झुमका या गुच्छेदार :** इस वर्ग के पौधे भूमि से ऊपर सीधे गुच्छो मे बढ़ते है। फलियाँ मुख्य जड़ के पास ही लगती है। दाना गुलाबी या लाल रंग का होता है तथा जल्दी पकने वाली होती है। इनकी उपज फैलने वाली किस्मों से कम होती है। ये भारी मृदाओ के लिए उपयुक्त होती है

II. **विस्तार :** इन पौधो की शाखायें जमीन के समानान्तार फैलती हैं। मूंगफली दूर–दूर लगती है दाना मोटा तथा भूरे रंग का होता है पकने में समय अधिक लगता है। ये किस्में रेतीली व दोमट मृदाओ के लिए उपयुक्त होती हैं।

III. **अर्द्ध विस्तारी :** इन पौधो की शाखायें कम फैलने वाली होती हैं यह गुच्छेदार व विस्तारी के बीच की किस्में हैं। यह मध्यम उपज देने वाली होती हैं।

राजस्थान के लिए उपयुक्त किस्मे निम्न प्रकार है –ए.के. 12–24, ए.एच–114, जी.जी.2, जी.जी.20, गिरनार –2 (पी.बी. एस 24030), एच.एन.जी.10, एच.एन.जी.123, जे.एल.24, एम.13, प्रताप मूंगफली आर.जी–141, आर.जी.382 (दुर्गा), आर.जी.425 (राज.दुर्गा), आर.जी. 510, आर.एस.बी 87, टी.ए.जी.–24, टी.जी. –37 ए , टी.बी.जी.39, टी.जी.39 ।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : मूंगफली का बीज 80 से 100 किग्रा प्रति हेक्टेयर की दर पर्याप्त होता है। बीज का दाना (गुली) 10–12 दिन पूर्व निकालना चाहिए। बीजोपचार के लिए प्रति किलो बीज 3 ग्रा. क्लोरोथेलीनील या 6–10 ग्राम ट्राइकोडर्मा से इस के बाद प्रति किलो बीज 25 मिली क्लोरोपायरीफॉस 20 ईसी से तथा अंत में प्रति हेक्टेयर बीजों के लिए राइजोबियम व पीएसबी कल्चर प्रत्येक के 3 पैकेट से उपचारित करे।

बुआई का समय एवं बुआई की विधि (Time of sowing and sowing method) : मूंगफली की अगेती बुआई 15–20 जून, समय पर बीजाई 20 जून से 15 जुलाई पिछेती बुआई जुलाई 31 तक। मूंगफली की बुआई कतारों में फैलने वाली किस्म की पंक्ति से पंक्ति की दूरी 40–45 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 15 सेमी. तथा गुच्छेदार किस्म की पंक्ति से पंक्ति की दूरी 30 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10 सेमी. होनी चाहिए। बीज की गहराई 5–7 सेमी. रखनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) :

1. बुआई से 4 सप्ताह पूर्व प्रति हेक्टेयर 10–15टन गोबर की सड़ी हुई खाद या कम्पोस्ट खाद का प्रयोग करे।
2. बुआई से पूर्व प्रति हेक्टेयर 30–50 किग्रा यूरिया या 75 किग्रा अमोनियम सल्फेट 310–375 किग्रा एसएसपी, 40–80 किग्रा एमओपी तथा 25 किग्रा जिंक सल्फेट का उपयोग करें। सिंचाई के बाद आवश्यकतानुसार यूरिया का उपयोग करें। अंतिम जुताई से पूर्व प्रति हेक्टेयर 250 किग्रा जिप्सम की भी सिफारिश की जाती है क्योंकि कैल्शियम की कमी से मूंगफली के दानों का भराव ठीक से नहीं होता है मृदा परीक्षण के आधार पर बोरोन उर्वरक का भी प्रयोग करें क्योंकि इसकी कमी से मूंगफली के दानों के भीतर खाली स्थान रह जाता हैं। जिसे होलोहर्ट के नाम से जाना जाता है ।

सिंचाई (Irrigation) : मूंगफली ग्रीष्मकालीन फसल होने के कारण आवश्यकतानुसार सिंचाई करें। फूल आने के समय नमी आवश्यक है। वर्षा न होने (सूखा पड़ने) पर 1–2 सिंचाई करनी चाहिए। प्रथम सिंचाई बुआई के 3–4 सप्ताह पर देवें एवं अंतिम सिंचाई अक्टूबर के अंतिम पखवाड़े तक फसलावस्था अनुसार पूरी कर लें।

अंतरा कृषि (Inter cropping) : यदि खेत में खरपतवार हो तो 1–2 निराई गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देने चाहिए। अन्तिम निराई गुड़ाई 30–40 दिन तक कर देनी चाहिए उसके बाद नहीं करनी चाहिए। फसल में सुइयाँ (अधिकीलन की क्रिया) बनना प्रारम्भ होने के बाद निराई–गुड़ाई नहीं करनी चाहिए। घास कुल के खरपतवारों के प्रभावी नियंत्रण हेतु मूंगफली की खड़ी फसल में बुआई के 20–25 दिन बाद क्यूनॉलफास 5 प्रतिशत ईसी की 1000 मिली. दवा प्रति हेक्टेयर की दर से 500 ली. पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें। रेतीली भूमि के अलावा अन्य भूमियों में 30–40 दिन में जड़ों पर मिट्टी चढ़ा देनी चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कीट–दीमक, सफेद लट, लाल भड़ूली, सुरंग बनाने वाले कीट, माइट आदि मूंगफली की फसल को हानि पहुँचाते है। इनके नियंत्रण के लिए प्रति किलो बीज में 4 मिली क्लोरोपाइरीफॉस 20 ईसी दवा मिला कर उपचार करें एवं अन्य कीटों के लिए 300 मिली. मिथाइल डेमेटोन 25 ईसी या 600 मिली. फॉस्फोमिडोन 40 ईसी को 250 लीटर पानी में मिलाकर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें।

रोग : उखटा, रोजेट रोग, चित्तीदार रोग, टिक्का रोग, किट्ट रोग, जड़ गलन, अंगमारी, कालर गलन आदि से हानि होती हैं। नियंत्रण के लिए 4 किग्रा. ट्राइकोडर्मा हरजेनियम प्रति हेक्टेयर की दर से 50–60 किलो गोबर की खाद में मिलाकर 15 दिन छाया में रखकर बुआई के समय भूमि में मिला दें। जड़ गलन के लिए 100 किग्रा. म्यूरेट आफ पोटाश एवं 60 किग्रा. जिंक सल्फेट को बुआई से पूर्व भूमि में मिलाना भी लाभप्रद रहता है। टिक्का रोग में पौधों पर मटियाले रंग या भूरे गहरे रंग के दाग पड़ जाते हैं। इसके नियत्रंण के लिए आधा ग्राम कार्बेण्डाजिम प्रति लीटर पानी के घोल का या 1.5 किग्रा मैन्कोजेब का प्रति हेक्टेयर छिड़काव करें। इसके बाद 10–15 दिन के अन्तराल पर दो बार छिड़काव और करें।

छछिया रोग के लिए 3 वर्ष में एक बार 300 किग्रा. गंधक या हरा कसीस प्रति हेक्टेयर बुआई पूर्व प्रयोग करे या फसल में फूल आने से पहले गंधक अम्ल का 0.1 प्रतिशत घोल का छिड़काव दो बार करें।

कटाई (Harvesting) : मूंगफली के पकने का समय अक्टूबर 31 से 15 नवम्बर तक है जब 75 प्रतिशत फलियाँ पक जावे एवं पतियाँ पीली पड़ जाये तो खुदाई कर लेनी चाहिए। खुदाई से पहले कई स्थानों से पौधे उखाड़ कर जाँच कर लें। खुदाई से पूर्व हल्की सिंचाई कर दे जिससे फलियाँ टूट कर जमीन में नहीं रहती है खुदाई के बाद 7–10 दिन तक सुखाकर फली व पत्तियाँ अलग कर लेते हैं।

उपज (Yield) : गुच्छेदार किस्मों से 12–15 क्विंटल फैलने वाली किस्मों से 18–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त होती हैं। सिंचित क्षेत्रों में 20–40 क्विंटल प्रति हेक्टेयर उपज मिलती है। फलियों के अलावा 30–35 क्विंटल प्रति हेक्टेयर सूखा चारा भी प्राप्त होता है ।

तिल – (Sesame)

वानस्पतिक नाम –सिसेमम इन्डिकम एल.

(Sesamum indicum L.)

कुल – पेडिलिएसी (Pedaliaceae)

महत्व (Importance) : तिल एक महत्वपूर्ण फसल है, इसे तिलहन फसलों की रानी कहा जाता है। तिल के बीजों का प्रमुख उपयोग तेल तैयार करने तथा कुल उत्पादन का 20 प्रतिशत भाग बीज के रूप में खाने के काम आता है। तिल के बीजों का प्रयोग शक्कर के साथ मिलाकर तिलकुटा, रेवड़ी, गजक, आदि बनाने मे किया जाता है। तिल के बीजों में 44–54

प्रतिशत तक तेल होता है। तेल में सीसेमोल नामक पदार्थ की उपस्थिति के कारण इसे लम्बे समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है। तिल की खल पशुओं के लिए पौष्टिक आहार है, इसे खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है। उत्पति के बारे में अधिकांश विद्वान अफ्रीका तथा कुछ भारतवर्ष मानते है । राजस्थान में तिल की खेती चित्तौड़गढ, सवाई माधोपुर, उदयपुर, जोधपुर, पाली, नागौर, जालौर, टोंक, भीलवाड़ा, अजमेर जिले प्रमुख हैं।

जलवायु (Climate) : तिल उष्ण कटिबंधीय जलवायु की फसल है तिल के लिए उपयुक्त तापमान 25°–27° सेल्सियस होता है यह 50–60 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में खरीफ ऋतु में बोई जाती है। अधिक वर्षा एवं 20° सेल्सियस से नीचे तापमान उपयुक्त नहीं है लेकिन अंकुरण करने के लिए पर्याप्त नमी की आवश्यकता होती है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : तिल की अच्छी फसल हेतु रेतीली दोमट मृदा जिनका पी.एच मान 6–8 के मध्य हो उपयुक्त होती है जिसमें जल निकास की समुचित व्यवस्था हों। लवणीय व क्षारीय मृदा इसके लिए अच्छी नही हैं। यदि समय पर वर्षा न हो तो खेत मे सिंचाई करना आवश्यक है अन्यथा मानसून की पहली वर्षा आते ही एक दो जुताई देशी हल या हैरो से अच्छी प्रकार करके भूमि को पाटा लगा कर समतल व भुरभुरी कर लेते हैं।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : टी.सी.25, प्रताप (सी–50), आर.टी.–46, आर.टी.–125, आर.टी.–127, प्रगति (एन.टी 175), आर.टी.–346।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : तिल की शाखायुक्त किस्मों का बीज 2–2.5 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर तथा शाखा रहित 4–5 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है बीज जनित रोगों से बचाने के लिए बुआई से पूर्व बीज को 2 ग्राम कार्बोण्डाजिम प्रति मिली. बीज की दर से उपचारित करें। जीवाणु अंग मारी से बचाने हेतु स्ट्रेप्टोसाइकिलीन/1 ग्राम 10 लीटर पानी में घोलकर, घोल में बीजों को 15–20 मिनट तक भिगोये व छाया में सुखाकर बुआई करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : तिल की बुआई 15 जून से 15 जुलाई तक कर देनी चाहिए। देर से बुआई करने पर उपज कम होती है। तिल की बुआई हल के पीछे कतारों में 30 सेमी. की दूरी पर 3–4 सेमी. गहराई पर बुआई करनी चाहिए। कतारों में पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. रखते है। तिल की बुआई छिटकवाँ विधि से भी की जाती है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : तिल की अच्छी उपज के लिए 8–10 टन गोबर की खाद या कम्पोस्ट खाद बुआई से 1 माह पूर्व भूमि में मिला दें तथा निश्चित वर्षा वाले क्षेत्रों में 40 किग्रा. नाइट्रोजन 30 किग्रा. फॉस्फोरस पर्याप्त रहता है।

सिंचाई (Irrigation) : तिल में यदि समय पर वर्षा न हो तो फूल आते समय एक हल्की सिंचाई करना लाभदायक रहता है।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : (निराई–गुड़ाई) फसल की बुआई के लगभग 25–30 दिन बाद खरपतवार अवश्य निकाल देना चाहिए। रासायनिक नियंत्रण के लिए प्रति हेक्टेयर 0.75 किग्रा. फ्लूक्लोरोलिन 1000 लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करे।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कीट–तिल में पत्ती छेदक,लट, लीफ रोलर, कैप्सूल बोरर व जेसिड कीट का प्रकोप होता है। जिनके नियंत्रण हेतु 25 किग्रा. मिथाईल पैराथियान 2 प्रतिशत चूर्ण प्रति हेक्टेयर का बुरकाव करें या 1.5–2 मिली. मोनोक्रोटोफास 36–एस.एल. को प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव 15 दिन के अन्तर पर करें ।

रोग : मुख्य रोगों में झुलसा एवं अंगमारी, छाछिया, जड़ व तना गलन एवं पत्तियों के धब्बा रोग लगते हैं। झुलसा एवं अंगमारी के नियत्रंण हेतु मैन्कोजेब 2 ग्राम का प्रति लीटर पानी की दर से छिड़काव करें। छाछिया रोग नियंत्रण हेतु प्रति हेक्टेयर 15–20 किग्रा. गंधक चूर्ण का बुरकाव करें ।

कटाई (Harvesting) : फसल पक कर पीली पड़ जाये तो हँसिये से काटकर छोटे छोटे बण्डल बाँध ले व सूखने पर उल्टाकर बीज निकालें।

उपज (Yield) : उन्नत कृषि विधियाँ अपनाकर प्रति हेक्टेयर 6–8 क्विंटल तक पैदावार ली जा सकती है ।

सोयाबीन – (Soybean)

वानस्पतिक नाम –ग्लाइसिन मैक्स एल. (Glycine max L.)

कुल– फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : सोयाबीन एक बहुगुण सम्पन्न दलहनी एवं तिलहनी फसल है। इसके बीज में 40–43.5 प्रतिशत प्रोटीन, 19–20 प्रतिशत वसा पाया जाता है। इसका दूध रासायनिक विश्लेषण की दृष्टि से गाय के समान होता है। एन्टी बायोटिक पैदा करने वाले जीवाणुओं के लिए सोयाबीन एक मनपसन्द भोजन सिद्ध हुआ है। वनस्पति घी बनाने के लिए इसका तेल उपयोगी है। इसकी उत्पति स्थान के विषय में निश्चित नहीं है परन्तु उत्तरी चीन का पूर्वी भाग माना जाता है। राजस्थान के कोटा, बूंदी, झालावाड़, चितौड़गढ, बांसवाड़ा, बारा जिलों में मुख्यतः की जाती है।

जलवायु (Climate) : सोयाबीन गर्म व तर जलवायु की फसल है। 65–125 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में इसकी उत्तम खेती होती हैं।सोयाबीन को अंकुरण के समय 15°–32° सेल्सियस तापमान की आवश्यकता होती है वृद्धि के लिए 25°–30° सेल्सियस तापमान उपयुक्त रहता है। 40° सेल्सियस से अधिक तापमान का फसल वृद्धि व बीज गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सोयाबीन अल्प प्रकाशक्षेपी पौधा है। अधिकांश किस्मों मे दिन की अवधि 14 घण्टे से कम होने पर अच्छे फूल आते है। फूल आने के समय भूमि मे पर्याप्त नमी होनी चाहिए अन्यथा फूल फलियाँ झड़ जाती हैं।

मृदा एंव खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : सोयाबीन के लिए जल निकास युक्त दोमट व काली कपास वाली मृदा (Black Cotton Soil) उपयुक्त पायी गई है। इसके लिए उदासीन मृदा जिसका पी.एच.मान 6.5–8.5 हो उपयुक्त होती है यह फसल लवणीय तथा क्षारीयता के प्रति मध्यम रूप से सहनशील है, लेकिन अम्लीय मृदा हानिकारक है। खेत की तैयारी के लिए एक गहरी जुताई ग्रीष्मकाल में मिट्टी पलटने वाले हल से तथा मानसून की पहली वर्षा होने पर 2–3 जुताई हैरो या कल्टीवेटर से करके पाटा लगाकर अच्छी तरह तैयार कर लेना चाहिए। आखिरी जुताई से पूर्व फोरेट 10 जी दाने दार चूर्ण 10 किग्रा. प्रति हेक्टेयर या 25 किग्रा. मिथाईल पैराथियोन 2 प्रतिशत चूर्ण प्रति हेक्टेयर की दर से मिला देना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : जे.एस.93–05, जे.एस.97–52, जे.एस. 335, एम.ए.यू.एस. 81, एन.आर.सी.12 (अहिल्या–3), एन.आर.सी.37(अहिल्या– 4),पी.के.472, पी.के. 1024, प्रताप सोया–1, प्रताप सोया–2, प्रताप राज. सोया–3, आर.के.एस–45 (प्रताप सोया–45), प्रतिष्ठा, गौरव, मोनेरा ।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : बीज की मात्रा किस्मानुसार रहती है, छोटे दाने वाली किस्म का 75–90 किग्रा. प्रति हेक्टेयर, मध्यम दाने वाली किस्में 40–45 किग्रा. प्रति हेक्टेयर, बड़े दाने वाली 75–90 किग्रा. प्रति हेक्टेयर से बीज पर्याप्त रहता हैं।

सोयाबीन के अंकुरण को बीज तथा मृदा जनित रोग से बचाने के लिए बीज को थाइरम या कैप्टान 2 ग्राम, कार्बेण्डाजिम या थायोफिनेट मिथाइल 1 ग्राम मिश्रण प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचार करना चाहिए। अन्यथा ट्राईकोडर्मा 4 ग्राम, कार्बेण्डाजिम 2 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करके बोयें।

फफूंद नाशक दवाओं से बीजोपचार के बाद बीज को 5 ग्राम राइजोबियम एवं 5 ग्राम पी.एस.बी. कल्चर प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करें। उपचारित बीज को छाया में रखना चाहिए एवं शीघ्र बुआई कर देनी चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : सोयाबीन की बुआई असिंचित क्षेत्र में वर्षा आरम्भ होते ही एंव सिंचित क्षेत्र में 15 जून से 10 जुलाई उपयुक्त रहती है। बुआई कतारों में कतार से कतार की दूरी 30–45 सेमी. एंव पौध से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. की दूरी पर करनी चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : बुवाई से 1 माह पूर्व प्रति हेक्टेयर 10 टन गोबर की सड़ी हुई खाद या कम्पोस्ट खाद का प्रयोग करें। बुआई के समय प्रति हेक्टेयर 250 किग्रा. सिंगल सुपर फास्फेट, 45 किग्रा. यूरिया तथा 70–80 किग्रा. म्युरेट आफ पोटाश का उपयोग करें। बुआई के 30–35 दिन बाद एक–दो पौधा उखाड़ कर देखे यदि जड़ों में ग्रथियाँ न बनी हो तो 45 किग्रा. यूरिया का उपयोग फूल आने से 7 दिन पहले करें जिंक की कमी होने पर प्रति हेक्टेयर 25 किग्रा. जिंक सल्फेट का प्रयोग करें। मृदा परीक्षण के आधार पर बोराँन उर्वरक का भी प्रयोग करें। क्योंकि इसकी कमी से सोयाबीन के दानों के भीतर खाली स्थान रह जाता है, जिसे 'होलो हर्ट' के नाम से जाना जाता है।

सिंचाई (Irrigation) : सोयाबीन की फसल वैसे तो बिना सिंचाई के वर्षाकाल में उगाई जाती है फिर भी वर्षा न होने पर 1–2 सिंचाई आवश्यकता अनुसार कर देनी चाहिए, विशेष कर फूल व फलियाँ बनते समय भूमि में नमी की कमी नही होनी चाहिए। फूल आने के बाद सिंचाई या वर्षा फसल के लिए हानिकारक होती है।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : सोयाबीन की फसल में दो बार निराई–गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देना चाहिए। पहली निराई गुड़ाई 25–30 दिन पर व दूसरी निराई गुड़ाई 40–45 दिन पर करें खरपतवार नाशी रसायनों का प्रयोग भी

किया जा सकता है।

पादप संरक्षण (Plant protiction) :

कीट – फडका, तना छेदक, पत्ती छेदक के नियत्रण के लिए मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत या क्यूनालफॉस 500–700 मिली. को 500–700 लीटर पानी में घोलकर छिड़ाकाव करें। हरातेला, गर्डल वीटल (चक्र मृग) के लिए डाईमिथोएट 30 ई.सी. या मिथाइल डिमेटोन 25 ई.सी 400–600 मिली. द्वा को 400–600 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करें आवश्यक हो तो, 15–20 दिन बाद पुनः छिड़काव करें। तथा बुआई के 30–35 दिन पर डाइमिथोएट 30 ई.सी. 1 लीटर या एण्डोसल्फॉन 35 ई. सी. एक लीटर को पानी में घोलकर छिड़काव करें तथा एक सप्ताह बाद फिर से छिड़काव करें। नीम बीज का घोल 5 प्रतिशत 15 कि.ग्रा. घोल बना कर पहला छिड़काव 25–30 दिन पर व दूसरा छिडकाव 40–45 दिन पर करें।

रोग– छाछिया रोग के लिए फसल में पीला पन दिखाई देते ही 0.1 प्रतिशत गंधक का तेजाब या 0.5 प्रतिशत फेरस सल्फेट का छिड़काव करें।

पत्ती धब्बा, पत्तीगलन रोग की रोकथाम के लिए मैन्कोजेब के 0.2 प्रतिशत या थायोफेनेट मिथाइल 70 डब्ल्यू पी 0. 05–0.1 प्रतिशत से 1 ग्राम दवा प्रति लीटर पानी का छिड़काव करें। पुनः 15–20 दिन बाद दूसरा छिड़काव करें।

जड़गलन रोग की रोकथाम के लिए 6–10 ग्राम ट्राईकोडर्मा का प्रति किग्रा. बीज की दर से बीजोपचार कर बुआई करें। जीवाणु अगंमारी के लिए स्ट्रप्टोसाइक्लीन या कासूगामकइसिन की 200 पी.पी.ए. (200 मिग्रा. दवा प्रति लीटर पानी के घोल) और कॉपर आक्सीक्लोराइड 0.2 (2 ग्राम प्रति लीटर पानी के घोल) का मिश्रण प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए 10 लीटर पानी में 1 ग्राम स्ट्रप्टोसाइक्लीन एंव 20 ग्राम कापर स्ट्रप्टोसाइक्लीन दवा का घोल बनाकर उपयोग करें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : जब फसल की अधिकाश पत्तियाँ सूखकर झड़ने लगे और 10 प्रतिशत फलियाँ सूखकर भूरे एंव पीले पर्ण में बदलने लगे तो उस समय हँसिया से कटाई कर लेते हैं। एक सप्ताह सूखाकर जब दाने मे नमी की मात्रा 13–15 प्रति हो जाये तब डण्डे से पीटकर या बैलो से दांय चलाकर (कुचलकर) या ट्रैक्टर से कुचलकर बीजों को अलग कर लिया जाता है।

उपज (Yield) : सोयाबीन की औसत उपज सिंचित क्षेत्र में 25–30 क्विटंल एंव असिंचित क्षेत्रों में 10–15 क्विटंल प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है एंव 30–35 क्विंटल सूखा चारा भी प्राप्त हो जाता है।

सूरज मुखी – (Sun flower)

वानस्पतिक नाम –हेलिएन्थस एनुअस एल. *(Helianthus annuus* L.)

कुल – एस्टरेसी (Asteraceae)

महत्व (Importance) : सूरज मुखी खाद्य तेल वाली एंव सभी मौसम में उगने वाली फसल है। इसमें तेल की मात्रा 45–50 प्रतिशत तक होती है। सूरज मुखी का तेल उच्च कोटि का होता है इसके तेल का रंग हल्का पीला और स्वाद अच्छा होता है इसके तेल में लिनोलिक अम्ल की मात्रा अधिक होने के कारण यह रक्त में कोलेस्ट्राल की वृद्धि को रोकने व उस पर अपचायक प्रभाव डालने में सहायक के होता है इसका उत्पत्ति स्थान पश्चिम केन्द्रीय अमेरिका है। राजस्थान में सूरज मुखी की खेती झालावाड़, भरतपुर, श्रीगंगानगर, हनुमानगढ व भीलवाड़ा आदि जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : सूरज मुखी की खेती खरीफ, रबी, जायद तीनों मौसम में की जा सकती है।फसल पकते समय शुष्क जलवायु की अति आवश्यकता होती है। वैसे सूरजमुखी समशीतोष्ण एवं शीतोष्ण जलवायु का पौधा है। सुरजमुखी धूप में ऑक्सिन–सांद्रता के कारण तना तथा मुण्डक सुर्य की तरफ मुड़ जाते हैं। शीत ऋतु में कम तापमान के कारण फसल लगभग 130 दिन में परिपक्व होती है जबकि खरीफ मौसम में उच्च तापमान के कारण 80–90 दिन में ही परिपक्व हो जाती है। फूल बनते समय एवं बीज बनते समय लम्बे समय तक बादल छाये रहने व आर्द्रता रहने पर उपज कम होती है तथा रोग व कीटों का प्रकोप अधिक होता है अर्थात बीज बनते समय व पकते समय मौसम साफ व शुष्क होना चाहिए।

मृदा (Soil) : सूरजमुखी की खेती अम्लीय एवं क्षारीय भूमि को छोड़कर जल निकास युक्त सिंचित दशा वाली सभी प्रकार की भूमियों में की जा सकती है, लेकिन दोमट भूमि

सर्वोत्तम रहती है। 6.5–8.5 पी.एच. मान वाली मृदा में सूरजमुखी की खेती की जा सकती है।

खेत की तैयारी (Field preparation) : खेत तैयारी में ग्रीष्म ऋतु में रबी की फसल कटने के बाद पलेवा कर एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 2–3 जुताई देशी हल या कल्टीवेटर से कर मिट्टी भुरभुरी बना लेनी चाहिए। पाटा चलाकर नमी सरंक्षित कर लेनी चाहिए अंकुरण के समय पर्याप्त नमी की मात्रा होनी चाहिए। अंतिम जुताई के समय प्रति हेक्टेयर 25 किग्रा. मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत भूमि में मिला देवें।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : बी.एस. एच–1, सी.ओ–5, डी.आर.एस.एच–1, एच.एस.एफ.एच–848, ई. सी.68415, के.बी.एस.एच1, एमसन रिकार्ड, मार्डन, आर.एस.एफ एम 1, सूर्या, टी.ए.एस 82।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and Seed treatment) : सूरज मुखी की स्थानीय किस्मों का 10–12 किग्रा. एंव संकर किस्म का 8 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त रहता है। सूरज मुखी के बीज का छिलका कड़ा होता है। अतः जल्दी अंकुरण हेतु 12–18 घंटे तक बीजो को पानी में भिगोकर रखें। बुआई से पूर्व प्रति किग्रा. बीज को 3–4 ग्राम थायरम या 6–10 ग्राम ट्राइकोडर्मा से उपचारित करें सूरजमुखी के बीज स्वादिष्ट होते है। अतः पक्षियों द्वारा नुकसान से बचाने के लिए खेत में प्लास्टिक या नाइलोन की जालियों का उपयोग किया जा सकता है।

बुआई का समय एंव विधि (Time of sowing and method) : सूरज मुखी की फसल तीनो ऋतुओं में बोई जाती हैं जायद में 15 जनवरी से 15 फरवरी, खरीफ में वर्षा के आगमन पर (15 जुन से 15 जुलाई) एंव रबी की बुआई 15 नवम्बर से 15 दिसम्बर तक की जाती है।

सूरजमुखी की बुआई कतारों में करना अच्छा रहता है। कतार से कतार की दूरी 45–60 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 20–30 सेमी. तथा गहराई 4–5 सेमी. तक रखकर बुआई की जाती है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) :

1. बुआई से 4 सप्ताह पूर्व प्रति हेक्टेयर 10 टन गोबर की सड़ी हुई खाद का प्रयोग करें।
2. बुआई के समय प्रति हेक्टेयर 300 किग्रा. सिंगल सुपर फॉस्फेट, 80 किग्रा. म्यूरेट आफ पोटाश एंव 65–100 किग्रा. यूरिया का उपयोग करें। प्रथम सिंचाई के बाद 60–100 किग्रा. यूरिया का पुनः छिड़काव करें।

सिंचाई (Irrigation) : सूरजमुखी में सिचाई फसल बुआई के समय पर निर्भर करती है। प्रथम सिंचाई बीज बोने के 25–30 दिन बाद करें तथा दूसरी सिंचाई आवश्यकता अनुसार करें। फूल आते समय पर्याप्त नमी आवश्यक है।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : पहली निराई गुड़ाई बीज बोने के 25–30 दिन बाद तथा दूसरी 45–50 दिन पर फूल आने से पहले करनी चाहिए सूरजमुखी का फूल बड़ा होने के कारण पौधे के गिरने का डर रहता हैं अतः 20–30 दिन बाद यूरिया देते समय पौधों पर 10–15 सेमी. मिट्टी चढाना अच्छा रहता है। रसायनों द्वारा खरपतवार निंयत्रण हेतु पैण्डीमिथालिन 30 ई.सी. की 3.3 लीटर मात्रा 600–800 लीटर पानी में घोल कर प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के 2–3 दिन के अन्दर छिड़काव करने से खरपतवारों का जमाव नहीं होता है।

पादप संरक्षण (Plant protection) : सूरज मुखी में कट वर्म, पत्ते कुतरने वाली लट, हरा तेला, सफेद मक्खी आदि की रोकथाम के लिए एण्डोसल्फॉन 35 ई.सी. सवा लीटर का प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें या मिथाइल डेमेटॉन 1 लीटर 25 ई.सी.का 800–100 लीटर पानी में घोल बना कर छिड़काव करना चाहिए। तना गलन, जड़ गलन, पत्ती धब्बा रोग की रोकथाम के लिए मैन्कोजेब 1.5 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से पानी में घोल कर छिड़काव करें आवश्यकतानुसार छिड़काव दोहरायें। तुलासिता के नियंत्रण हेतु बीज को 4 ग्राम मैटालेक्सिल प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित कर बोयें। रोग ग्रस्त पौधों को उखाड़ कर नष्ट कर दें। डाड्या रोग की रोकथाम हेतु 20–25 किग्रा. गंधक चूर्ण का भुरकाव करें अथवा 0. 1 प्रतिशत केराथेन का छिड़काव करें।

पक्षियों से बचाव के लिए प्रकाश परावर्तित करने वाले एन्टीपेरट रिबन का प्रयोग करना लाभकारी रहता है।

परागण (Pollination) : सूरजमुखी में किन्ही कारणें से स्वंय परागण कम होता है जिससे पर्याप्त बीज नही बन पाते है अतः पर परागण के लिए प्रति हेक्टेयर मधुयक्खियों के 1–2 बॉक्स खेत मे रख दें या सुबह 8–11 बजे के बीच हाथ पर पतला कपड़ा लपेट कर फूलों के ऊपर हलकें से घुमाए या किसी कोमल कपड़े या फोम आदि से हलके हाथ से फूल के किनारे से गोल–गोल घुमाते हुए मध्य मार्ग तक लाए।

कटाई व मढ़ाई (Harvesting and threshing) : जब सूरजमुखी के बीज कडे हो जाए एंव सिरे के पास व वृत्त मुड़ कर पीला पड़ जाये नीचे की पत्तियाँ सूखकर गिरने लगे तब फूलों को तने के पास से हँसिया/दरांती से काट लेना चाहिए। इसके बाद 2–3 दिन धूप में सुखाने के बाद डण्डों से पीट कर या फूलों को आपस में रगड कर बीज निकाल लेंवे फसल बडे क्षेत्र में हो तो मढ़ाई के लिए थ्रेसर का प्रयोग उपयुक्त रहता है।

उपज (Yield) : उन्नत विधियाँ अपनाकर सूरज मुखी की फसल से 15–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर उपज ली जा सकती है।

सरसों – (Mustard)
वानस्पतिक नाम –ब्रैसिका जुन्सिया एल.
(Brassica juncea L.)
कुल – ब्रेसीकेसी (Brassicaceae)

महत्व (Importance) : सरसों रबी में उगाई जाने वाली भारत एवं राजस्थान की प्रमुख तिलहनी फसल हैं। इसकी खेती मुख्यतः बीज के लिए की जाती है जिसमें तेल की 42–44 प्रतिशत तक मात्रा पाई जाती है। सरसों का तेल खाना बनाने, मालिश करने, साबुन, ग्रीस बनाने, फल व सब्जियों के परि–रंक्षण आदि कामों मे आता है। सरसों के तेल मे तीव्र गंध सिनिग्रिन (Sinigrin) नामक एल्कालाइड के कारण होती है। सरसों का उत्पति स्थान चीन माना जाता है कुछ लोग भारत या दक्षिणी–पश्चिमी एशिया भी मानते है। राजस्थान के प्रायः सभी जिलो में सरसों की खेती की जाती है।

जलवायु (Climate) : सरसों समशीतोष्ण व शीतोष्ण जलवायु की फसल है यह रबी मौसम मे उगाई जाती है सरसों के लिए 18^{0}–25^{0} सेल्सियस तापमान की आवश्यकता होती हैं। फसल की बढ़वार फूल आते समय अधिक वर्षा व आर्द्रता रहने से कीट व रोग का प्रकोप बढ़ता है तथा परागण कम होता है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : सरसो के लिए दोमट एवं हल्की दोमट मृदा अधिक उपयुक्त है। अच्छे जल निकास वाली मिट्टी जो लवणीय व क्षारीय न हो, ठीक रहती है। सरसों हल्की ऊसर भूमि मे भी बोयी जा सकती है। 6–8.5 पी.एच.मान वाली मृदा ठीक रहती है। सरसों के लिए खरीफ की फसल कटने के बाद एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 3–4 जुताई देशी हल या कल्टीवेटर से करके पाटा लगाकर मिट्टी को भुरभुरी बना लेते हैं। भूमिगत कीटों को नष्ट करने के लिए प्रति हेक्टेयर 25 किग्रा. मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत अन्तिम जुताई के समय भूमि में मिला देना चाहिए।

उन्नत शील किस्में (Improved varieties) : पूसा जय किसान (बायो – 902), लक्ष्मी (आर.एच. 8812), पूसा बोल्ड, पुसा कल्याणी, वरूणा(टी–59), क्रान्ति (पी.आर–15), आर. एच–30, रजत (पी.सी.आर–7), अरावली (आर.एन.393), स्वर्णज्योति (आर.एच.9802), माया (आर.के.9902), आशीर्वाद (आर.के.01–03), जगन्नाथ (वी.एस.एल.5) ।

बीजदर व बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : असिंचित क्षेत्र मे 4–5 किलोग्राम एवं सिंचित क्षेत्र में 2.5–3 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है।बुआई से पहले बीज को 3 ग्राम थाइरम या 6–10 ग्राम ट्राइकोडर्मा या 2.5 ग्राम मैन्कोजेब प्रति किलोग्राम बीज की दर से उपचारित करें ।

बुआई का समय एवं बुआई की विधि (Time of sowing and method) : सरसों की फसल की बुआई असिंचित क्षेत्र मे 15 सितम्बर से 15 अक्टूबर तक तथा सिंचित क्षेत्र में 31 अक्टूबर तक कर देनी चाहिए। देरी से बुआई करने पर चेपा व सेफद रोली का प्रभाव होता है। जिससे उपज में कमी आती है सरसों की बुआई कतारो मे करनी चाहिए कतार से कतार की दूरी 30–45 सेमी. व पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. तथा बीज की गहराई 4–5 सेमी. रखनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) :

1. बुआई से 4 सप्ताह पूर्व 8–10 टन प्रति हेक्टेयर गोबर की सड़ी खाद या कम्पोस्ट खाद का प्रयोग करें।
2. सिंचित फसल के लिए 92 किग्रा. नाइट्रोजन 32 किग्रा. फास्फोरस 25 किग्रा. पोटाश एवं 250 किग्रा. जिप्सम या 40 किलो सल्फर प्रति हेक्टेयर काम लें।

सिंचाई (Irrigation) : सरसों की फसल को 3–4 सिंचाई की आवश्यकता होती है। पहली सिंचाई बुआई के 21–30 दिन बाद(शाखा बनते समय एवं फूल आने से पहले) दूसरी सिंचाई बुआई के 40–45 दिन बाद (फली निकलते समय) तीसरी सिंचाई बुआई के 70–80 दिन बाद (फली बनते समय, दाना बनते समय)करते है। पानी की मात्रा पर्याप्त है तो चौथी सिंचाई 90–100 दिन बाद दाना पकते समय करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : सरसों की फसल में प्रथम सिंचाई के बाद 20–25 दिन बाद निराई–गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देने चाहिए। सरसों की फसल में ओरोबंकी नियंत्रण के लिये 200 किग्रा. नीम की खली का बुआई के समय कतारों में डाला जाना तथा बुआई के बाद फसल उगने से पहले 0.500 किग्रा. पैण्डीमेथालीन प्रति हेक्टेयर 500 लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें। ओरोबंकी नियंत्रण के लिये ग्लाईफोसेट को बुआई के 25 दिन बाद 25 ग्राम तथा 50 दिन बाद 50 ग्राम प्रति हैक्टर की दर से 1 प्रतिशत अमोनियम सल्फेट के साथ करना चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कीट आरा मक्खी पेंटेडबग मोयला के लिये मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत या मैलाथियान 5 प्रतिशत चूर्ण 25 किग्रा प्रति हेक्टेयर भुरके या मैलाथियान 50 ईसी 1.2 लीटर या डाईमिथयेट 30 ईसी 1.2 लीटर या 100 ग्राम थायेामिथोकजाम 25 डब्लू जी को पानी में मिलाकर छिड़काव करें आवश्यकतानुसार 15 दिन बाद पुनः छिड़के। हीरक तितली के लिए क्यूनालफॉस 25 मिली 1.2 लीटर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़के। मोयला हेतु इमिडेक्लोप्रिड से बीज उपचार (3 ग्राम प्रति किलो बीज) + एजिडिरेक्टिन का 3 प्रतिशत छिड़काव करें।

रोग –झुलसा (Blight) : तुलासिता एवं सफेद रोली के लक्षण दिखाई देने पर मैन्कोजेब या जाइनेव 2 ग्राम प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें। आवश्यकतानुसार 20 दिन के अन्तराल पर पुनः करें। रोग के लक्षण दिखने पर रिडोमिल एम जैड 2 ग्राम प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें या ट्राईकोडर्मा डिफ्युज्ड 5 मिली प्रति लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें आवश्यकतानुसार पुनः करें।

छाछ्या रोग दिखाई देते ही 20 किलो गंधक चूर्ण या 600 ग्राम घुलनशील गन्धक (80 प्रतिशत) या 1 मिली. डाइनोकेप (केराथेन) 30 ईसी प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़के। तना गलन में तने पर पनिहल घब्बे बनते हैं जिन पर कवक लाल रूई की तरह फैला रहता है। पौधे मुरझा कर सूखने लगते हैं। लक्षण दिखने पर दो बार पर्णीय छिड़काव विटावेक्स पावर 2 ग्राम प्रति लीटर पानी में घोलकर छिड़काव प्रभावी पाया गया है

फसल का पाले से बचाव –

1. पाले की सम्भावना होने पर सिंचाई करे ।
2. खेत के चारों तरफ धुआँ करे ।
3. 0.1 प्रतिशत गंधक के तेजाब का छिड़काव करें (1 लीटर पानी में 1 मिली.)

कटाई मढ़ाई (Harvesting and threshing) : सरसों की फसल फरवरी मार्च तक पक जाती है। सरसों के पत्ते झड़ने लगे और फलियां पीली पड़ने लगे तो फसल की कटाई कर लें अन्यथा कटाई में देरी होने से दाने खेत में झड़ने की आशंका रहती है। कटाई के बाद पौधों को छोटे छोटे बंडलों में बाँधकर खेत में छोड़ देते हैं। पूर्णरूप से सूखने पर ट्रेक्टर थ्रेसर या बैलों से मढाई करके और औसाई कर बीजों को अलग कर लिया जाता है।

उपज (Yield) : सरसों की उन्नत विधियों से खेती करने पर औसत 15–25 क्विंटल प्रति हेक्टेयर दाने की उपज प्राप्त हो जाती हैं।

तारामीरा – (Rocket kresh)
वानस्पतिक नाम –इरूका सटाइवा *(Eruca sativa)*
कुल – ब्रेसीकेसी (Brassicaceae)

महत्व (Importance) : तारामीरा तिलहनी फसल है जो उत्तरी भारत व राजस्थान में रबी मौसम में उगाई जाती है। इसके बीजों से तेल प्राप्त होता है जो सरसों के तेल के समान ही होता है और उपयोग भी सरसों की तरह होता है तथा खली पशुओं को खिलाने के काम आती है। तारामीरा के बीज में 35 प्रतिशत तेल पाया जाता है ।

जलवायु (Climate) : तारामीरा समशीतोष्ण जलवायु का पौधा है इस फसल को 15°–30° सेल्सियस तापमान की आवश्यकता होती है। फसल पकते समय मौसम शुष्क व साफ आर्द्रता का उपयुक्त रहता है लम्बे समय तक बादल छाये रहना व फूल आने के समय वर्षा होना उपज को कम करता है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : तारामीरा सभी प्रकार की भूमियों में बोया जा सकता है लेकिन बलुई दोमट व दोमट मृदा जिसमें जल निकास की उचित व्यवस्था हो श्रेष्ठ रहती है। 2–3 जुताई देशी हल या केल्टीवेटर से कर पाटा लगाकर मृदा भुरभुरी बना लेते है। तारामीरा की खेती अधिकांश बारानी क्षेत्रों में की जाती है ।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : आई.टी.एस.ए. ,टी 27, आरटीएम 314 (कर्णतारा), आरटीएम 2002 (नरेन्द्र तारामीरा), आर.टी.एस.ए 150 ।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : तारामीरा की फसल के लिए 4 किग्रा. बीज प्रति

हेक्टेयर की दर से पर्याप्त रहता है। बुआई से पहले मैन्कोजेब 2.0 ग्राम या ट्राइकोडर्मा 6–10 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : इसकी बुआई 15 अक्टूबर से 30 नम्बवर तक कर देनी चाहिए। कतार से कतार की दूरी 45 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10 से 15 सेमी. रखनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : तारामीरा की फसल में 30 किग्रा. नत्रजन एंव 15–20 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर देना चाहिए। तारामीरा तेल वाली फसल है इसलिए 200–250 किग्रा. जिप्सम प्रति हेक्टेयर देना भी लाभकारी रहता है।

सिंचाई (Irrigation) : तारामीरा की फसल बारानी क्षेत्रों में उगाई जाती है व सूखा सहन करने वाली होती है। फिर भी जहाँ सिंचाई के साधन उपलब्ध हो वहाँ प्रथम सिंचाई 40–45 दिनों में फूल आने से पहले करें तत्पश्चात आवश्यकतानुसार दूसरी सिंचाई फली में बीज बनते समय करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : फसल में खरपतवार नियत्रण के लिए 20–25 दिन बाद निराई – गुड़ाई करें। रसायन द्वारा खरपतवार नियंत्रण के लिए फ्लूक्लोरेलिन 1 लीटर सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर भूमि में मिला दें।

पादप संरक्षण (Plant protection) :

मोयला (एफिड्स)– मोयला कीट लगते ही मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत चूर्ण 25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से फसल पर भुरकाव करें या डाइमिथोएट 30 ई.सी. या मिथाइल डेमेटोन 25 ई.सी. 1200 मिली. अथवा मोनोक्रोटोफॉस 36 एसएल 1000 मिली. का पानी में घोल बनाकर प्रति हेक्टेयर छिडकाव करें।

झुलसा (ब्लाईट) तुलासिता (डाउनीमिल्डयू) एवं सफेद रोली इन रोगों के लक्षण दिखाई देते ही मैन्कोजेब 2 ग्राम प्रति लीटर पानी का घोल बनाकर छिड़काव करें। प्रकोप अधिक होने की स्थिति में 20 दिन बाद छिड़काव दोहरायें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : फसल के जब पत्ते झड़ जायें और फलियाँ पीली पडने लगे तो फसल काट लेनी चाहिए अन्यथा कटाई में देर होने से दानों के खेत में झड़ जाने की आशंका रहती हैं। फसल को 2 से 3 दिन सुखाकर ट्रैक्टर द्वारा मढ़ाई कर औसाई करके दाने अलग कर लेते है फसल की थ्रेसर द्वारा मढ़ाई करना भी उपयुक्त रहता है।

उपज (Yield) : तारामीरा की उन्नत खेती से 8–10 क्विंटल उपज प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है।

अलसी (Linseed)

वानस्पतिक नाम –लाइनम यूसीटेटिसिमम एल. *(Linum usitatissimum* L.*)*

कुल – लाइनेसी (Linaceae)

महत्व (Importance) : अलसी बहुमूल्य औद्योगिक तिलहन फसल है जिसे तेल एवं रेशा दोनों के लिए उगाया जाता है। अलसी के दानों में किस्मों के अनुसार 33 से 47 प्रतिशत तक तेल पाया जाता है। अलसी का तेल जल्दी सूखने वाला होता है। इसलिए तेल का प्रयोग रंग, पेन्टस, वार्निश, साबुन और छपाई के लिए प्रयुक्त स्याही तैयार करने के लिए किया जाता है। तने से रेशा निकाला जाता है। अलसी का उत्पत्ति स्थान कुछ विद्वान अफगानिस्तान, कुछ विद्वान दक्षिण पश्चिम एशिया मानते हैं। राजस्थान में कोटा, बूंदी, झालावाड़, सवाई माधोपुर तथा टोंक जिले प्रमुख है।

जलवायु (Climate) : अलसी की फसल को ठण्डी व शुष्क जलवायु की आवश्यकता होती है। अलसी के उचित अकुंरण हेतु 25–30° सेल्सियस तापमान तथा बीज बनते समय 15–20° सेल्सियस तापमान होना चाहिए।

मृदा एवं भूमि की तैयारी (Soil and field preparation) : अलसी की फसल के लिए जल निकास युक्त भारी एवं दोमट, मध्यम उपजाऊ दोमट मृदा उपयुक्त होती है। एक जुताई मिट्टी पलटनले वाले हल से करने के बाद 2–3 बार देशी हल से या हैरो चलाकर पाटा लगाना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : आर.एल 102–71, चम्बल, जवाहर 23, शिखा, त्रिवेणी, किरण, कार्तिक, जवाहर 17, जीवन, गौरव आदि।

बीज दर एवं बीज उपचार (Seed rate and seed treatment) : अलसी की फसल के बीज के लिए 15से 20 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है। बुआई से पूर्व बीज को कार्बेन्डाजिम की 2.5 से 3 ग्राम मात्रा या ट्राइकोडर्मा विरड़ी की 5ग्राम मात्रा से प्रति किलो बीज दर से उपचारित कर बुआई

करनी चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : अलसी की बुआई सितम्बर अंत से लेकर मध्य अक्टूबर तक कर दे देनी चाहिए। कतार से कतार की दूरी 30 सेमी. पौधे से पौधे की दूरी 8 से 10 सेमी. रखते हैं तथा बुआई 4 से 5 सेमी. गहराई पर करनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : अलसी की फसल में असिंचित क्षेत्र में 30 किग्रा. नाइट्रोज 15 किग्रा. फोस्फोरस प्रति हेक्टेयर बुआई के समय ऊर कर देनी चाहिए तथा सिंचित क्षेत्र में 80 से 90 किग्रा. नाइट्रोजन 30 से 40 किग्रा. फास्फोरस एंव 30 किग्रा. पोटाश प्रति हेक्टेयर देवें। 375 किग्रा. जिप्सम तथा 25 किग्रा. जिंक सल्फेट भूमि में बुआई से पूर्व मिला देना चाहिए। अलसी की अच्छी उपज के लिए 10 टन गोबर की खाद का उपयोग करें।

सिंचाई (Irrigation) : सामान्यतः अलसी की खेती बारानी की जाती है लेकिन सिंचाई की उपलब्धता होने पर दो सिंचाई करें पहली सिंचाई शाखाएँ निकलते समय (30 से 35 दिन पर) तथा दूसरी सिंचाई फल बनने शुरू होने के समय (60 से 65 दिन) पर करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : खरपतवार नियंत्रण के लिए 2 निराई गुड़ाई पहली बुआई के 20–25 दिन बाद कर देनी चाहिए। रासायनिक नियत्रंण के लिए पैण्डीमिथलिन 1 किग्रा. सक्रिय तत्व को बुआई पश्चात एंव अकुरण पूर्व 500–600 लीटर पानी मिलाकर खेत में छिड़काव करें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : अलसी की फसल में कीट कट वर्म, वायरवर्म हरे भाग को खाते हैं। नियंत्रण के लिए ईमिडाक्लोप्रिड 17.8 एस.एल. 100 मिली. प्रति हेक्टेयर की दर सये 500–600 लीटर पानी के घोल कर छिड़काव करें।

रोग– गेरूआ (रस्ट) के प्रकोप से चमकदार नारंगी रंग के धब्बे पत्तियों के दोनों और बनते हैं। रोग रोधी किस्मे बोंये तथा केप्टान + हेक्साकानोजाल की 500–600 ग्राम मात्रा 500 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करना चाहिए।

उखटा रोग का प्रकोप अंकुरण से लेकर पकने तक होता है पत्तियों के किनारे मुड़कर मुरझा जाते है। नियंत्रण के लिए मृदा एवं बीज उपचार कर बुआई करें।

चूर्णिल आसिता (छाछिया) इसमें पत्तियों पर सफेद चूर्ण सा जम जाता है नियंत्रण के लिए थायोफिनाइल मिथाइल 70 प्रतिशत डब्लू.पी.300 ग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : फसल के पकने पर हँसिया की सहायता से कटाई कर ली जाती है। 4–5 दिन सुखाकर थ्रेसर से मढ़ाई कर दाने अलग कर लेते हैं।

उपज (Yield) : शुद्ध फसल से 10–15 क्विंटल बीज प्रति हैक्टर तथा मिश्रित फसल से 4–5 क्विंटल दाना प्रति हेक्टेयर प्राप्त होता हैं।

6.4 चारे वाली फसलें (Fodder Crops)

रिजका – (Lucerne or alfalfa)

वानस्पतिक का नाम –मेडिकागो सेटाइवा *(Medicago sativa)*

कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : रिजका एक दलहनी, वार्षिक चारे की फसल हैं। इसे चारे की फसलों की रानी कहा जाता है। रिजका की उत्पति स्थान दक्षिण पश्चिमी एशिया माना जाता है। विश्व में रिजका की खेती सर्व प्रथम ईरान में हुई। राजस्थान में इसकी खेती करीब – करीब सभी क्षेत्रों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : रिजका की खेती सम शीतोष्ण से शीतोष्ण जलवायु में की जाती है। रिजका की फसल ग्रीष्म ऋतु में 48° सेल्सियस तक तापमान और शीत ऋतु में 6.5° सेल्सियस तक निम्न तापमान सहन करने की क्षमता रखती है। रिजका राजस्थान में शरद ऋतु में उगाया जाता है।

मृदा (Soil) : रिजका के लिए उचित जल निकासयुक्त दोमट मृदा सर्वोत्तम रहती है। मृदा का पी.एच मान 6.5–7.5 इसके लिए उपयुक्त है।

खेत की तैयारी (Field prepartion) : रिजका के लिए एक जुताई गहरी मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 2–3 जुताई देशी हल या हैरो चला कर करनी चाहिए। प्रत्येक जुताई के बाद पाटा लगाकर भूमि को भुरभुरी व समतल बना लें।

उन्नत किस्में (Improved varieties) आनन्द–1, आनन्द–2, एन.डी.आर.आई, सलैक्शन–1, चेतक, सिरसा–9, कम्पोजिट–5 काफी अच्छी किस्में हैं।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : छिटकवाँ विधि से बुआई करने पर 20–25 किग्रा. बीज व कतारों में बुआई करने पर 15 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त रहता है।

रिजके के बीज में अमरबेल के बीजो का मिश्रण हो सकता

है इन बीजों को अलग करने के लिए रिजके के बीजों को 2 प्रतिशत नमक के घोल मे डुबोते है जिससे रिजके के कच्चे बीज, अमरबेल के बीज हल्के होने कारण घोल के ऊपर तैरते है जिन्हें निथार कर अलग कर देते है घोल मे नीचे बैठे बीजों को साफ पानी से धोकर सुखा लेते हैं। इसके बाद रिजके के बीजों को राइजोबियम मेलिलोटई कल्चर से उपचारित करना चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : रिजके की बुआई हेतु मध्य अक्टूबर से मध्य नवम्बर तक का समय उपयुक्त है, रिजका की बुआई तैयार भूमि में क्यारियाँ बनाकर निश्चित मात्रा में बीज छिड़कर रेक चलाकर मिट्टी में मिला देते है बीज 1 सेमी. से अधिक गहराई पर ना बोये अकुंरण प्रभावित होता है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : रिजके की फसल में 20 टन प्रति हेक्टेयर की दर से सड़ी हुई गोबर की खाद बुआई के एक माह पूर्व खेत में मिलादें। चारे की अधिक पैदावार के लिए 20 किग्रा. नाइट्रोजन व 30 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई से पूर्व दें। प्रत्येक कटाई के बाद 15 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर दें।

सिंचाई (Irrigation) : रिजके की फसल में 10–12 सिंचाई की आवश्यकता होती है। सर्दियों में सिंचाई 15–20 दिन के अत्तराल पर करना चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : रिजका की फसल में अमर बेल तथा अन्य खरपतवारों के नियंत्रण के लिए पेण्डीमिथालिन की 1.0 किग्रा. सक्रिय तत्व मात्रा प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के बाद (उगने से पहले) छिड़काव किया जा सकता है।

पादप संरक्षण (Plant protection) : रिजका को हानि पहुचाने वाले कीट रिजका इल्ली, चनाइल्ली, व सेंमीलूपर हैं। फसल में कीटो का प्रकोप होते ही चारा खेत से जल्दी से काट लेना चाहिए और कीटनाशक दवा जैसे थायोडान या मेटासिस्टोक्स 1 लीटर प्रति 1000 लीटर पानी में घोल कर फसल पर छिड़काव करें। कीटनाशी के प्रयोग के 2 सप्ताह तक चारा पशुओं को न खिलायें।

सर्दियों में हवा में अधिक नमी होने पर रिजका मे मृदरोमिल आसिता रोग का प्रकोप हो जाता है और पत्तियाँ खराब हो जाती है रोग प्रारम्भ होते ही चारे की कटाई कर लेनी चाहिए।

कटाई (Harvesting) : रिजके की पहली कटाई बुआई के 60 दिन बाद करनी चाहिए। इसके बाद सर्दियों मे 30 दिन के अत्तराल पर एवं गर्मियों में 20–25 दिन के अत्तराल पर कटाई करें।

उपज (Yield) : रिजका की 7 से 9 कटाईयों से 700–1000 क्विंटल हरा चारा प्रति हेक्टेयर प्राप्त किया जा सकता है।

बरसीम – (Berseem or Egyptian clover)
वानस्पतिक नाम –ट्राइफोलियम एलेक्जेन्ड्रिनम (*Trifolium alexandrinum*)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : बरसीम चारे की दलहनी फसल है। बरसीम हरे चारों में अपने गुणों द्वारा दुधारू पशुओं के लिए प्रसिद्ध है। जो बहुत ही पौष्टिक व स्वादिष्ट चारा है। चारा अत्यन्त मुलायम, स्वादिष्ट एवं प्रोटीन और खनिज तत्वों से भरपूर होता है। इसमे प्रोटीन की औसत मात्रा 17–21 प्रतिशत होती है। इसको चारे की फसलों का सम्राट कहा जाता है। बरसीम की उत्पति स्थान एशिया माइनर के देश माने जाते हैं। राजस्थान के कुछ भागों मे इसकी खेती की जाती है।

जलवायु (Climate) : बरसीम को रबी की फसलों के साथ उगाते हैं इसके लिए शीतोष्ण कम गर्मी वाले क्षेत्र उपयुक्त रहते है इसकी समुचित वृद्धि हेतु 25^{0}–26^{0} सेल्सियस तापमान अति उत्तम रहता है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) बरसीम की खेती के लिए जल निकास युक्त दोमट से चिकनी दोमट मृदा सर्वोतम रहती है। पी.एच.मान 7 से ऊपर वाली मृदाएँ सर्वोतम मानी जाती है। एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा दो–तीन जुताई देशी हल से करें। बरसीम का बीज काफी छोटा होता है, अतः मिट्टी भुरभुरी कर लेनी चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : मसकावी, खदरावी, फहाली, पूसा जाइन्ट, टी–780, वरदान राजस्थान के लिए वरदान, मसकावी किस्में उपयुक्त पाई गई है ।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : बरसीम के लिए 25–30 किग्रा बीज प्रति हैक्टर की आवश्यकता होती है। बरसीम के बीजों मे कासनी खरपतवार

के बीज मिले होते है। अतः बुआई पूर्व 5 प्रतिशत नमक के घोंल में डालते हैं। बरसीम के कमजोर बीज व कासनी के हल्के बीज होने के कारण ऊपर तैरते है। बरसीम के बीज अपेक्षाकृत भारी होने कारण नीचे बैठ जाते है जिन्हे निकालकर साफ पानी से धोकर सुखा लेते है। बीजो को राइजोबियम कल्चर से भी उपचारित कर बुआई करनी चाहिए। 1 लीटर पानी में 15 ग्राम गुड़ का घोल गर्म कर तैयार कर ठण्डा करे फिर इसमें एक पैकेट कलचर को अच्छी तरह से मिला देते है इसके बाद बीजो को छाया मे सुखाकर, खड़े पानी मे छिटक कर बोए ताकि तेज हवा से न उड़े। इसके तुरन्त बाद सिंचाई करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method of sowing) : बरसीम की बुआई के लिए अक्टुबर माह उपयुक्त है बरसीम की बुआई दो प्रकार से की जाती है। छिटकवाँ विधि इसे समस्त खेत मे क्यारियाँ बनाकर 5–7 सेमी. पानी भरकर रेक चलाकर कीचड़ कर देते है फिर इसके बीज छिड़क देते है या समतल क्यारियों मे बीज छिड़कर रेक चलाकर मृदा मे मिला देते है और बाद में क्यारियों मे 5–7 सेमी. पानी भरते हैं। बरसीम का बीज छोटा होने के कारण कतारों मे बुआई कठिन होती हैं।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertiliser) : 20 टन प्रति हेक्टेयर की दर से सड़ी हुई गोबर की खाद बुआई के एक माह पूर्व खेत में मिला दें। चारे की अधिक पैदावार के लिए 20 किग्रा. नाइट्रोजन व 30–40 किग्रा. फॉसफोरस प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई से पूर्व डाले प्रत्येक कटाई के बाद 4 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर देवें।

सिंचाई (Irrigation) : बरसीम की फसल मे 8–10 सिंचाइयों की आवश्यकता होती है। पहली दो सिंचाइयाँ बुआई के तुरन्त बाद या 5–7 दिन के अन्तराल में करें बाद में सर्दियों में 15–20 दिन एवं गर्मियों मे 8–10 दिन के अन्तराल पर करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : बरसीम मे मुख्य खरपतवार कासिनी के पौधे होते हैं, इसलिए कासिनी को अन्य खरपतवारों के साथ सिंचाई के बाद हाथ से उखाड़ देना चाहिए अगर कासिनी की अधिक मात्रा हो तो डाइनोसेल एसीटेट (घुलनशील पाउडर) 1.5 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करना चाहिए, इसके अलावा 0.2 कि.ग्रा आक्सीफ्लोरफेन प्रति हैक्टर बुआई के बाद व अंकुरण से पूर्व छिड़काव करने से फसल में खरपतवारों का प्रभावी नियंत्रण होता है।

पादप सरंक्षण (Plant protection) : बरसीम की फसल मे रोमिल इल्लियों का प्रकोप अधिक होता है ऐसी अवस्था मे फसल काटकर जानवरों को खिलाना उचित रहता है कटाई के बाद भूमि पर रोलर चलाकर सिंचाई करने से कीट रोलर की नीचे दबकर पानी मे डूबकर मर जाते हैं। बरसीम में कोई खास2 रोग नही लगते है कभी कभी गेरूई व जड़ सड़न रोग लग जाते हैं, इसके लिए उचित फसल चक्र अपनाने चाहिए ।

कटाई (Harvesting) : बरसीम की अगेती फसल हो तो कटाई 45–50 दिन पर करें ताकि दूसरी कटाई जल्दी ले सकें। सर्दियों में कटाई 30 दिन के अन्तराल में करनी चाहिए एव गर्मियों में 20 दिन के अन्तराल पर करें।

उपज (Yield) : बरसीम की उपज 800–1000 क्विंटल प्रति हेक्टेयर होती है। यदि फरवरी के बाद फसल बीज के लिए छोड़ी गई है तो 5–6 क्विंटल बीज तथा 400–500 क्विंटल हरा चारा प्रति हेक्टेयर प्राप्त हो जाता है।

6.5 रोकड़ फसलें (Cash Crops)

गन्ना (Sugarcane)
वानस्पतिक नाम –सैकेरम ओफीसीनेरम *(Saccharum officinarum)*
कुल – पोएसी (Poaceae)

महत्व (Importance) : गन्ने का उपयोग चीनी (white sugar) खाण्ड सारी (brown sugar) एवं गुड़ (jaggery) बनाने में किया जाता है। गन्ने की मिलों से प्राप्त शीरा (molasses) शराब बनाने के काम आता है। गन्ने की खोई (पत्तियों व पिराई के बाद बचा रेशा) कागज व कार्ड बनाने व कम्पोस्ट खाद के काम आता है। गन्ने की उत्पति स्थान भारत माना जाता है। राजस्थान मे गन्ने की खेती कोटा, बूंदी, श्रीगंगानगर, उदयपुर, भीलवाड़ा व बांसवाड़ा जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : गन्ना उष्णकटिबन्धीय जलवायु का पौधा है। गन्ने के अंकुरण के लिए 25°–30° सेल्सियस तापमान 50–55 प्रतिशत आर्द्रता, बढ़वार के लिए

31°–37°सेल्सियस तापमान 80–90 प्रतिशत आर्द्रता एवं पकने के लिए 25°–30° सेल्सियस तापमान 70–75 प्रतिशत आर्द्रता उपयुक्त होती है।

मृदा (Soil) : गन्ने के लिए अच्छे जल निकास वाली दोमट भूमि सर्वोतम होती है।

खेत की तैयारी (Field preparation) : गन्ने की फसल के लिए एक गहरी जुताई सबसॉयलर या मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 2–3 क्रॉस जुताई देशी हल या कल्टीवेटर से कर पाटा लगाकर मिट्टी भुरभुरी व समतल कर लेनी चाहिए। भूमिगत कीटों को नष्ट करने के लिए मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत 25 किग्रा. या लिंडेन 2 प्रतिशत 25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से भूमि मे अन्तिम जुताई के समय बुआई से पूर्व मिला देना चाहिए।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : :–गन्ने की विभिन्न किस्में निम्न प्रकार की है –

शीध्र पकने (9–10 माह) वाली किस्में– को. 7314, को. 64, को. 997, को. 449, को. 1253, को. 1007, को. 111, बी. ओ 91।

मध्यम से देर तक (12 से 14 माह) में पकने वाली किस्में – को.6304, को.7318, को.6217, को. 527 ।

नई उन्नत किस्में :–शीध्र (9–10 माह) पकने वाली– को. 8209, को. 7704, को. जवाहर 86141, को. जवाहर 86572 ।

मध्यम से देर (12–14) माह में पकने वाली को. जवाहर 94141, को. जवाहर 86600, को. जवाहर 862087 ।

बीज दर (Seed rate) : बुआई के लिये काम में आने वाला गन्ना बीज गन्ना कहलाता है। गन्ने का तीन तीन आँख वाला टुकड़ा कर बुआई करते हैं, क्योंकि पूरा गन्ना बोने पर ऊपरी शिरा ही अंकुरित होता है इसका कारण ऊपरी सिरे पर पायें जाने वाले हार्मोन नीचे जड़ की और गमन करके नीचे के भाग की कलिकाएँ अंकुरित नही होने देते इस प्रकिया को टॉपडोमिनेस (Topdominace) कहते है टुकड़े करने से यह प्रक्रिया रूक जाती है। गन्ने का ऊपरी सिरा बुआई के काम लेना चाहिए इसके निम्न कारण है–

1. ऊपरी भाग की कलिकाओं की अंकुरण क्षमता अधिक होती है।
2. ऊपरी भाग की कलिका अंत तक पत्तियों से ढकी रहने से कीट से सुरक्षित रहती है।
3. गन्ने के ऊपरी भाग में पर्ण की लम्बाई कम होने से प्रति इकाई लम्बाई अधिक आँखे प्राप्त होती हैं अच्छी पैदावार के लिए तीन कलिका वाले टुकड़ों की 45–50 हजार तक संख्या पर्याप्त रहती है इनका बजन करीब 60–70 क्विंटल प्रति हेक्टेयर रहता है। गन्ने के टुकडे कटाई के तुरन्त बाद बो देने चाहिए।

बीज उपचार (Seed treatment) : गन्ने के बीजों का अंकुरण बढ़ाने, शीघ्र वृद्धि, फंफूद जनित रोग से बचाने हेतु निम्न रसायनों से उपचारित करें–

1. एगलाल 0.5 प्रतिशत (500 ग्राम दवा 100 लीटर पानी) या एंरीटोन 0.25 प्रतिशत (250ग्राम 100 लीटर पानी से)टुकडो को उपचारित करें। टुकड़ों को 10 मिनट तक घोल मे डुबोकर रखे या कार्बेन्डाजिम 2 ग्राम प्रति लीटर के घोल में 15–20 मिनट तक डुबाकर रखें।
2. चूने के घोल में टुकडों को उपचारित करने से अकुंरण अच्छा होता है।
3. टुकड़ों को 10 पी.पी.एम. के एन.ए.ए. हार्मोन घोल में उपचारित करने से जड़ों का विकास शीघ्र होता है।

बुआई का समय एवं बुआई विधि (Time of sowing and method) : गन्ने की अधिक उपज लेने के लिए सर्वोतम समय (शरद कालीन) अक्टूबर नवम्बर है। बसंत कालीन गन्ना फरवरी–मार्च में लगना चाहिए। वर्षा कालीन गन्ना जून से जुलाई में लगाया जाता है।

गन्ने की बुआई निम्न विधियों से की जाती है:–

1. समतल खेत में बुआई इस विधि में समतल खेत में 75–90 सेमी. दूरी पर देशी हल या ट्रेक्टर चालित रिजर से 6–8 सेमी. गहरी कूड़ बना देते हैं इन कूड़ो में बीज गन्ना के टुकडो को बिछाकर पुनः पाटा चला देते हैं।
2. नालियों मे बुआई :– इस विधि में खेत में 90 सेमी. दूरी पर नालियाँ बनाते हैं। नालियों की गहराई 20 सेमी. चौडाई 45 सेमी. रखते हैं।
3. समतल बुआई करके मिट्टी चढ़ाना इस विधि में समतल खेत में बुआई करके वर्षा ऋतु में पौधे पर मिट्टी चढ़ाते हैं। शुगरकेन प्लान्टर से भी बुआई की जा सकती है। बुआई में गन्ने के टुकड़े दो तरह से लगाते हैं। 1. सिरे से सिरा मिलाकर 2. आँख से आँख मिलाकर लगाते है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : गन्ने की फसल की अवधि अधिक होती है अतः उर्वरक प्रबंधन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके लिए बुआई से 1 माह पूर्व 50–60 टन गोबर की सड़ी हुई खाद खेत में बिखेर के जुताई कर दें। उर्वरक मृदा पोषक तत्व उपलब्धतानुसार 120–150 किग्रा. नाइट्रोजन, 50–60 किग्रा. फास्फोरस, 40 किग्रा. पोटैशियम प्रति हेक्टेयर की दर आवश्यक होती है।

सिंचाई (Irrigation) : गन्ने की फसल में 15–20 दिन के अन्तर पर एवं गर्मी में 8–10 दिन के अन्तर पर सिंचाई करे।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : इसके लिए 3–4 बार निराई गुड़ाई करनी चाहिए। रासायनिक नियंत्रण के लिए अट्राजिन 400 ग्राम 800 लीटर पानी में या सिमेजिन 50% सक्रिय तत्व 3 किग्रा. मात्रा 1000 लीटर पानी में घोल कर प्रति हेक्टेयर बुआई के बाद अकुरण से पूर्व (नमी पर्याप्त होने पर) छिड़काव करना वाहिए। बाद में उगे खरपतवारो के लिए 2–4 डी सोडियम साल्ट 1 किग्रा. प्रति हेक्टेयर 800 लीटर पानी में घोल कर छिडकाव करें।

मिट्टी चढ़ाना : फसल को गिरने से बचाने के लिए रीजर से मिट्टी चढ़ाना शरद कालीन फसल में प्रथम मिट्टी फरवरी –मार्च में तथा अन्तिम मिट्टी मई माह में चढ़ाना चाहिए। कल्ले फूटने से पहले मिट्टी नही चढ़ानी चाहिए।

बँधाई :–गन्ना को गिरने से बचाने के लिए गन्ने के झुण्ड (समूह) को गन्ने की सूखी पत्तियों से बाँधना चाहिए। यह कार्य अगस्त के अन्त में या सितम्बर माह में करना चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : गन्ने की फसल रोग व कीटों से बचाने के लिए निम्नानुसार पौधे संरक्षण उपाय करें।

कटाई (Harvesting) : गन्ने की कटाई गन्ने की पत्तियाँ पीली हो जाये तो, गन्ने को आपस में टकराने पर धातुओं **(Metals)** जैसी ध्वनि निकले, कटे गन्ने को धूप मे देखने पर शक्कर के दाने धूप में चमकते नजर आएं, गन्ने की पोरी आसानी से टूट जाने, गन्ने का रस मीठा लगने लगे तथा चीनी की मात्रा हैण्ड रिफ्रक्टोमीटर के अनुसार 20 पाठ्यांक या इससे अधिक हो तो समझो गन्ना पक कर तैयार हैं। कटाई गंडासे से या तेज धार वाले यत्रों से करें ऊपरी भाग दँराती से काटकर पशुचारे में काम लेते हैं। गन्ने का कोल्हू से रस निकालने पर 70 प्रतिशत तथा मशीन से निकालने पर 80–90 प्रतिशत रस प्राप्त होता है।

उपज (Yield) : गन्ना की औसत उपज 80–100 टन प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है उन्नत विधि से खेती कर 100 से 120 टन प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त हो जाती है।

गन्ने की पेड़ी (Ratooning of Sugarcane) : गन्ने की बोई गई फसल की कटाई के बाद उनकी जड़ो से पुनः फुटान होकर गन्ने के नये पौधे तैयार होते है उन पौधो के कारण जो फसल प्राप्त होती है उसे गन्ने की पेड़ी कहते है।

आलू – (Potato)

वानस्पतिक नाम . सोलेनम ट्यूबरोसम *(Solanum tuberosum)*

कुल . सोलेनेसी (Solanaceae)

महत्व (Importance) : आलू को सब्जियों का राजा कहा जाता है। इससे स्वादिष्ट पकवानो के अलावा चिप्स, भुजिया और कुरकरे भी हर जुबां के मन को भाते हैं। आलू एक पूर्ण पोषक खाद्य है। आलू की उत्पत्ति स्थान दक्षिण अमेरिका है राजस्थान में भरतपूर, धौलपुर, अलवर, कोटा, बूदीं, सिरोही, श्रीगंगानगर हनुमानगढ़ आदि जिलों में उगाया जाता है।

जलवायु (Climate) : आलू फसल के लिए मध्य ठण्डी एवं ठण्डी जलवायु आवश्यक है। आलू 120 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में सफलता पूर्वक उगाया जा सकता हैं। आलू की वृद्धि एवं विकास के लिए इष्टतम तापमान 15°–25°सेल्सियस के मध्य होना चाहिए। इसके अकुंरण के लिए लगभग 25° सेल्सियस संर्वधन के लिए 20° सेल्सियस और कन्द विकास के लिए 17°–19°सेल्सियस तापमान की आवश्यकता होती हैं। उच्च तापमान 30° सेल्सियस होने पर आलू विकास की प्रक्रिया प्रभावित होती हैं। अक्टूबर से मार्च तक लम्बी रात्रि तथा चमकीले छोटे दिन आलू बनने और बढ़ने के लिए अच्छे होते हैं।

भूमि एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : आलू की फसल के लिए जल निकास एवं जीवाशं युक्त बलुई दोमट, दोमट, भारी दोमट मृदाएँ श्रेष्ठ रहती हैं। मृदा जिसका पी.एच.मान 5.5–7 अत्यन्त उपयुक्त रहता है। मृदा का भली भांति भुरभुरा होना आवश्यक है आलू के लिए पहली जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से करे। 3–4 जुताई देशी हल या हैरो से करनी चाहिए। खेत में डेले हो तो पाटा चलाकर मृदा को भुरभुरी बना लेते हैं। बुआई के समय भूमि में पर्याप्त नमी होनी चाहिए। अन्तिम जुताई के समय भूमिगत कीट नियत्रंण हेतु कीटनाशक रसायन का उपयोग करना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : केन्द्रीय आलू अनुसंधान संस्थान कुफरी (शिमला), हिमाचल प्रदेश में स्थित हैं।

अगेती (80–100 दिन)	मध्यम (100–115 दिन)	पिछेती (115–130 दिन)
कुफरी चन्द्रमुखी, कुफरी जवाहर, कुफरी अलंकार, कुफरी बहार, कुफरी नवताल	कुफरी मेघा, कुफरी शीतमान, कुफरी ज्योति, कुफरी चिप्सोना, कुफरी लालिमा, कुफरी बादशाह, कुफरी स्वर्ण, कुफरी चिप्सोना–2	कुफरी सिन्दूरी, कुफरी गिरिराज, कुफरी देवा

यहाँ से विकसित आलू की किस्मों के सम्मुख कुफरी लगाते हैं।

बीज दर (Seed rate) : आलू के बीज के कन्द 3 से 4 सेमी. (30–40 ग्राम भार) आकार के 25–30 क्विंटल प्रति हेक्टेयर पर्याप्त रहता है। अगेती फसल के लिए समूचे कन्द ही बोये जाते है। मध्यम व पिछेती बुआई के लिए कन्द की लम्बाई में 2–3 आँख वाले टुकड़े काटकर प्रयोग करते हैं। कन्दों की मात्रा उनके आकार व अन्तरण पर निर्भर करती हैं। छोटे आकार के बीज 10–12 क्विंटल कन्द प्रति हेक्टेयर पर्याप्त होता हैं।

बीजोपचार (Seed treatment) :

1. आलू के कन्दों को बुआई पूर्व 0.25 प्रतिशत एरीटान के घोल से उपचारित करते है अथवा 3 प्रतिशत बोरिक अम्ल से उपचारित करते हैं।
2. आलू को कन्द खुदाई के तुरन्त बाद बोने पर 2–3 माह तक सुषुप्तावस्था में रहने के कारण अंकुरित नही होता है। कन्दो की सुषुप्ता अवस्था दूर करने के लिए कंद के टुकड़ों को 1 प्रतिशत थायोयूरिया या जिब्रेलिक अम्ल या पोटेशियम थायोसायनेट के घोल से उपचारित करके बोयें। थायोयूरिया की 1 किग्रा. मात्रा 10 लीटर पानी में 10 क्विंटल आलु के कन्दो को उपचारित करने के लिए पर्याप्त है। दीमक, फफूंद और जमीन जनित रोग से बचाव के लिए बीज को 5 लीटर देशी गाय के गोमूत्र में बीज को उपचारित कर 1–2 घण्टे सुखाने के बाद बुआई करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : आलू की बुआई का समय उसकी किस्म जलवायु व स्थान पर निर्भर करता हैं। आलू की अगेती फसल 25 सितम्बर से 10 अक्टूम्बर पिछेती (मुख्य फसल) 15 अक्टूम्बर से 30 अक्टूम्बर तक उपयुक्त समय होता हैं। पूर्वी भारत मे आलू मध्य अक्टूम्बर से जनवरी तक बोया जाता है। पहाड़ी क्षेत्रों की घाटी मे फरवरी व उच्च पहाड़ी पर मध्य मार्च से मध्य अप्रैल में की जाती है।

आलू की बुआई की निम्न विधियाँ हैं–

1. **समतल भूमि मे आलू बोना :** आलू की कतार से कतार की दूरी 45 सेमी. की दूरी तथा पौधे से पौधे की दूरी 15–20 सेमी. रखनी चाहिए। इन्हें कूड़ो मे बुआई कर के ऊपर से मिट्टी द्वारा ढक देते हैं।
2. **समतल खेत बुआई के बाद मिट्टी चढ़ाना :** इस विधि मे 60 सेमी. दूरी कतार बनाकर समतल खेत मे 15–25 सेमी. अन्तर पर 8–10 सेमी. गहराई पर आलू की बुआई की जाती है।
3. **मेड़ो पर आलू की बुआई :** इस विधि मे मेड़े बनाने वाले यन्त्र से 20–25 सेमी. दूरी पर 20–25 सेमी. की चौड़ी मेड़ बना ली जाती है, 15–20 सेमी. की दूरी पर मेड़ पर 8–10 सेमी. की गहराई पर बो दिया जाता है। मेड़ की उँचाई 15 सेमी. रखते है
4. **पोटेटो प्लान्टर से बुआई :** पोटेटो प्लान्टर से मेड़ व कूड़ बनाते हुए चलते हैं, पहली मेड पर आदमी आलू बोता है तथा प्लान्टर के पीछे चलता है। प्लान्टर जब पहले कूड़ से दूसरे कूड़ मे प्रवेश करता है तो पहले कूड़ पर बाये कन्दो को हल्की मिट्टी से ढकता हुए चलता है अगली कूड़ व मेड़ तैयार हो जाती है।

खाद व उर्वरक (Manure and fertilizer) : आलू की अच्छी उपज के लिए 125–150 टन गोबर की सड़ी खाद 50 किलो ग्राम नीम की खली 50 किलो ग्राम अरण्डी की खली इन सब खादों को अच्छी तरह मिलाकर प्रति हेक्टेयर दें।

गोबर की सड़ी खाद 50–60 टन प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई 4 सप्ताह पूर्व में भूमि में मिला देते हैं। 100–120 किलोग्राम नाइट्रोजन 50–60 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर फास्फोरस एवं 50–60 किलोग्राम पोटाश प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है। फास्फोरस व पोटाश की पूरी मात्रा बुआई पूर्व भूमि मे ऊरकर देना चाहिए। नाइट्रोजन की मात्रा को 3 भागों में बाँटकर 25–45–60 दिन पर छिड़क कर मिट्टी चढ़ा दें। पोटाश की पूर्ति पोटेशियम सल्फेट से करनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : आलू की फसल की सफल खेती के लिए सिंचाई का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारी मृदा में 10–15 दिन के अन्तराल पर बुआई दोमट (हल्की मृदा में) 8–10 दिन के अन्तराल पर सिंचाई करनी चाहिए। सिंचाई करते समय ध्यान रहे मेड़ों में ही भरें। दो तिहाई से अधिक पानी न भरे सिंचाई की नाली का बहाव तेज नही होना चाहिए अन्यथा कन्दों की ऊपर की मिट्टी बहने का खतरा रहता है। इससे कन्दो पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ने पर कन्द का रंग हरा हो जाता है स्वाद भी

बिगड़ जाता है। यह हरा रंग आलू मे पाये जाने वाले ''सोलेनीन'' नामक रासायनिक पदार्थ के छिलके के नीचे एकत्र हो जाने से उत्पन हो जाता हैं।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : खेती में उगे हुआ खरपतवारों उनको निकालने हेतु पहली निराई–गुड़ाई, बुआई के 25–30 दिन बाद करनी चाहिए। बुआई से पूर्व 1–1.5 किग्रा. पेण्डीमेथलीन (स्टाम्प) सक्रियतत्व 800–1000 लीटर पानी मे मिलाकर या 1 किलो ग्राम फ्लूक्लोरिन (बेसालीन) सक्रिय तत्व एवं 800–1000 लीटर पानी में मिलाकर प्रति हैक्टर की बुआई पूर्व छिड़काव करें, मिट्टी चढ़ाने का कार्य निराई गुड़ाई के साथ किया जाना चाहिए। फसल बोने के एक माह बाद जब पौधे 20–25 सेमी. ऊँचे हो जायें तो पहली बार मिट्टी चढ़ायें फिर 15–20 दिनों बाद दूसरी बार मिट्टी चढ़ानी चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : सारणी 6.5.1 में देखें।

आलू की खुदाई/कटाई (Harvesting) : आलू की फसल किस्मों के अनुसार फरवरी से मार्च में तैयार हो जाती है। खुदाई करने से 15 दिन पूर्व सिंचाई बंद कर देनी चाहिए। पौधों की शाखाएँ काटकर सूखने देते है। ऐसा करने से आलू का छिलका कड़ा हो जाता है, कन्दों का आकार बढ़ जाता है तथा खुदाई कर आलू के ढेर बनाकर बोरियों में 2 से 3 दिन के लिए ढ़क देते हैं। जिससे धूप ना लगे व कन्दो पर लगी मिट्टी छूटकर अलग हो जाएँ ।

उपज (Yield) : आलू की किस्मों पर निर्भर करती है उत्तम कृषि क्रियाओं को अपना कर की गयी खेती से 250 से 400 क्विंटल प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त की जा सकती हैं।

सारणी 6.5.1 आलू की कीट एवं व्याधियाँ

कीट / प्रकोप /नुकसान की दशा	रोकथाम
चैपा (मोयला) कुतरा (कर्तन कीट)	एण्डोसल्फान 35 ईसी की 1.5 लीटर मात्रा प्रति हेक्टेयर छिडकें 12 .5 लीटर देशी गाय का मट्ठा + 125 किग्रा. नीम की पत्ती या 5 किलो ग्राम नीम तली या 5 किलोग्राम नीम की पत्तियाँ एक मटके में सड़ाकर, इस मिश्रण मे से 12.5 लीटर 500 लीटर पानी मे डालकर मिला कर प्रति हेक्टेयर छिड़काव करें ।
ऐपीलेकना बिटल	25 लीटर देशी गाय का गोमूत्र में 5 किलोग्राम अकौआ (आक) पत्ती, 5 किलोग्राम नीम की पत्ती 5 किलोग्राम बेसरम की पत्ती मिलाकर 10–15 दिन सड़ा कर। इस मूत्र का आधा शेष बचने तक उबालकर मिश्रण को 500 लीटर पानी मे मिलाकर तर बतर कर पम्प द्वारा प्रति हेक्टेयर छिड़काव करे ।
आलू की तितली	उपरोक्तनुसार
रोग–अगेती झुलसा	उपरोक्तानुसार एवं मैन्कोजेवरली माया 800–1000 लीटर पानी मे घोल बनाकर प्रति हेक्टेयर छिड़के आलु की बुआई पूर्व 2.5 किलो ग्राम ट्राईकोडर्मा कल्चर एक क्विंटल खाद में मिलाकर प्रति हेक्टेयर मृदा मे मिलायें।
पछेती झुलसा	उपरोक्तनुसार
काली रूसी (ब्लैक स्कार्फ)	बीज कन्दो को एगेलॉल या ऐरीटोन से उपचारित करके बोयें।
मौजक रोग	1–1.25 लीटर मैटासिस्टोक्स 800–1000 लीटर पानी मे घोल कर छिडकाव करें।

ग्वार– (Guar) (Cluster bean)
वानस्पतिक नाम–सायमोप्सिस टेट्रागोनोलोबा
(Cyamopsis tertagonoloba)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : ग्वार के दाने में ग्वार गम (गोंद) 30–35 प्रतिशत पाया जाता है। ग्वार गम का उपयोग औषधीय निर्माण, खनिज उद्योग, कपड़ा उद्योग, कागज उद्योग के साथ साथ सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री बनाने में किया जाता है। ग्वार के दाने की चुरी पशुओं के लिए पौष्टिक आहार है। ग्वार का उत्पति स्थान भारत है। शरत में सर्वाधिक 75 प्रतिशत ग्वार उत्पादन होता है। राजस्थान में चुरू, सीकर, श्रीगंगानगर, नागौर, जोधपुर, पाली, जैसलमेर व बीकानेर प्रमुख ग्वार उत्पादक जिले हैं।

जलवायु (Climate) : ग्वार की खेती जहाँ 30–40 सेमी. वार्षिक वर्षा होती है वहाँ आसानी से की जा सकती है। बीजों के अंकुरण व जड़ों के विकास के लिए 25–30सेल्सियम तापमान उपयुक्त है। इसलिए राज्य के शुष्क एवं अर्द्धशुष्क क्षेत्र में इसकी खेती अधिक की जाती है। यह सूखा सहन करने वाली फसल है।

मृदा एवं खेती की तैयारी (Soil and field preparation) : ग्वार के लिए अच्छे जल निकास वाली व उच्च उर्वरता वाली दोमट मृदा सर्वोत्तम रहती है। 7–8 पी एच वाली हल्की क्षारीय मृदा में ग्वार की उपज आसानी से ली जा सकती है। ग्वार की फसल के लिये गर्मियों में एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से व 1–2 जुताई देशी हल या हैरो से कर, पाटा लगाकर भूमि तैयार कर लेते है।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : आर.जी. सी. 936, आर.जी.सी. 1002, आर.जी.सी.1003, आर.जी.सी.1066, ग्वार क्रांति, आर.जी.सी. 1033, ग्वार करण, ग्वार उदय, (सूर्या ग्वार), दुर्गा सफेद ।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and Seed treatment) : ग्वार की फसल का बीज एकल फसल हेतु 15–20 किग्रा. चारे के लिये 40–45 किग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से बोया जाता है। जीवाणु जुलसा रोग की रोकथाम के लिये बुआई से पूर्व प्रति किलो बीज को 250 पीपीएम एग्रीमाइसिन या 100 पीपीएम स्ट्रेप्टोसाइक्लिन के घोल में 2 घंटे भिगोकर उपचारित करें। नये खेत में पहली बार ग्वार बोने पर बीज बोने से पहले राइजोबीएम व पीएसबी जीवाणु कल्चर से उपचारित अवश्य करें। रस चूसक कीटों के नियंत्रण के लिये इमिडक्लोप्रिड 70 डब्लू एस 5 ग्राम प्रति किलो बीज की दर से उपचारित करना चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : ग्वार की बुआई असिंचित क्षेत्र में वर्षा आरम्भ होने पर सिंचित क्षेत्र में 30 जुलाई तक कर देनी चाहिए। कतार से कतार की दूरी 30–45 सेमी. एवं पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. तथा बीज की गहराई 4–5 सेमी. कर देनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) :

1. बुआई से 4 सप्ताह पूर्व प्रति हेक्टेयर 10 टन गोबर की सड़ी हुई खाद का प्रयोग करें।
2. अच्छी उपज के लिए 20 किग्रा. नाइट्रोजन 40 किग्रा. फॉस्फोरेस

सिंचाई (Irrigation) : वर्षा समय पर हो तो सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती है अन्यथा 1–2 सिंचाई की जरूरत पड़ती है। पहली सिंचाई बीज बोने के 25 दिन बाद आवश्यकता पड़ने पर दूसरी सिंचाई बुआई के 50–55 दिन बाद करनी चाहिए ।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : ग्वार की फसल में एक निराई–गुड़ाई 25–30 दिन बाद करे। ग्वार की फसल में वर्षा नहीं होने पर जलाभाव की दशा में सल्फोंसेलिसिलिक अम्ल में 254 पी.पी.एम. मिलाकर वानस्पतिक वृद्धि एवं पुष्पन अवस्था पर दो छिड़काव करके अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है।

पादप संरक्षण (Plant protection) : ग्वार की फसल में प्रायः एफिड, सफेद मक्खी, जेसिड नामक कीटों का प्रकोप होता हैं। इन कीटों की रोकथाम के लिए पहला छिड़काव बुआई से 30 दिन बाद 300 मिली. मिथाइल डेमोटोन 25 ईसी या इमिडाक्सीप्रिड 0.005 प्रतिशत (5 मिली/10 लीटर पानी) ऐसिरामीप्रिड 0.004 प्रतिशत या कारबोसल्फान 0.05 प्रतिशत 250 लीटर पानी का घोल बनाकर छिड़काव करें इस प्रकार दूसरा छिड़काव बुआई के 60 दिन बाद फिर करें।

झुलसा रोग : 2.5 ग्राम स्ट्रेप्टीसाइक्लिन एवं कॉपर ऑक्सी क्लोराइड 30 ग्राम प्रति 10 लीटर पानी या 2 ग्राम कॉपर आक्सीक्लोराइड व 2 ग्राम मैन्कोजेब को छिड़काव से आधा

घण्टा पूर्व मिलाकर छिड़काव करें। आवश्यकता होने पर पुनः 15 दिन बाद छिड़काव करें।

चूर्णी फफूंद रोग : नियंत्रण हेतु केराथेन एल सी 40 मिली 4 लीटर पानी में मिलाकर या 24–25 किग्रा. गन्धक के चूर्ण का प्रति हेक्टेयर भुरकाव करें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : फसल पकने पर अक्टूबर से नवम्बर में कटाई कर ली जाती हैं। सूखने पर बैलों, ट्रेक्टर थ्रेसर द्वारा मढ़ाई कर दाना अलग कर लेते हैं। चारे की कटाई 60–80 दिन पर कर सकते हैं।

उपज (Yield) : उन्नत विधि से खेती करने पर ग्वार की औसत उपज 12–16 क्विटंल प्रति हेक्टेयर बीज प्राप्त हो जाता है तथा 250–300 क्विंटल हरा चारा प्राप्त हो जाता है।

6.6 रेशे वाली फसलें (Fiber Crops)

कपास (Cotton)
वानस्पतिक नाम – गोसीपियम स्पीसिज *(Gossypium spp.)*
कुल – मालवेसी (Malvaceae)

महत्व (Importance) : कपास रेशेवाली आर्थिक महत्व की नकद फसल है, जिसे सफेद सोना भी कहा जाता है। वस्त्र उद्योग में कपड़े के उत्पादन का 70% भाग कपास के रेशे से ही निर्मित होता है। कपास की उत्पति के बारे में भिन्न–भिन्न मत हैं। कुछ विद्वान अफ्रीका और एशिया तथा नई दुनिया के मध्य दक्षिणी अमेरिका तथा कुछ विद्वान भारतवर्ष को कपास उत्पति का स्थान मानते हैं। राजस्थान में कपास की खेती करने वाले जिले श्रीगंगानगर, हनुमानगढ, बांसवाड़ा व पाली हैं।

वर्गीकरण :– भारत में उगाई जाने वाली कपास को दो समूहों में विभक्त किया गया है ।

1. देशी कपास

(i) गोसिपियम हरबेसियम (ii) गोसीपियम आरबोरियम

2. अमेरिकन कपास

(i) गोसिपियम हिर्सुटम, (ii) गोसीपियम बारबेडेन्स

जलवायु (Climate) : कपास एक उष्ण कटिबन्धीय फसल है। 125 से.मी.से अधिक वर्षा इसके लिए हानिकारक होती है। फूल खिलतें समय मौसम साफ व हवा शान्त होनी चाहिए क्योंकि तेज हवा के कारण इसके फूल व गूले झड़ जाते हैं।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : कपास के लिए गहरी दोमट जीवांश युक्त उपजाऊ व अच्छी जल धारण क्षमता वाली मृदा उपयुक्त होती है। भारत में कपास मुख्यतः कपास की काली मृदा, एल्युवियल, लाल और लैटराइट मृदा में उगाई जाती है। कपास के लिए रबी की फसल कटाई के बाद पहली जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से करके 2–3 जुताईयां देशी हल से करके खेत तैयार कर लेना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) :

देशी कपास की उन्नत किस्में : दिग्विजय, आर.जी. –8, आर.जी.–18, जी–1, गिरनार, प्रताप कपि–1।

अमेरिकन कपास की उन्नत किस्में : बीकानेरी नरमा, गंगानगर अगेती, आर.एस. 810।

संकर किस्में : मरू विकास (राज.एच.एच–16), एन.एच. एच–44, संकर–6 ।

बीजदर **(Seed rate) :** अमेरिकन कपास के लिए बीजदर 15–18 कि.ग्रा. देशी किस्म के लिए 12–15 कि.ग्रा. संकर किस्म के लिए 2.5–3 किग्रा. प्रति हेक्टेयर काम लेते है। आर.एस.टी.9 किस्म के लिए बीजदर 20–25 कि.ग्रा प्रति हेक्टेयर रखते है ।

बीजोपचार (Seed treatment) :

1. गुलाबी सुण्डी को नष्ट करने के लिए 40 किग्रा. बीज मे एल्युमिनियम फॉस्फाइस की एक गोली या ई.डी.बी एम्प्यूल को बन्द कमरे में 24 घण्टे तक धूमित करते है या तेज धूप मे बीज को पतली तह के रूप में फैलाकर 6 घण्टे तक रखते है।
2. बीजो के रेशे हटाने के लिए 10 किग्रा. बीजों के लिए 1 लीटर गंधक के तेजाब को प्लास्टिक पात्र मे 1–2 मिनट तक लकड़ी से हिलाते हैं, बीज काले पड़ते ही बहते हुए पानी में बीजों को धोकर प्रयोग में लेते है, तैरते बीजों को बाहर निकाल देते हैं।
3. बीज जनित जीवाणु रोग से बचाव हेतु बीजों को 6–8 घण्टे पानी में भिगोकर सुखाने के बाद 10 लीटर पानी में एक ग्राम स्ट्रेप्टोसाइक्लिन या 10 ग्राम पोषामाइसिन के

घोल में 8–10 घण्टे तक उपचारित कर सूखा लेते हैं ।

4. जड़ गलन रोग की रोकथाम के लिए बीजों को 2 ग्राम कार्बोण्डाजिम या 10 ग्राम ट्राईकोडर्मा प्रति किग्रा. बीज या दानों से उपचारित कर बुआई करते हैं।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : कपास की फसल की बुआई का उपयुक्त समय 15 अप्रेल से 15 मई है। सिंचाई की पर्याप्त सुविधा न होने पर मानूसन की उपयुक्त वर्षा होते ही बुआई कर देनी चाहिए। कपास की फसल की बुआई अमेरिकन किस्मों में 60×45सेमी. देशी किस्मों में, 45×30 सेमी. तथा संकर किस्मों में 150×60 सेमीं. पर बुआई करते है।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : फसल की बुआई के 3–4 सप्ताह पूर्व 8–10 टन गोबर की खाद या कम्पोस्ट प्रति हेक्टेयर की दर से खेत में हल चलाकर भली भांति मिला देनी चाहिए। कपास की अमेरिकन किस्म में 75 किग्रा. नाइट्रोजन व 45 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से देना चाहिए। देशी किस्मों में 50 किग्रा. नाइट्रोजन व 25 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर तथा संकर किस्मों में 100–120 किग्रा. नाइट्रोजन व 40–50 किग्रा. नाइट्रोजन व 40–50 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से देना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : कपास की बुआई के बाद मृदा किस्मानुसार 3 से 7 सिंचाइयों की आवश्यकता होती है निम्न क्रांतिक अवस्थाओं पर सिंचाई अवश्य करनी चाहिए पहली सिम्पोडिया शाखाएँ निकालने की अवस्था एवं 45–50 दिन फूल पुड़ी बनने की अवस्था। दूसरी फूल एवं फल बनने की अवस्था 75–85 दिन तीसरी अधिकतम गूलर (डोडी) की अवस्था 95–105 दिन। चौथी अवस्था गुलर (डोडे) वृद्धि एवं खुलने की अवस्था 115–125 दिन पर होनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : निराई–गुड़ाई से खरपतवार नष्ट होते है और मृदा भुरभुरी हो जाती है, पहली निराई–गुराई अंकुरण के 15–20 दिन के अन्दर (पौधे 10–12 सेमी. ऊँचे होने पर) करनी चाहिए। इसके बाद एक–एक माह के अन्तर पर दो निराई–गुड़ाई करनी चाहिए। खरपतवार नाशकों में पायरेटोब्रेक सोडियम 750 ग्राम प्रति हेक्टेयर या फ्लूक्लोरिन/पेण्डीमिथालिन 1 किग्रा. सक्रिय तत्व को बुआई पूर्व उपयोग किया जा सकता है

पादप संरक्षण (Plant protection) : कपास के हानिकारक कीट सफेद मक्खी माहू (मोयला, तेला) मिली बग आदि पत्तियों से रस चूसते है और मीठा चिपचिपा पदार्थ छोड़ते हैं जो वायरस का संचरण करते है (1) इनके नियंत्रण के लिए प्रति हेक्टेयर 20–25 पीले प्रंपच लगाये, (2) नीमतेल 5 मिली. टिनो पाल/सेन्डोविट 1 मिली. प्रति लीटर पानी की दर से छिड़काव करें। (3) रासायनिक कीट नाशी में थायोमिथाक्ज्म 25 डब्ल्यू जी 100 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर या एसिटामेप्रिड 20एस.पी. 20 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर या इमिडाक्लोप्रिड़ 17.8 एस.एल. 200 मिली. सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर या डायजोफास 40 ईसी 400 मिली. सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर का छिड़काव करें। एक बार प्रयोग में लाई गई दवा का पुनः छिड़काव नही करें।

रोग (Disease) : कपास मे जीवाणु झुलसा रोग, पत्ती धब्बा रोग, पौध अंगमारी मुख्य रोग हैं। कपास मे रोग नियंत्रण के लिए निम्न उपाय करें –

(1) बीजो को बोने से पूर्व बावेस्टीन 1 ग्राम मात्रा प्रति किग्रा. बीज की दर से बीज उपचार करे ।

(2) स्टप्टोसाइक्लिन का 100 पी.पी.एम (1 ग्राम दवा प्रति 10 लीटर पानी) घोल का छिड़काव 15 दिन के अन्तर पर दो बार करें।

(3) कवक जनित रोगों की रोकथाम हेतु एन्टाकाल या मेन्कोजेब या कॉपर आक्सीक्लोराइड की 2.5 ग्राम दवा को प्रति लीटर पानी के साथ घोल बनाकर फसल पर 2–3 बार 10 दिन के अन्तराल पर छिड़काव करें।

(4) भूमि मे जल निकास की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

चुनाई : पौधे पर सारे फूल एक साथ नही आते हैं, जब कपास के डोडे काफी संख्या मे पक कर पूरे खिल जायें तो उनकी चुनाई करनी चाहिए। साधारणतया चुनाई अक्टूबर से दिसम्बर तक कभी–कभी जनवरी प्रथम सप्ताह तक की जाती है। सामान्यतया कपास में 5–6 चुनाई करते हैं, यह कपास की किस्मों पर निर्भर करती हैं। चुनाई कार्य प्रातः 9–10 बजे प्रारम्भ करना उचित है। जब पौधे से ओस समाप्त हो जाए तब चुनाई करनी चाहिए। कपास में बिनौले और रूई को अलग करने की विधि को ओटाई कहते हैं। हाथ चरखी या शक्ति चालित मशीन से ओटाई की जाती है।

उपज (Yield) : कपास की उपज देशी, उन्नत किस्मों से 10–15 क्विंटल प्रति हेक्टेयर संकर किस्मों से 13–18 क्विंटल प्रति हेक्टेयर तथा बीटी किस्मों से 15–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर तक औसत उपज प्राप्त होती हैं। कपास के रेशे वाले भाग को रूई (Lint) व बिनौले को बीज (Cottonseed) कहा जाता है। औटाई प्रतिशत देशी मे 30–40, अमेरीकन किस्मों में 30–35, संकर किस्मों में 32–34 होता है लम्बे रेशे की कपास के अच्छे गुण वाली मानी जाती हैं कपास के गुण रेशे की मजबूती, बारीकी, परिपक्वता, समानता आदि व रेशे की लम्बाई 1.5 से 3.0 सेमी. तक होती है।

सनई – (Sunn or Sunn hemp)
वानस्पतिक नाम –क्राटोलेरिया जुन्सिया एल. (*Crotolaria juncea* L.)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : शरत में सनई की खेती, हरी खाद, रेशे व दाने के लिये की जाती है। सनई के फूलों की सब्जी बनती है। इसके तने को पानी में सड़ाने के बाद ऊपर लगा रेशा रस्सी, त्रिपाल, मछली पकड़ने के जाल, रस्सियाँ आदि बनाने के काम आता है तथा यह शूमि में वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करती हैं। हरी खाद के लिये सनई को प्रमुखता दी जाती है।

सनई की उत्पति का स्थान कुछ विद्वानों के अनुसार ब्राजील व कुछ के अनुसार बर्मा है। राजस्थान में इसकी खेती श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़, भरतपुर, अलवर, जयपुर जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : सनई उष्णकटिबंध जलवायु का पौधा है। इसकी खेती 50–100 सेमी वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में की जाती है। इसमें सूखा सहन करने की क्षमता होती है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : सनई की खेती जल निकास युक्त सभी प्रकार की मृदाओं में की जा सकती है इसकी खेती हल्की दोमट, भारी दोमट काली आदि मृदाओं में उगाई जा सकती है। हल्की दोमट मृदा इसकी खेती के लिए सर्वोत्तम है।

रेशे/दाने के लिए एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 2–3 जुताइयाँ देशी हल से करके खेत तैयार करते हैं। प्रत्येक जुताई के बाद खेत को समतल व भुरभुरा करने के लिये पाटा चलाया जाता है। हरी खाद के लिये 1 जुताई के बाद मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 1–2 जुताई देशी हल से कर बीज छिड़क कर बुआई कर देते है।

उन्नत किस्में (Improved vareities) : सनई की निम्न किस्में रेशा, दाना व हरी खाद के लिये प्रयोग की जाती हैं – के–12, के–12 पीली, एम–35, एम–19, एम–18, आर–67–34, बी.ई–1 (सेकर), डी–9, एस.टी–55 वेल्लारी ।

बीज दर एवं बीजोउपचार (Seed rate and seed treatment) : हरी खाद के लिए 50–60 किग्रा. रेशे के लिए 40–50 किग्रा. तथा दाने के लिए 25–30 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है।

रोगों से बचने के लिये 4 ग्राम ट्राइकोडर्मा या 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम प्रति किलो बीज दर से बीज उपचारित कर सकते है। वैसे सनई में बीजोपचार की आवश्यकता नही होती है।

बुआई का समय व विधि (Time of sowing and method) : सिचांई युक्त स्थानों पर हरी खाद के लिये 15 मई से 15 जून तक कर देनी चाहिये। दाने व रेशे के लिये वर्षा होने पर जून से जुलाई मध्य तक की जा सकती है।

सनई की बुआई दो प्रकार से की जाती है

1. छिटकवाँ विधि– बीजों को खेत में छिटक कर जुताई कर दी जाती है। रेशे व दाने के लिये कतारों में बुआई करना ठीक होता है।

2. कतारों में बुआई– रेशे की फसल में कतार से कतार की दूरी 50–60 सेमी और बीज के लिये बोई जाने वाली फसल कतार से कतार की दूरी 30 सेमी. व पौधे से पौधे की दूरी 25–30 सेमी रखी जाती है। बीज की बुआई सीडड्रिल या देशी हल के नाइला बाँधकर करते हैं।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : सनई दलहनी फसल होने के कारण नाइट्रोजन की जरूरत नही पड़ती है। फास्फोरस व पोटाश की मात्रा 20–40 किग्रा. फास्फोरस व 20–30 किग्रा. पोटाश की मात्रा बुआई के समय ऊरकर शूमि में दे देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : मई में बोई गई फसल (हरी खाद) में वर्षा प्रारम्भ होने से पूर्व 1–2 सिंचाई की आवश्यकता होती है बीज व रेशे की फसल में वर्षा न होने पर 1–2 सिंचाई कर देनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : हरी खाद के लिए बोई गई फसल मे निराई–गुड़ाईकी आवश्यकता नही होती है।

बीज व रेशे की फसल मे शुरूआत मे एक दो निराई–गुड़ाई करनी चाहिए, जिससे खरपतवार नियंत्रण हो सके तथा मृदा में वायु संचार हो सके।

पादप सरंक्षण (Plant protection) :

कीट : सनई मोथ एवं लाल रोमिल इल्ली– इनके नियंत्रण के लिए 0.15 प्रतिशत एण्डो सल्फान 35 ईसी के घोल का छिड़काव करना चाहिए तना छेदक के लिए 0.04 प्रतिशत डायजीनान का घोल आवश्यकतानुसार 3–4 वार छिड़काव करें रोग गेरूई की रोकथाम के लिए0.2 प्रतिशत मैन्कोजेब के घोल का छिड़काव करे आवश्यकता होने पर दोहरायें। मौजेक के लिए यह विषाणु द्वारा फैलता है इसके लिए कोई कीटनाशी दवा का प्रयोग करे।

उखटा रोग के लिए एग्रोसन जी .एन से बीज उपचारित करें।

जीवाणु पत्ती या पर्णदान के लिए फसल चक्र अपनायें।

चूर्णी फफूंद के लिए घुलनशील गधंक जैसे इलोसोल या सल्फेक्स 3 कि.ग्रा 1000 लीटर पानी मे घोल कर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें या 0.06 प्रतिशत कैराथेन दवा का छिड़काव करें।

कटाई (Harvesting) :

(अ) हरी खाद के लिए फसल बुआई के 50–60 दिन बाद फसल को खेत मे पलट देते हैं।

(ब) रेशे वाली फसल बोने के 10–12 सप्ताह बाद फसल की कटाई करते है पहले या देर से कटाई करने से अच्छे गुणों का रेशा नही मिलता है।

(स) बीज बढ़ाने के लिए– फलियों मे बीज कठोर व काला हो जायें तो कटाई कर लेनी चाहिए। कटाई हँसिये से करते हैं। फसल की सूखने के बाद डण्डों से पीट कर बीजो को अलग कर लेते हैं।

उपज (Yield) : हरी खाद की फसल से 200–300 क्विंटल प्रति हेक्टेयर जीवांश पदार्थ प्राप्त हो जाता है रेशें वाली फसल से 10–12 क्विंटल रेशा प्रति हेक्टेयर तथा दाने की फसल से 10–12 क्विंटल दाना प्रति हेक्टेयर प्राप्त हो जाता है।

सड़ाना व रेशा निकालना :– फसल कटाई के बाद छोटे–छोटे बंडल बनाते हैं जिन्हे पोखर, तालाब मे 2–3 दिन सीधे खड़े करते हैं दो दिन बाद 1.0–1.5 मीटर गहरे पानी मे तिरछे डालकर मिट्टी से दबा देते है 7–8 दिन बाद निकालकर साफ पानी से धोकर अच्छी तरह से सुखा लेते हैं सखने के बाद हाथों से रेशा उतारकर अलग कर लेते हैं।

6.7 मसाले वाली फसलें (Spice Crops)

जीरा – (Cumin) Zeera
वानस्पतिक नाम–क्यूमिनम साइमिनम लिन (*Cuminum cyminum* Linn)
कुल – एपिएसी (Apiaceae)

महत्व (Importance) : जीरा भारतीय रसोई में स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ बनाने वाला महत्वपूर्ण मसाला है। जीरे में 2.5 से 3.5 प्रतिशत वाष्पशील तेल पाया जाता है। तेल का मुख्य अवयव क्यूमिनोल या क्यूमिन एल्डीहाइड है जिसके कारण दानों में विशेष प्रकार की जायकेदार सुगन्ध होती है। जीरे में मूत्रवर्धक, वायुनाशक, अग्नि दीपक गुण पाये जाते है। इसकी उत्पति भूमध्यसागरीय क्षेत्र में है। कुछ का मत है कि मूल स्थान मिश्र है। देश का 80 प्रतिशत से अधिक जीरा गुजरात व राजस्थान राज्य में उगाया जाता है। राजस्थान के जालौर बाड़मेर, पाली, अजमेर, जोधपुर, नागौर, टोंक, जयपुर जीरा उत्पादन के मुख्य जिले हैं।

जलवायु (Climate) : जीरे के लिए उप उष्णकटिबन्धीय जलवायु आदर्श है बुआई के समय 24°– 28° सेल्सियस तथा वृद्धि के समय 20°–25° सेल्सियस ताप उपयुक्त रहता है। जीरे के लिए साधारण ठंड वाला शुष्क मौसम श्रेष्ठ है। बीज पकने के समय शुष्क एवं साधारण गर्म मौसम फसल के लिए अच्छा रहता है। अधिक वायुमण्डलीय नमी रोग व कीटों को पनपाने में सहायक होती है। फसल पाला सहन करने में असमर्थ रहती है ।

मृदा (Soil) : जीरे की फसल के लिए जीवांश युक्त बलुई दोमट एवं दोमट मृदा जिसमें जल निकास की उचित व्यवस्था हो सर्वोत्तम रहती है।

भूमि की तैयारी (Field preparation) : जीरे की फसल के लिए एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से करने के बाद एक क्रोस जुताई हेरो से करके पाटा लगा देना चाहिए

तत्पश्चात् एक जुताई कल्टीवेटर से करके पाटा लगाकर मिट्टी भुरभुरी बना देनी चाहिए। जहाँ दीमक व अन्य भूमिगत कीटों का प्रकोप होता है वहाँ अन्तिम जुताई के समय एण्डोसल्फान 4 प्रतिशत या क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत या मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत चूर्ण 20–25 किग्रा प्रति हेक्टेयर की दर से खेत में मिला देना चाहिए।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : आर.एस. 1, आर.जेड.19, आर.जेड. 209, आर.जेड.223, गुजरात जीरा–2(जीसी–2), गुजरात जीरा–4(जीसी–4), एम.सी.43।

बीज दर (Seed rate): जीरे की फसल के लिए 12–15 किलोग्राम बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त रहता है ।

बीजोपचार (Seed treatment) : बीज जनित रोगों से बचाव के लिए बुआई से पूर्व बीजों को 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम 50 डब्ल्यू पी प्रति किलो बीज की दर से उपचारित कर बोना चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : जीरे की बुआई का श्रेष्ठ समय 15 नवम्बर से नवम्बर अन्त तक है। जीरे की बुआई आमतौर पर पहले से तैयार क्यारियों में छिटकवा विधि से की जाती है । कतारों में बुआई के लिए क्यारियों में 25–30 सेमी. की दूरी पर लोहे या लकड़ी के बने हुक से कतार बना देते है बीजों को इन्हीं कतारों में 05–10 सेमी. पर डालकर दाँतली चला दी जाती है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer): 10–15 टन प्रति हेक्टेयर की दर से जुताई से पूर्व बुआई से (3–4 सप्ताह पूर्व) गोबर की खाद खेत में बिखेर कर मिला देना चाहिए इसके अलावा जीरे की फसल में 30 किग्रा नाइट्रोजन एवं 20 किग्रा फॉस्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से उर्वरक भी देवें। जीरे की अच्छी फसल के लिए नेफ्थलीन एसिटिक अम्ल (NAA) 50 पीपीएम का घोल बुआई के 40–60 दिन पश्चात् छिड़के।

सिंचाई (Irrigation) : जीरे की बुआई के तुरन्त बाद एक सिंचाई दे देनी चाहिए। सिंचाई के समय ध्यान रहे कि पानी का बहाव तेज न हो अन्यथा बीज अस्त व्यस्त हो जायेंगे। दूसरी सिंचाई बुआई के एक सप्ताह पूरा होने पर जब बीज फूलने लगे तब करें। अगर दूसरी सिंचाई के बाद अंकुरण पूरा नहीं हुआ हो या जमीन पर पपड़ी बन गई हो तो एक हल्की सिंचाई करना लाभदायक रहेगा उसके बाद भूमि की किस्म तथा मौसम के अनुसार 15–25 दिन के अन्तर पर 5 सिंचाइयाँ पर्याप्त होगी। पकी हुई फसल में सिंचाई न करें। दाना बनते समय अन्तिम सिंचाई गहरी करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) (छटाई, निराई व गुड़ाई) : जीरे की अच्छी फसल के लिए दो निराई गुड़ाई करनी चाहिए। पहली 30–35 दिनों बाद व दूसरी 55–60 दिनों बाद करनी चाहिए। पहली निराई के बाद अनावश्यक पौधे निकालकर पौधे से पौधे की दूरी 5–10 सेमी. कर देनी चाहिए। जीरी व अन्य खरपतवार नियंत्रण के लिये फ्लूक्लोरेलीन 1 किग्रा. सक्रिय तत्व, 2.50 ली बासलीन प्रति हेक्टेयर (3 मिली. प्रति लीटर पानी में) छिड़काव कर भूमि में मिला दें तत्पश्चात् जीरे की बुआई करें या पेण्डिमिथालीन 1 किग्रा. सक्रिय तत्व (3 किलो स्टाम्प एफ 34) प्रति हेक्टेयर या ऑक्साडायर्जिल 6 ईसी 50 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के बाद 15 से 20 दिन के अन्दर छिड़काव करें।

पादप संरक्षण (Plant protection) :

मोयला – नियंत्रण हेतु डायमिथोएट 30 ई.सी. या मैथालियान 50 ई.सी 1 मिली. प्रतिलीटर की दर से छिड़काव करना चाहिए आवश्यकतानुसार 10–15 दिन के बाद छिड़काव को दोहरावें।

छाछिया – बीज बनते ही नियंत्रण हेतु गंधक चूर्ण 25 किग्रा प्रति हैक्टेयर की दर से बुरकाव करें या घुलनशील गंधक चूर्ण 2.5 किग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से छिड़कें या कैराथियान एल सी एक मिली. प्रति लीटर पानी की दर से घोलकर छिड़काव करें। आवश्यकतानुसार 10–15 दिन के अंतराल पर छिड़काव दोहरावें।

झुलसा (ब्लाइट) – इस रोग के नियंत्रण के लिए मैन्कोजेब की 2 ग्राम या टोप्सिन एम या जाइरम प्रति लीटर पानी में घोलकर छिड़कें। आवश्यकतानुसार 40–45 दिन पर पुनः छिड़काव करें।

उखटा (विल्ट) – इसके नियंत्रण के लिए ट्राइकोडर्मा 4 ग्राम प्रतिकिलो या बाविस्टीन 2 ग्राम प्रतिकिलो बीज की दर से उपचारित करके बोना चाहिए। लगातार जीरे की फसल एक ही खेत मे नहीं बोनी चाहिए। ग्रीष्मकालीन जुताई करनी चाहिए। खड़ी फसल में लक्षण दिखाई देने पर 2.50 किग्रा ट्राईकोडर्मा 100 किग्रा कम्पोस्ट के साथ मिलाकर छिड़काव कर देना चाहिए तथा हल्की सिंचाई करनी चाहिए।

जीरे में उखटा एवं झुलसा रोग नियंत्रण हेतु ट्राईकोडर्मा विरडी जैविक फंफूदनाशी 2.5 किग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से 100 किग्रा. गोबर की खाद में मिलाकर भूमि उपचार कर देना चाहिए या नीम की खली 150 किग्रा. प्रति हैक्टेयर बुआई से पूर्व खेत में मिला देना चाहिए।

कटाई (Harvesting) : जीरे की फसल फसल 90 से 135 दिन मे पककर तैयार हो जाती है फसल की कटाई दाँताली से करते हैं। कटी फसल को खलिहान में अच्छी तरह सुखा लेते हैं।

मढ़ाई (Threshing) : फसल की गहाई साफ फर्श पर लकड़ी से धीरे धीरे पीटकर जीरे के बीजों को अलग कर लेते हैं। दानों से मिट्टी हल्का कचरा व अन्य पदार्थ औसाई कर दूर कर लेते हैं तत्पश्चात् दानों की अच्छी प्रकार सुखाकर साफ बोरियों में भर लेते हैं।

उपज (Yield) : उपर्युक्त उन्नत कृषि विधियाँ अपनाने से 6 से 10 क्विंटल प्रति हैक्टेयर जीरे की उपज प्राप्त की जा सकती है।

धनिया (Coriander)

वानस्पतिक नाम –कोरिएन्ड्रम सेटाइवम लिन *(Coriandrum sativum Linn.)*

कुल – एपिएसी (Apiaceae)

महत्व (Importance) : धनिया एक बहुमूल्य बहुउपयोगी मसाले की फसल है। धनिया के बीज एवं पत्तियाँ भोजन को सुगंधित एवं स्वादिष्ट बनाने के काम आते हैं। धनिया बीज में बहुत अधिक औषधीय गुण है। इसके अलावा कई प्रकार के खाद्य पदार्थों, पेय पदार्थों, मद्यों एवं इत्र आदि में इसका प्रयोग होता है इसकी हरी पत्तियाँ प्रोटीन विटामिन 'ए' एवं विशिष्ठ प्रकार की खुशबूयुक्त होने के कारण चटनी व सलाद में प्रयोग की जाती है। इसके दानों में लीनोलीन व कोन्ड्रयोल नामक वाष्पशील तेल पाया जाता है जो भोज्य पदार्थों को स्वादिष्ट एवं सुगंधित बनाता है। भारतीय संस्कृति में धनिये का उपयोग मंगल कार्यों में किया जाता है। इसकी उत्पति भूमध्यसागरीय क्षेत्र में मानी जाती है। राजस्थान में धनिये की खेती कोटा, झालावाड़, बूंदी, सवाई माधोपरु, अलवर, चितौडगढ़, सीकर जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : धनिये की फसल के लिए शुष्क एवं ठंडा मौसम अनुकूल होता है बीजों का अंकुरण व वृद्धि 20°–25° सेल्सियस ताप पर अच्छी होती है फूल व दाना बनते समय पाला रहित स्वच्छ साफ मौसम अच्छा रहता है। धनिया को पाले से अधिक हानि होती है। फूल वृद्धि के समय लम्बे समय तक बादल छाये रहने पर कीट व रोगों का प्रकोप अधिक होता है।

मृदा (Soil) : धनिया की फसल के लिए पर्याप्त काबर्निक पदार्थयुक्त व जलनिकास युक्त दोमट मृदा श्रेष्ठ होती है काली भारी, या मटियार दोमट, बलुई दोमट भूमि में भी धनिया की खेती की जा सकती है मिट्टी की पी.एच. मान 6.5 से 7.5 होना चाहिए।

मृदा की तैयारी (Preparation of soil) : मृदा की किस्म के अनुसार 2–3 गहरी जुताई करके मिट्टी को भुरभुरी बना लेनी चाहिए। जुताई के तुरंत बाद पाटा चलाकर नमी को संरक्षित करें। दीमक या अन्य भूमिगत कीटों की रोकथाम हेतु अंतिम जुताई के समय एंडोसल्फान 4 प्रतिशत या क्यूनाल फॉस 1.5 प्रतिशत या मिथाइलपेराथियान 2 प्रतिशत चूर्ण 25 किग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से बुआई पूर्व खेत में मिलायें।

उपयुक्त उन्नत किस्में (Improved varieties) : हिंसार सुगंध, आर.सी.आर. 41, कुंभराज, आर.सी.आर. 435, आर. सी.आर. 436, आर.सी.आर. 446, जीसी 2 (गुजरात धनिया 2), आर.सी.आर. 684, पंत हरितमा, सिम्पो एस 33, जे.डी–1, ए.सी. आर. 1, सी.एस. 6, आर.सी.आर 480 ।

बीजदर (Seed rate) : सिंचित क्षेत्र में 15–20 किग्रा. प्रति हैक्टेयर तथा असिंचित क्षेत्र में 25–30 किग्रा. प्रति हैक्टेयर बीज की आवश्यकता होती है।

बीजोपचार (Seed treatment) : बुआई पूर्व बीजों को हाथ से दबाकर दो भागों में विभक्त कर लेते हैं विभाजित बीजों को कार्बेंडाजिम 1.5–2.0 ग्राम या कार्बेंडाजिम व थाइरस (1.5:1.5 ग्राम) 3 ग्राम या थाइरम 3 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करते हैं। बीज जनित रोगों से बचाव के लिए बीजों को स्टेप्टोमाइसिम 500 पी.पी.एम से उपचारित करना लाभदायक है। ट्राइकोडर्मा विरडी 5 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से भी बीज उपचारित करना लाभदायक है।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : उत्तरी भारत में अधिक पैदावार हेतु उपयुक्त समय 15 अक्टूबर से 15 नवम्बर है। हरे पत्ती की फसल के लिए अक्टूबर से दिसम्बर का समय बुआई के लिए उपयुक्त है।

धनिये की बुआई (Sowing of coriander) : तैयार खेत में क्यांरियां बनाकर छिटकवा विधि से की जाती है। अच्छी उपज के लिए एवं कम नमी वाले स्थान पर बुआई कतारों में 30 सेमी की दूरी पर करें तथा पौधे की दूरी 10 सेमी रखें, बुआई 3–4 सेमी गहराई पर करें। बुआई के बाद हल्की सिंचाई करनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manaure and fertilizer) : धनिये की अच्छी उपज के लिए बुआई से 3–4 सप्ताह पूर्व 10–15 टन गोबर की सड़ी हुई खाद या कम्पोस्ट प्रति हेक्टेयर की दर से जुताई कर खेत में मिलाएँ। सिंचित क्षेत्र के लिए 60 किग्रा. नाइट्रोजन 30 किग्रा. फॉस्फोरस व 20 किग्रा. पोटाश प्रति हेक्टेयर की दर से देना चाहिए। असिंचित क्षेत्र में 30 किग्रा.

नाइट्रोजन 30 किग्रा. फॉस्फोरस 20 किग्रा. पोटाश प्रति हेक्टेयर दर से बुआई के समय ऊरकर देना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : सिंचाई की कुल संख्या भूमि के प्रकार एवं मौसम पर निर्भर होती है भारी मिट्टी में लगभग 3–4 बार एवं हल्की भूमि में 5–6 बार सिंचाई करनी चाहिए।

अंतरा कृषि (Inter Cropping) : इसके लिए धनिये में दो तीन बार निराई गुड़ाई करनी चाहिए पहली निराई बुआई के 20–30 दिन बार दूसरी व तीसरी 20–25 दिनों के अंतराल पर करनी चाहिए। रासायनिक खरपतवार नियंत्रण हेतु पेण्डामिथालीन 1.0 किग्रा./प्रति हेक्टेयर की दर से 750 लीटर पानी में घोलकर अंकुरण पूर्व छिड़काव करें। अन्य खरपतवार नाशियों का जैसे – लिनूरान, आक्नोडियजात ब्रोवेमिल इत्यादि का प्रयोग करके भी खरपतवार नियंत्रण किया जा सकता है।

पादप संरक्षण (Plant protection) : धनिये की फसल में मोयला, कटवासूड़ी, बरूथी, बीजवेधक आदि कीटों व छाछियाँ, झुलसा, स्तंभ जीटिका, उखटा आदि रोगों का प्रकोप होता है।

कीट : मोयला/चैपा, वरूथी/माइट बीज बेधक कटवासूंडी आदि कीटों कें नियत्रण के लिए मेटासिसटाक्स या डायमिथोएट 1 मिली. प्रति लीटर पानी या एण्डोसल्फान 2 मिली. प्रति लीटर पानी की दर से 500 लीटर घोल का छिड़काव करें। आवश्यकता होने पर 15 दिन बाद पुनः छिड़काव करें अथवा एण्डोसल्फान 4 प्रतिशत चुर्ण 20–25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से खेत तैयारी कें समय जुताई करके मिलावें।

रोग (Disease) :

1. **उखटा/म्लानीविल्ट :** इसकी रोक थाम के लिये – 1. गर्मियों में गहरी जुताई करें। 2. उचित फसल चक्र अपनायें 3. नीम के तेल या गौमूत्र से बीज उपचारित करके बुआई करें। 4. थाइरम व कार्बेन्डाजिम (1.5ग्राम + 1.5 ग्राम) प्रति किग्रा. बीज की दर से बीज तैयार करें।
2. **छाछिया/चुर्णी फफूंद :** इस रोग के नियंत्रण हेतु गन्धक चुर्ण का 20–25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें अथवा फुलनशील गधंक 2 ग्राम कैराथेन एलसी 1 मिली. प्रतिलीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें। आवश्यकतानुसार 10–15 दिन में दोहरायें।
3. **झुलसा/अंगमारी/ब्लाइट :** नियंत्रण हेतु मैन्कोजेब 2 ग्राम प्रति लीटर पानी की दर से घोल बनाकर छिड़काव करें।
4. **स्तंभपीटिका/स्टेमगाल :** नियंत्रण के लिये थाइरम व कार्बेण्डाजिम (1.5 ग्राम+ 1.5 ग्राम) से बीज उपचार कर बुआई करे। लक्षण दिखाई देने पर फूल बनने से पहले बेलीटान 1 ग्राम प्रतिलीटर पानी या कार्बेण्डाजिम 1 ग्राम प्रति लीटर पानी का छिड़काव करें।

पाले से बचाव : फसल को पाले बहुत हानि को होती है। बचाव के लिये पाले पड़ने की संभावना होने पर –

1. रात्रि में हल्की सिंचाई करें।
2. खेत के चारो और धुआँ कर दें।
3. गौमूत्र 10 लीटर देशी गाय का मूत्र लेकर किसी पारदर्शी बर्तन (प्लास्टिक या काँच का) में रखकर 10–15 दिन धूप में रख कर आधा लीटर पानी में मिलाकर प्रयोग करें।
4. नीम का काड़ा – 25 किग्रा. नीम की हरी ताजा पत्ती तोड़कर कुचल कर पीस कर 50 लीटर पानी में पकावें जब पानी 20–25 लीटर रह जायें तब उतार कर ठण्डा करके आधा लीटर प्रति लीटर पानी मिलाकर प्रयोग करें।

कटाई (Harvesting) : धनिये की फसल किस्म व मौसम अनुसार 90–140 दिन में पककर तैयार हो जाती है। जब फूल आना बंद हो जाये और बीजों के गुच्छो का रंग भूरा हो जाये, कटाई कर लनी चाहिये। तत्पश्चात फसल को खलिहान में सुखाकर दानों को अलग कर लेते हैं। सूखने तक फसल को पलटते रहना चाहिये।

मढ़ाई (Threshing) : सुखी फसल को पक्के साफ खलिहानों में लकड़ी से धीरे–धीरे बीजों को अलग कर लिया जाता है। टूटे व खराब दानों का बाजार में दाम कम मिलते है।

उपज (Yield) : सिचित क्षेत्र 15–20 क्विंटल व असिंचित क्षेत्र में 6–8 क्विंटल प्रति हेक्टेयर धनिये के बीजों की उपज प्राप्त होती है।

मेथी (Fenugreek)

वानस्पतिक नाम –ट्राईगोनेला फोइनम ग्रेइकम (सामान्य मेथी)
(Trigonella foenum graecum)
ट्राईगोनेला कार्निकुलाटा (कसूरी मेथी)
(Trigonella carniculata)
कुल –फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : मेथी एक बहुद्देशीय दलहनी फसल हैं। जिसकी पत्तियों का उपयोग सब्जी तथा दानों का उपयोग मसाले और औषधि के रूप में किया जाता हैं। मेथी के सूखे दाने का प्रयोग मसाले के रूप में सब्जियों को छौंकने व बघारने, अचारों में एवं दवाईयों के निर्माण में किया जाता हैं। मेथी की उत्पति स्थान दक्षिण–पूर्वी यूरोप व दक्षिण पश्चिमी एशिया का भाग माना जाता है। राजस्थान में मेथी की खेती मुख्यतयाः जयपुर, सीकर, झालावाड़, चित्तौडगढ़, झुंझुनू ,अलवर, नागौर, कोटा जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : राजस्थान में इसकी खेती रबी मौसम में की जाती है। इसकी प्रारम्भिक वृद्धि के लिए कम तापमान तथा मध्यम आर्द्रता वाली जलवायु उपयुक्त रहती है। फसल के पकते समय शुष्क व ठण्डा मौसम उपयुक्त रहता है।

मृदा (Soil) : दोमट या बलुई दोमट मृदा उचित जल निकास वाली श्रेष्ठ मानी जाती है। भूमि का पी.एच.मान 6 से 7 होना चाहिए।

खेती की तैयारी (Field preparation) : मेथी की खेती के लिए एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 3–4 जुताई देशी हल या हैरो से करते हैं तथा पाटा लगाकर मिट्टी भुरभुरी कर लेते हैं।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : मेथी दो प्रकार की होती है।

1. साधारण मेथी (ट्राइगोनेला फोइनम ग्रइकम)
2. कसूरी मेथी (ट्राइगोनेला कार्निकुलाटा)

किस्में– आर.एम.टी.1, आर.एम.टी.143, को–1, राजेन्द्र क्रान्ति, गुजरात मेथी 2, हिसार सोनाली ।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : मेथी की खेती के लिए 20–25 किग्रा. बीज पर्याप्त है। कसूरी मेथी का 10 किग्रा. प्रति हेक्टेयर काम मे ले। बुआई से पूर्व बीजो को कार्बेण्डाजिम 2.0 ग्राम या एग्रोसन जी.एन. 2.0 ग्राम प्रति किग्रा. बीज दर से उपचारित करना चाहिए उसके पश्चात् बीजो को राइजोबियम व पी.सी.एम कल्चर से उपचारित करने से पौधो की वृद्धि अच्छी होती है।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : मैदानी क्षेत्र मे (उत्तरी भारत में) मध्य अक्टूबर से मध्य नवम्बर तक की जाती है। कतार से कतार 25–30 सेमी. व पौधों से पौधों की दूरी 10–12 सेमी. रखतें है। उचित अंकुरण के लिए बीज की गहराई 5 सेमीं से अधिक नही होनी चाहिए।

खाद एवं उवर्रक (Manure and fertilizer) : मेथी की अच्छी उपज के लिए 10–15 टन गोबर खाद या कम्पोस्ट खाद प्रति हेक्टेयर खेत की तैयारी के समय देवें। मेथी के खेत में नीम की पत्ती, तम्बाकू, धतूरा मिलाकर 15 दिन बाद बुआई करने से भी लाभ होता है।रासायिनिक खाद के रुप मे 20–25 किग्रा. नाइट्रोजन 30–40 किग्रा. फास्फोरस 20 किग्रा. पोटाश प्रति हैक्टर की दर से बुआई के समय उरकर देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : मेथी में 15–20 दिन के अन्तराल पर सिंचाई करनी चाहिए। फसल में फली व बीज बनना प्रारम्भ होने के बाद भूमि में नमी की कमी उपज को प्रभावित करती है।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : मेथी की फसल में खरपतवार नष्ट करने एवं उचित वायु संचार हेतु दो बार निराई गुड़ाई की आवश्यकता होती है। प्रथम निराई गुड़ाई बुआई के 15–20 दिन बाद व दूसरी 40–45 दिन बाद करनी चाहिए। रासायानिक खरपतवार नियंत्रण हेतु बुआई पूर्व 0.75 किग्रा. फ्लुक्लोरेलिन प्रति हैक्टेयर की दर से 700–800 लीटर पानी मे घोल कर छिड़काव कर भूमि में मिला दें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : रोग एवं कीट नियंत्रण – जड़गलन रोग के बचाव के लिए जैविक फफूँद नाशी ट्राईकोडर्मा से बीज उपचार एंव मृदा उपचार करना चाहिए। छाछिया/चूर्णी फंफूद रोग के लिए कार्बेन्डाजिम 0.1 प्रतिशत एंव घुलनशील गंधक की 0.2 प्रतिशत मात्रा का छिड़काव करना चाहिए। तुलासिता /झुलसा रोग की रोकथाम हेतु मैन्कोजेब या ताँबा युक्त फफूंद नाशी2 ग्राम प्रतिलीटर पानी के घोल का छिड़काव करें। चैपा/मोयला/माहू कीट का प्रकोप दिखाई देने पर 0.2 प्रतिशत डाइमेथोएट (रोगार) या इमिडाक्लोप्रिड 0.1 प्रतिशत घोल का छिड़काव करें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : सामान्यतः 4–5 कटाई नियमित अन्तराल पर की जाती है। दानों के लिए कटाई जब फसल पीली पड़ने लगे तथा अधिकांश पत्तियाँ ऊपरी पत्तियों को छोड़कर गिर जाये एवं फलियों का रंग पीला पड़ने लगे तो काट लेनी चाहिए। कटाई के बाद पौधों को बण्डलों में बाँधकर एक सप्ताह के लिए छाया मे सुखाया जाता हैं सूखने के बाद में बण्डलों को पक्के फर्श/तिरपाल पर रखकर लकड़ियों की सहायता से पीटा जाता है जिससे दाने फलियों से बाहर आ जाते हैं। इस काम के लिए थ्रेसर का उपयोग भी किया जा सकता है।

उपज (Yield) : उन्नत किस्मों से 50–70 क्विंटल हरी पत्तियाँ सब्जी के लिए एवं 15–20 क्विंटल दाने प्रति हेक्टेयर तक प्राप्त हो जाते है।

सौंफ (Fennel)
वानस्पतिक नाम –फौनिकुलम वल्गेर (*Foeniculum vulgare*)
कुल – एपिएसी (Apiaceae)

महत्व (Importance) : इसका उपयोग मसाले एवं औषधि के रूप में किया जाता है। सौंफ में वाष्पशील तेल के साथ–साथ चमक, रंग, व रेशा इसकी गुणवत्ता निर्धारण के घटक हैं। इसका प्रत्येक भाग खुशबूदार होता है और किसी न किसी काम आता है। सौंफ रूचिकार, मधुर सुगंध व स्वाद के कारण सौंफ के दाने पूरे या पीसकर सूप, अचार, सॉस, चॉकलेट आदि भोज्य पदार्थो में डालते हैं। सौंफ का उत्पति दक्षिणी यूरोप तथा भूमध्य सागरीय क्षेत्र माना जाता है।राजस्थान में सौंफ की खेती सिरोही, टोंक, जोधपुर, भरतपुर, पाली, अजमेर, भीलवाड़ा जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : शुष्क व ठण्डा मौसम सौंफ की खेती के लिए श्रेष्ठ रहता है। पाला फसल को हानि पहुँचाता है। सौफ के लिए 15^{o}–25^{o} सेल्सियस तापमान अच्छा रहता है।

मृदा (Soil) : सौंफ के लिए जीवांश पदार्थ युक्त, चूना युक्त दोमट, काली बलुई दोमट मृदा जिसमें जल निकास की पर्याप्त सुविधा हो श्रेष्ठ है।

खेत की तैयारी (Field preparation) : सौंफ की फसल के लिए एक गहरी जुताई एवं 3–4 जुताई हैरो से करके मिट्टी मुलायम व भुरभुरी कर लेनी चाहिए। तैयारी के समय खेत में पर्याप्त नमी न हो तो पलेवा देकर खेत तैयार करें।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : :–गुजरात सौंफ–1, आर.एफ 101, आर.एफ 125, आर.एफ. 143, पी.एफ 35, कोयम्बटूर 1 ।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : सौंफ की रोपण विधि से बुआई करने पर 3–4 किग्रा. प्रति हैक्टेयर तथा सीधी खेत में बुआई करने पर 8–10 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त है। बीजों को 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम या 3 ग्राम थाइरम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करना चाहिए। ट्राईकोडर्मा विरडी 4 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपाचारित करना लाभदायक होता है।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : रोपण विधि से बुआई करने के लिए जुलाई अगस्त में नर्सरी तैयार करते हैं। जब पौधा 40–50 दिन का हो जाता है तो सितम्बर माह में रोपाई कर देनी चाहिए। सौंफ की सीधी खेत में बुआई छिटकवाँ विधि व कतारों में करते हैं। कतारों में 45–60 सेमी. दूरी पर हुक की सहायता से कतार बनाकर 1–2 सेमी. गहराई पर बीज डालकर मिट्टी से ढक देते हैं।

रोपाई विधि (Transplanting method) : एक हेक्टेयर क्षेत्र के लिए 100 वर्गमीटर नर्सरी पर्याप्त होती है इसके लिए जून जुलाई में 4–5 किग्रा. बीज की बुआई करते हैं। पौधा 40–50 दिन का होने पर पूर्व तैयार भूमि में रोपाई कर देते हैं। नर्सरी से पौधे निकालते समय पौधे को कम से कम नुकसान हो तथा रोपाई सायं काल के समय करके तुरंत सिंचाई करनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : सौंफ की अच्छी उपज के लिए 10–15 टन गोबर की खाद/कम्पोस्ट प्रति हेक्टेयर बुआई से 3–4 सप्ताह पूर्व मिट्टी में जुताई कर मिला देना चाहिए। इसके अतिरिक्त 80–90 किग्रा. नाइट्रोजन, 30–40 किग्रा. फॉस्फोरस प्रति हेक्टेयर देने से उपज अच्छी होती है।

सिंचाई (Irrigation) : सौंफ दीर्घावधि में पकने वाली फसल है इसे अधिक सिंचाइयों की जरूरत होती हैं। पहली सिंचाई बुआई के तुरंत बाद करनी चाहिए, अंकुरण कम होने पर 7–10 दिन बाद पुनः हल्की सिंचाई करनी चाहिए। गर्मियों में 10–15 दिन व सर्दियों में 20–25 दिन के अन्तराल पर सिंचाई करनी चाहिए।

अन्तराकृषि (Inter cropping) : सौंफ की फसल में बुआई के एक माह बाद जब पौधे 4–5 सेमी. ऊँचाई के हो तब पहली निराई–गुड़ाई कर देनी चाहिए। उस समय कतारों में पौधें के बीच की दूरी 25–30 सेमी. कर लेनी चाहिए। सौंफ में 3–4 निराई गुड़ाई की आवश्यकता होती है, फूल आते समय या पूर्व में पौंधों पर मिट्टी चढ़ा देनी चाहिए।सौंफ में रासायनिक खरपतवार नियत्रंण हेतु बुआई के 1–2 दिन बाद पैंण्डिमिथाइलिन 1 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से 700 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करें। इसके बाद 1–2 निराई गुड़ाई कर समय–समय पर खरपतवार निकालते रहें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : सौंफ में प्रमुख रूप से मोयला/चैपा, थ्रिप्स व बरूथी कीटों का एवं झुलसा/अंगमारी छाछिया या चूर्णी फंफूद, जड़ व तना गलन तथा गून्दिया रोगों का प्रकोप होता है।

गून्दिया रोग (गमोसिस) इसमें रोग का आक्रमण पुष्पक्रमों पर होता है पुष्पक्रम से चिपचिपा गुन्दिया पदार्थ निकलता है नियंत्रण के लिए बीज उपचार करें तथा दीर्घकालीन फसल चक्र अपनायें।

अन्य कीट व रोग नियंत्रण धनियें की फसल की तरह करें।

कटाई (Harvesting) : सौंफ 170–180 दिनों में परिपक्व होती है। सौंफ के दाने गुच्छों में आते ही जब गुच्छों व दानों का रंग हरे से पीला होने लगे तो गुच्छों को तोड़ लेना चाहिए। गुच्छों को छायादार स्थान पर रस्सी बाँधकर उनपर लटका कर सुखाया जाता है।

मढ़ाई (Threshing) : छाया में अच्छी प्रकार सूखे गुच्छों को लकड़ी के डण्डे से पीट कर अलग कर के साफ करके बोरियों में भर लेते हैं और नमी रहित स्थान पर भण्डारण कर लेते हैं।

उपज (Yield) : सौंफ की उपज किस्मानुसार 18–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर तक प्राप्त की जा सकती है। औसत उपज 15–16 क्विटंल प्रतिहेक्टेयर प्राप्त होती है।

अभ्यास प्रश्न –

I. बहुचयनात्मक प्रश्न

1. सीधी बुआई हेतु धान की उपयुक्त किस्म है
   (अ) रतना (ब) बाला
   (स) बीके 79 (द) जया
2. मक्का का उत्पति स्थल है।
   (अ) भारत (ब) मेक्सिको
   (स) जापान (द) चीन
3. चेपा गुन्दिया रोग से बचने हेतु बाजरा के बीज को उपचारित करना चाहिए–
   (अ) थोरियम सल्फेट के 1: घोल से
   (ब) नमक के 20: घोल से
   (स) मैन्कोजेब के 2: घोल से
   (द) उपरोक्त सभी
4. निम्न में से गेहूँ की किस्में हैं –
   (अ) जया (ब) राज. 3077
   (स) सी.एस.एच.–5 (द) राजकिरण
5. अरहर की शुद्ध फसल के लिए प्रति हेक्टेयर बीज की मात्रा चाहिए ?
   (अ) 10 किलोग्राम (ब) 15 किलोग्राम
   (स) 20 किलोग्राम (द) 25 किलोग्राम
6. बायो–902 किस किस्म का दूसरा नाम है ?
   (अ) पूसा जय किसान (ब) वरूण
   (स) क्रान्ति (द) कृष्णा
7. रिजके में अमर बेल नियंत्रण हेतु कौनसा शाकनाशी का प्रयोग करते है ?
   (अ) 2–4 डी (ब) पेन्डीमिथालीन
   (स) पेरावेक्टर (द) ऐन्ट्राजीन
8. गन्ने की बुआई हेतु तने का कौनसा भाग बीज के रूप में काम लेना चाहिए ?
   (अ) उपरी एक तिहाई (ब)नीचे का एक तिहाई
   (स) मध्य भाग (द)इनमें से कोई नही
9. निम्न में से आलु की सुषुप्तावस्था दूर करने के काम आने वाला रसायन है ।
   (अ) यूरिया (ब) थायो यूरिया
   (स) ऐगलॉल (द) ऐरीटॉन
10. हरी खाद के लिए सनई की बीजदर (किलोग्राम प्रति हेक्टेयर) है–
    (अ) 90–100 (ब) 60–75
    (स) 50–60 (द) 40–45
11. जीरे में जीरी खरपतवार के नियंत्रण हेतु काम लेते है–
    (अ) एट्राजीन (ब) साइमाजीन
    (स) डाइक्वेट (द) फ्लूक्लोरीन
12. निम्न में से मेथी की किस्म है–
    (अ) आर.सी.आर–20 (ब) आर.एम.टी 143
    (स) आर.एफ–101 (द) आर.एफ–125
13. मूंगफली में प्रोटीन की मात्रा पाई जाती है।
    (अ) 10 प्रतिशत (ब) 15 प्रतिशत
    (स) 20 प्रतिशत (द) 27 प्रतिशत
14. प्रताप (सी.50)किस्म है–
    (अ) मूँगफली (ब) तिल
    (स) मूंग (द) धान
15. बरसीम के बीजो में कौनसी खरपतवार के बीज पाये जाते है–
    (अ) हिरणखुरी (ब) कासनी
    (स) बथुआ (द) अमरबेल

II. अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

16. डेपोग विधि कहाँ से विकासित की गई है ?
17. ज्वार की बीजदर लिखिये ।
18. जौ की फसल हेतु बोने का उपयुक्त समय लिखिये।
19. मूंग में प्रोटीन की प्रतिशत मात्रा लिखिये।
20. सोयाबीन की बुआई का उपयुक्त समय लिखिये।

21. तिल के बीज में तेल की मात्रा कितनी होती है ?
22. सूरजमुखी का एक औषधीय गुण लिखिए।
23. सूरजमुखी की प्रति हेक्टेयर उपज लिखिये।
24. रिजका में फास्फोरस तत्व कितनी मात्रा में उपयोग किया जाता है ?
25. केन्द्रीय आलू अनुसंधान संस्थान कहाँ स्थित है ?
26. ग्वार का वानस्पतिक नाम लिखिए ।
27. देसी कपास कि पाँच किस्मों के नाम लिखिए।
28. सनई किस कुल का पौधा है ?
29. मक्का की संकर किस्मों के नाम लिखिये।
30. बाजरे की उपज लिखिये।
31. धनिये की कटाई कब करते हैं ?
32. सौंफ की औसत उपज लिखिये।
33. बजरा की फसल में होने वाले दो रोगों के नाम व रोकथाम लिखिए।
34. मोठ का मुख्य रोग कौन सा है ?
35. चने की फसल में चुटाई का महत्व लिखिए।

III. लघूत्तरात्मक प्रश्न

36. मक्का के विभिन्न उपयोग लिखो ।
37. ज्वार का छोटी अवस्था का पौधा विषैला क्यों हो जाता है?
38. सफेद लट की रोकथाम कैसे करेंगे ?
39. गेहूँ में गुल्ली डण्डा व जंगली जई का नियंत्रण कैसे करेंगे?
40. उड़द का बीजोपचार लिखिये।
41. मोठ की विभिन्न उन्नत किस्मों के नाम बताइये।
42. चने में फली छेदक के नियंत्रण के उपाय लिखिये।
43. सोयाबीन का मानव के लिये उपयोग बताइये।
44. गुच्छें दार व विस्तारी किस्मों में अंतर लिखिये ?
45. सरसों की फसल में खरपतवारों की रोकथाम कैसे करेंगे?
46. बरसीम के बीजोपचार का वर्णन कीजिये।
47. कपास की चुनाई कैसे व कब करनी चाहिए ?
48. सरसों की बीज दर लिखिये।
49. सूरजमुखी का तेल हृदय रोगियों के लिए क्यों उपयोगी है?
50. धान मे खेरा नामक रोग के कारण व निवारण के बारे में लिखिये।
51. जीरे की उन्नत किस्मों के नाम लिखिये।
52. धनिये के महत्व का विवरण लिखिये ।
53. मेथी की उन्नत किस्मों के नाम लिखिये।
54. सौंफ के महत्व का विवरण लिखिये।
55. मूंग मे छाछिया रोग के लक्षण एवं रोकथाम के उपाय लिखिये।

IV. निबन्धात्मक प्रश्न

56. गेहूँ की खेती का वर्णन निम्न शीर्षकों के आधार पर कीजिये।
    (अ) जलवायु (ब) उन्नतशील किस्में
    (स) बीजदर एवं बुआई (द) खाद एवं उर्वरक
57. गन्ने की उन्नत खेती का वर्णन निम्न बिन्दुओं के आधार पर कीजिये।
    (अ) जलवायु
    (ब) भूमि एवं भूमि की तैयारी
    (स) उन्नत किस्में
    (द) बीज मात्रा एवं उपचार
    (य) बुआई समय एवं विधि
    (र) खाद एवं उर्वरक की मात्रा एवं प्रयोग विधि
58. आलू की उन्नत खेती का वर्णन निम्न बिन्दुओं के आधार पर कीजिये।
    (अ) चार उन्नतशील किस्में
    (ब) बुआई समय एवं विधि
    (स) खाद एवं उर्वरक
    (द)सिंचाई
    (य) खुदाई तथा उपज प्रति हेक्टेयर
59. कपास की खेती का वर्णन निम्न बिन्दुओं के आधार पर कीजिए ।
    (अ) वर्गीकरण (ब) जलवायु
    (स) बीजोपचार (द) बुआई का समय व विधि
60. चने की खेती का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।
61. सरसों की खेती का वर्णन निम्न बिन्दुओं के आधार पर कीजिये ।
    (अ) उन्नतशील किस्में
    (ब) बीजदर एवं बीजोपचार
    (स) खाद एवं उर्वरक
    (द) पादप संरक्षण
    (य) कटाई एवं उपज

उत्तरमाला

1.(ब) 2.(ब) 3.(ब). 4.(ब) 5.(ब) 6.(अ) 7.(ब) 8.(अ) 9.(ब) 10.(अ)
11.(द) 12.(ब) 13.(द) 14.(ब) 15.(ब)